वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

63412

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४३ : कि० १ जनवरी-मार्च १९९०

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	मुनिवर-स्तुति	१
२.	प्रद्युम्न चरित मे उपलब्ध राजनैतिक सन्दर्भ — डा० श्रीमती विद्यावती जैन	२
३.	ईसामसीह और जैनधर्म जस्टिस एम० एल० जैन	६
४.	निर्विकल्पता का विचार डॉ० सुपार्श्व कुमार जैन	८
५.	पं० नाथूराम प्रेमी का साहित्यिक अवदान —श्री मुन्नालाल जैन	१०
६.	महाराष्ट्र में जैन धर्म—डॉ० भागचन्द भास्कर	१२
७.	संस्कृत जैन काव्य शास्त्री और उनके ग्रन्थ —डॉ० कपूरचन्द जैन खतौली	१८
८.	शुद्धि पत्र—धवलापु० ३—पं० जवाहरलाल शास्त्री	२२
९.	अज्ञात जैन कवि हरिसिंह की रचनाएं —डा० गंगाराम गर्ग	२५
१०.	कुछ स्मृतियाँ—सम्पादक	२७
११.	'निष्काम साधक' —डा० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया	३१
१२.	परिग्रही को आत्म-दर्शन कहाँ? —संपादक	आवरण २

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

परिग्रही को आत्मदर्शन कहाँ ?

वे बोले—"आत्मा के निकटस्थ पुरुष—जिनको शुद्ध-सिद्धत्व और अरहन्तादि पद की लब्धि संनिकट होती है, वे निःसन्देह ही पुण्यात्मा होते है। शास्त्रो में उल्लिखित मोक्षप्राप्त महापुरुष तीर्थंकरादि भी इसमे प्रमाण है। तद्धव मोक्षगामी महापुरुषो के वैभवशाली सुख-समृद्ध घरानों मे उत्पन्न होने के अनेकों कथानक है। आज लोक में भी तदनुरूप देखने मे आ रहा है कि अधिकाशतः पुण्योदयी और धन-वैभव संपन्न व्यक्ति ही आत्म-चर्चा के रसिक परिलक्षित होते हैं और यह बात जँचती भी है। क्योंकि अभाव-ग्रस्त जनसाधारण के वश की बात नही कि वह आत्मचर्चा कर सके। और आज के इस अर्थ-युग मे तो ऐसा सर्वथा ही दुःसाध्य है। क्योंकि जन साधारण को तो जीवनोपयोगी सामग्री जुटाने की चिन्ता ही व्याकुल बनाए रहती है। उन्हें आत्मचिन्तन के लिए समय और निश्चिन्तता ही कहां ? जो उधर मुड सकें। हां, जिन गृहस्थो को पुण्योदय से 'रोटी-कपडा और मकान' आदि की चिंता न हो—जिन्हे खाद्यरूप यथेच्छ फलादि और अन्य व्यंजन उपलब्ध हो, भांति-भांति के ढेर से वस्त्र-ग्राभूषणादि उपलब्ध हो और जो धन-वैभव के रूप मे प्रभूत बैंक-बैलेन्स और अनेक भवनो, जमीन-जायदादों के स्वामी हो, वे चाहें तो (दैनिक ग्रावश्यकता पूर्तियो की चिन्ता से मुक्त होने के कारण) आत्मचर्चा मे लग सकते है। फलतः आज जो हो रहा है, अनुकूल ही हो रहा है—**'वैभव वाले ग्रात्मार्थी है और वैभवहीन विभव-संचय के चक्कर में।'"**

पर, हमारे विचार से बात कुछ और ही है। जैन दर्शन मे आत्मचर्चा और ग्रात्मचिन्तन मे व्यक्ति के विशेष या साधारण होने या न होने को वैसी प्रमुखता नही दी गई जैसी प्रमुखता उसकी परिग्रह-हीनता, परिग्रह मे निःस्पृहता परिग्रह मे निर्लिप्तता को। **जिन-आगम में तो वीतरागता की ग्रोर बढ़ने वालों को ही ग्रात्म-दर्शन का ग्रधिकार दिया गया है।** कही भी ऐसा कथन नही है कि कोई व्यक्ति अन्तरग या बाह्य परिग्रहो को जकड कर पकडे रहा हो और आत्म-दृष्टा बना हो। स्वय ससार के साधन जुटाना और स्वप्न आत्मा के देखना-दिखाना यह तो सरासर धोखा और बेईमानी ही होगी।

माना, कि तीर्थंकरादि पुण्यपुरुष विभूति-संपन्न थे। पर, जैसा इकतरफा सोचा जाता है वैसा तो नही है। अन्यों की दृष्टि मे तीर्थंकर आदि भले ही बाह्य मे वैभवशाली रहे हो, वे स्वय मे तो उस विभूति से निःस्पृही ही थे और प्रतीत भी वैसे ही होते थे। जबकि आज के अधिकाश विभूतिधारी बाह्य और अन्तरंग दोनो ही रूपो मे विभूति-प्रिय देखे और अनुभव किए जा रहे हैं। जब तीर्थंकरादि परिग्रह से दूर हटते गए तब अधिकांशत. ग्राज के लोग परिग्रह को आत्मसात् किए आत्मा को देखने की बाते किए जा रहे है। कुछ लोगो ने तो आत्म-चर्चा को बढ़ावा देने का बहाना बना धर्म-प्रचार के नाम पर अर्थ अर्जन कर ऊँचे-ऊँचे विस्तृत विशाल भवन तक निर्माण करा उनका आधिपत्य तक स्वीकार कर लिया हो—मठाधीश जैसे बन गए हो। उन्होने आगमो की नई-नई व्याख्याएँ रच दी हो तब भी आश्चर्य नही। भला, ये कैसा आत्म-दर्शन ? चेली-चेला बनाकर अपने 'अह' को पोषण देना तो आम बात हो गई है।

लोग कहते है कि पैसे के बिना कोई काम नहीं होता। शायद, आज तो पूजा-पाठ, पचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ आदि भी अधिकांशत. मूर्तियो की अपेक्षा पैसो के द्वारा 'अह' पोषण की अधिक हो रही हैं—वैभव प्रदर्शन भी इसी मे अन्तर्हित है। पर, हमारा मानना है कि शुद्ध आत्मचर्चा का आनन्द और आत्मदर्शन ये दो काम ऐसे है जो वैभव की बढवारी या लीनता मे बिगडते है। ये दोनों कार्य संपन्न हो सकें इसीलिए तीर्थंकरोंवत् बारह भावनाओं का चितवन कर, पर से ममत्व त्याग, दिगम्बरत्व धारण करने का उपदेश दिया गया है। फलतः—जो लोग पहिले क्रमशः स्वय अन्तरग-बहिरग परिग्रहो के त्यागरूप दिगम्बरत्व की ओर बढ़े, वे ही आत्मदर्शन और आत्मोपलब्धि की बातें करे।

स्मरण रहे कि अपरिग्रह ही जैन का दूसरा नाम है। बिना स्वय ग्रपरिग्रह की ओर बढ़े धर्म के किसी एक अग का भी पालन नही हो सकता और ना ही किसी वाचन का किसी पर असर हो सकता है। क्योकि आत्मदर्शन तो ग्रनुपम और दुःसाध्य कार्य है। आज के साधुओं तक को भी परिग्रही-वृ[illegible] होने से आत्मदर्शन नही हो रहा—वे भी दुनियादारी मे फँसे है— सभी नहीं तो अधिकाश। फिर गृहस्थो की बात तो दूर की है। तथा परिग्रह को कसकर पकड़े लोगों को 'सम्यग्दर्शन प्राप्त करो' और 'आत्मा को देखो' जैसे उपदेश का तो तुक ही कहां ?

—**सम्पादक**

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४३ किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१६, वि० सं० २०४७ | जनवरी-मार्च १९९०

मुनिवर-स्तुति

कबधौं मिलै मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो ।
भोग उदास जोग जिन लीनो, छांड़ि परिग्रह भारा हो ।।
इन्द्रिय-दमन नमन मद कीनो, विषय कषाय निवारा हो ।
कंचन-कांच बराबर जिनके, निन्दक बंदक सारा हो ।
दुर्धर-तप तपि सम्यक् निज घर, मन-वच-तन कर धारा हो ।।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतल ठारा हो ।
करुणा भीन, चीन त्रस-थावर, ईर्या पंथ समारा हो ।।
मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महाबल टारा हो ।
मास छमास उपास, बास बन, प्रासुक करत अहारा हो ।।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो ।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो ।।
आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो ।
'दौलत' ऐसे जैन जतिन को, नितप्रति धोक हमारा हो ।।

प्रद्युम्नचरित में उपलब्ध राजनैतिक-सन्दर्भ

□ डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन

पज्जुण्ण चरिउ (प्रद्युम्नचरित) तेरहवीं सदी के अन्तिम चरण का एक पौराणिक महाकाव्य है, जो अद्यावधि अप्रकाशित है। उसमें महाभारत के एक यशस्वी, तेजस्वी वीर-पुरुष-प्रद्युम्न के चरित का मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है। उसके मूल लेखक महाकवि सिद्ध हैं। कुछ दैविक विपदाओं के कारण इस रचना के कुछ अंश नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के कारण सिद्ध कवि के सम्भवतः सतीर्थ्य-महाकवि सिंह ने अपने गुरु के आदेश से उसका पुनरुद्धार, पुनर्लेखन एवं संशोधन-कार्य किया था। इस कारण वह ग्रन्थ परवर्तीकालोंमें महाकवि सिंह द्वारा विरचित मान लिया गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपभ्रंश-भाषा अथवा पुरातन-हिन्दी की एक अनूठी कृति है। उसे अपभ्रंश पुरातन हिन्दी की महाकाव्य शैली में लिखित सर्वप्रथम स्वतन्त्र रचना मानी जा सकती है। भाषा, शैली एवं परवर्ती-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों के मूल-स्रोत तो प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध है ही, १३वीं सदी की विभिन्न राजनैतिक, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एव धार्मिक परिस्थितियों की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसमे कुल १५ सन्धियाँ एवं ३०६ कडवक है। यहाँ उक्त ग्रन्थ के सभी पक्षों पर स्थानाभाव के कारण प्रकाश डालना तो सम्भव नही, किन्तु जो प्रासगिक राजनैतिक सन्दर्भ उसमे उपलब्ध हैं, उन पर सक्षेप मे विचार किया जा रहा है।

जैसा कि महाभारत के कथानक से भी स्पष्ट है कि युग पुरुष प्रद्युम्न, जो कि "प्रद्युम्नचरित" का भी प्रधान नायक है, दुर्भाग्य से अपने जन्म-काल से ही अपहृत होकर युवा-जीवन के दीर्घकाल तक संघर्षों से जूझता हुआ इधर-उधर भटकता रहा। कवि सिद्धसिंह ने इसका बहुत ही मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। इस कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रद्युम्न के सघर्षों एव युद्धों की विस्तृत चर्चा हुई है। प्रसंग-प्राप्त-अवसरों पर जिन राजनैतिक तथ्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

१. शासक-भेद,

२. राज्य के प्रमुख अंग, एवं, ३. युद्ध।

१. शासक-भेद

राजा-प्रभुसत्ता में हीनाधिकता के कारण राजाओं की परिभाषा में आचार्यों ने अनेक भेद-प्रभेद किए हैं। इस दृष्टि से प्रद्युम्नचरित मे शासकों के लिए विभिन्न प्रसंगो मे चक्रवर्ती[1], अर्द्धचक्रवर्ती,[2] माण्डलिक,[3] नराधिप,[4] नरनाथ,[5] नरपति,[6] एवं नरेन्द्र[7] जैसे विशेषणो के प्रयोग किए गए है।

आदिपुराण[8] के अनुसार चक्रवर्ती उस शासक को कहते है, जो पृथिवी के छह खण्डो का अधिपति होता था और जिसके अधीनस्थ बत्तीस हजार राजा होते थे। कवि सिद्ध ने भी चक्रवर्ती की यही परिभाषा दी है[9] तथा पोदनपुर नरेश को चक्रवर्ती[10] एव महाराज श्रीकृष्ण को अर्द्धचक्रवर्ती के नाम से अभिहित किया है। अर्द्धचक्रवर्ती को उन्होंने तीन-खण्डो का अधिपति बतलाया है।[11] कवि द्वारा प्रयुक्त नराधिप, नरपति, नरनाथ, नरेन्द्र एव राजा शब्द पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। कवि द्वारा वर्णित शासको के निम्नकार्यों पर प्रकाश पडता है—

१. शत्रु-राजाओं को पराजित करके भी वे उन्हें क्षमा प्रदान कर देते थे।[12]

२. विशेष परिस्थितियो में वे परनारियों का अपहरण भी कर लेते थे।[13]

३. विजेता राजा अपने अधीनस्थ राजाओ को विजयोत्सव के समय पर आदेश भेजकर बुलाता था।[14]

४. प्रजा-कल्याण एव राज्य की समृद्धि तथा यश के लिए उपयोगी कार्य करते थे।

२. माण्डलिक :

महाकवि जिनसेन[15] ने उस शासक को माण्डलिक कहा है, जिसके अधीन ४०० राजा रहते थे। किन्तु आगे चलकर सम्भवतः यह परम्परा बदल गई और माण्डलिक उस शासक को कहा जाने लगा, जो किसी सम्राट या अधिपति के अधीन रहकर किसी मण्डल-विशेष अथवा एक छोटे प्रान्त के शासक के रूप में काम करता था।

कवि सिद्ध ने माण्डलिक को भृत्य कहा है।[16] इसका

तात्पर्य यही है, कि वह किसी बड़े शासक द्वारा नियुक्त किया जाता था, जो उसके राज्य के प्रदेशविशेष का एक शासक के रूप में यथानिर्देशानुसार कार्य किया करता तथा सुनिश्चित शर्तों के अनुसार जिसे भुगतान मिलता था महाकवि सिद्ध न अपनी आद्य-प्रशस्ति मे "भुल्लण" को बम्हणवाडपट्टन का भृत्य कहा है, जो बल्लाल-नरेश का एक माण्डलिक था प्रद्युम्नचरित में वटपुर के राजा कनकरथ को भी कवि ने माण्डलिक[17] कहा है।

३. सामन्त

कवि ने प्रद्युम्नचरित में सामन्त[18] शब्द का उल्लेख किया है. जो शासकों की सम्भवत: एक बहुत छोटी इकाई थी। कवि सिद्ध ने सामन्तो का जिस ढग से वर्णन किया है, उससे निम्न तथ्यो पर प्रकाश पड़ता है—

१. सामन्तगण अपने अधिपति राजा के आज्ञापालक होते थे।[19]

२. वे अपने राजाओं के इतने पराधीन रहते थे कि मांगे जाने पर अपनी रानियो को भी उन्हें समर्पित करने की बाध्य हो जाते थे[20] तथा,

३. मनोनुकूल कार्य करने पर अधिपति राजा विशेष अवसरों पर उन्हें वस्त्राभूषण प्रदान कर सम्मानित भी करते थे।[21]

राज्य के अङ्ग

१. मन्त्री—मानसोल्लास[22] मे राज्य के ७ अगों मे से अमात्य अथवा मंत्री को प्रमुख स्थान दिया गया है। महाकवि विबुध श्रीधर (१२वीं सदी) ने अमात्य को स्वगपिवर्ग के नियमों को जाननेवाला,[23] स्पष्टवक्ता,[24] नयनीति का ज्ञाता,[25] वाग्मी,[26] महामति,[27] सद्गुणों की खान,[28] धर्मात्मा,[29] सभी कार्यों मे दक्ष.[30] सक्षम[31] एवं वीर[32] कहा है।

कविसिद्ध ने भी अमात्य के इन्ही गुणो को प्रकाशित किया है।[33] प्रद्युम्नचरित में उल्लिखित ऐसे अमात्यो अथवा मन्त्रियों मे सुमति नामक एक मन्त्री का नाम उल्लेखनीय है।[34]

२. सेनापति—युद्ध-प्रसंगों मे कवि सिद्ध ने सेनापति[35] का विशेष रूप से उल्लेख किया है। क्योंकि युद्ध मे उसका विशेष महत्त्व होता है। जय अथवा विजय उसीकी कुशलता, चतुराई, दूरदर्शिता एवं मनोवैज्ञानिकता पर निर्भर करती है। इस कारण राजा किसी अनुभवी एव परमविश्वस्त योद्धा को ही सेनापति नियुक्त करता था और सम्भवत: उसे अमात्य की श्रेणी का सम्मान दिया जाता था। युद्ध के पूर्व राजा मन्त्रियों के साथ-साथ सेनापति से सलाह लेकर ही युद्ध की घोषणा करता था। कवि ने सेनापतियों के नामों के उल्लेख नही किये, किन्तु युद्धप्रसगों में उसने सेनापतियों को पर्याप्त महत्त्व दिया है।[36]

३. तलवर—राज्य मे शान्ति एवं शासन-व्यवस्था बनाए रखने के लिए तलवर के पद को महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। वह राजा का विश्वास-पात्र होता था। प्रद्युम्नचरित के उल्लेखों से ध्वनित होता है कि उसकी सलाह के अनुसार ही राजा किसी को दण्डित करने अथवा पुरस्कृत करने का अपना अन्तिम निर्णय करता था।[37]

प्रद्युम्नचरित के एक प्रसग के अनुसार परदारागमन करने वाले एक व्यक्ति को पकड़कर जब तलवर उसे राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता है, तब राजा उसे उसी क्षण शूली पर लटका देने का सीधा आदेश दे देता है[38] आजकल के आरक्षी महानिदेशक से उक्त तलवर की तुलना की जा सकती है।

४. दूत—राज्य के हित मे शासक विदेशों से सांस्कृतिक अथवा सौजन्यपूर्ण सम्बन्ध रखने के लिए विविध प्रकार के दूतो की नियुक्ति करता था। प्राचीन-साहित्य मे वर्णित दूतो में निम्नप्रकार के गुणों का होना अनिवार्य था।[39]

१. **व्यक्तिगत गुण**—मनोहरता, सुन्दरता, आतिथ्य-भावना, निर्भीकता, वाक्पटुता, शालीनता, तीव्र-स्मरण शक्ति एवं प्रभावशाली वक्तृत्व-शक्ति।

२. **सन्धिवार्त्ता से सम्बद्धगुण**-कुशल सूझ-बूझ, शान्ति, धैर्यवृत्ति एव प्रत्युत्पन्नमतित्व।

३. **सुविज्ञता**—विविध भाषाओं का ज्ञान, परिग्राहक राष्ट्र की प्रथाओ एव परम्पराओं से परिचय आदि।

४. **अपने शासक के प्रति मनोवृत्तियां यथा**—निष्ठा, देशभक्ति, आज्ञाकारिता आदि।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र मे तीन प्रकार के दूत बतलाए गए है—(१) निसृष्टार्थ (२) परमितार्थ एवं (३) शासनहर।[40]

कवि सिद्ध ने इनमें से शासनहर नामक दूत का उल्लेख किया है। इस कोटि के दूत आवश्यकता पड़ने पर शत्रुदेश के प्रमुख राजपुरुषों से येनकेन-प्रकारेण सम्बन्ध जोड़कर उनकी अन्तरंग बातों की जानकारी प्राप्त करने के प्रयत्न किया करते थे, साथ ही, वे राजा के गुप्त-संदेशों को भी यत्र-तत्र प्रेषित किया करते थे।

प्रद्युम्नचरित मे उल्लिखित दूत राजा मधु का सदेश लेकर उसके शत्रु शाकम्भरी नरेश-राजा भीम के पास इस उद्देश्य से पहुंचता है कि निरपराध सैनिको की हत्या के पूर्व ही यदि दोनों पक्षों में शान्ति-समझौता हो सके, तो उत्तम है कवि ने उसका वर्णन निम्नप्रकार किया है :—

"वह दूत राजा भीम के पास इस प्रकार पहुंचा-मानों रौद्रसमुद्र मे से मकर ही उछल पड़ा हो।[४१]"

विवाह का निमन्त्रण भी दूत के द्वारा ही भेजा जाता था। उसे कवि ने "कक्कारा"(—वर्त्तमान हल्कारा) कहा है।[४२] इसी प्रकार दुर्योधन ने भी कृष्ण के पास जिस व्यक्ति के द्वारा अपना लेख-पत्र भेजा, उसे कवि ने लेख[४३] धारी के नाम से अभिहित किया है। विशेषण कुछ भी हो, वस्तुत: वे सभी "शासनहर दूत" की कोटि के ही दूत हैं।

३. कवि का सैन्य-प्रचार एवं युद्ध-विद्या सम्बन्धी ज्ञान :

कवि सिद्ध ने प्रद्युम्नचरित में युद्ध वर्णन के प्रसंगो में विविध प्रकार की शब्दावलियों के प्रयोग किए हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वह युद्ध-विद्या का अच्छा ज्ञाता था। उसकी शब्दावलियों में से अच्छोह,[४४] कटक,[४५] सण्णाह,[४६] कण्णिय,[४७] सडंगु[४८], खन्धावार,[४९] चतुरगिणी सेना,[५०] एवं चमु[५१] के प्रयोग प्रभु[त] है। कृष्ण एवं शिशुपाल[५२]-युद्ध, राजामधु एवं भीम-युद्ध,[५३] प्रद्युम्न एवं कालसबर-युद्ध,[५४] तथा प्रद्युम्न एवं कृष्ण के युद्ध[५५] वर्णनों से भी हमारे उपर्युक्त अनुमान का समर्थन होता है।

शस्त्रास्त्र—अनादिकाल से मानव अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए विविध प्रकार के संघर्षों को करता आया है सम्भवत: इसलिए नृतत्वशास्त्र की एक परिभाषा के अनुसार हथियारो के विधिवत् प्रयोग करने वाले को "मानव" कहा गया है। सिन्धुघाटी में जब खुदाई की गई तो उसमें विविध प्रकार के आभूषण आलेख, मुहरें एवं भवन सम्बन्धी सामग्री के साथ-साथ विविध प्रकार के हथियारों की भी उपलब्धि हुई है, इससे हथियारों की प्राचीनता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

वैदिक-काल में धनुर्विद्या को अत्यधिक महत्व दिया गया है, इसलिए उसे धनुर्वेद की संज्ञा प्रदान की गई। उसी समय से लोहे के प्रयोग के उदाहरण भी मिलते हैं। वहां धनुष को कोदण्ड सारंग, इषु एवं कार्मुक जैसे नामों से सम्बोधित किया गया है। इतना ही नहीं, उसके 'इषु-कृत' एवं 'इषुकार' जैसे शब्द-प्रयोगों से भी पता चलता है कि उस समय धनुष-वाणों के निर्माण करने सम्बन्धी उद्योग-धन्धे भी पर्याप्त-मात्रा में प्रचलित हो गए थे।

यूनान के सुप्रसिद्ध इतिहासकार "हेरोडोटस" ने लिखा है कि ई० पू० ५वीं सदी मे फारस की सेना में भारतीयों का भी एक दल सम्मिलित था, जो धनुषवाण चलाने मे अत्यन्त कुशल माना जाता था।[५६] कौटिल्य ने वाणो के साथ अन्य अनेक हथियारो के भी उल्लेख किए है। महाभारत, जो कि युद्ध-विद्या का एक महान ऐतिहासिक ग्रन्थ-रत्न है, उसमें भिन्दिपाल, शक्ति, तोमर, नालिका जैसे अनेक हथियारों के उल्लेख मिलते हैं। शस्त्रास्त्रो की यह परम्परा परवर्त्तीकालों मे उत्तरोत्तर विकसित होती रही।

कवि सिद्ध ने सम्भवत: पूर्व-साहित्यावलोकन तो किया ही, साथ ही उसे समकालीन प्रचलित युद्ध-सामग्री की भी जानकारी थी, क्योंकि प्रद्युम्नचरित मे कवि ने प्राच्य-कालीन युद्ध-सामग्री के साथ-साथ समकालीन अनेक शस्त्रास्त्रों के उल्लेख लिए हैं। विविध बाणों, सिद्धियों एवं विद्याओं के प्रकार भी उसमें उल्लिखित हैं। इनकी वर्गीकृत सूची यहां प्रस्तुत की जा रही है।

चुमनेवाले हथियार—खुरूप[५७], कुन्त[५८], बल्लभ[५९], भाला[६०]।

काटने वाले हथियार—खड्ग[६१], रथांगचक्र[६२], चक्र[६३]।

चूर-चूरकर डालने वाले हथियार—शैल[६४], सब्बल[६५], शूल[६६], मुद्गर[६७], घन[६८]।

दूर से फेंके जाने वाले अस्त्र—मोहनास्त्र[६९] दिव्यास्त्र[७०]

आग्नेयास्त्र[81], वारुणास्त्र[82], गिरिदुअस्त्र[83], तमप्रसार[84], नागपाश[85], हूल्प्रहरणास्त्र[86], प्रहरणास्त्र[87]।

विविध प्रकार के बाण—पचाणणुवाण[88], घोरणिवाण[89], कणयबाण[90], शुक्लबाण[91], दिव्य-धनुष[92], इक्षुकोदड[93], मुसुंढि[94]।

देवी-सिद्धियां :

विद्याएं—प्रज्ञाप्तिविद्या[95], गृहकारिणी-विद्या[96], सैन्यकारिणी-विद्या[97], जयसारी-विद्या[98], इन्द्रजालविद्या[99], आलोचनी-विद्या[100]।

शक्तियाँ—तीन बुद्धिया एवं तीन शक्तियां[101] कवि ने इनके नामों के उल्लेख नही किए हैं।

इस प्रकार यहा प्रद्युम्नचरित के कुछ राजनैतिक सन्दर्भों को उदाहरणार्थ किया गया। कवि ने समकालीन परिस्थितियों को ध्यान मे रखकर उनका अपनी कृति मे प्रयोग किया है। उनके आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों का विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है।

सन्दर्भ-सूची

१. पज्जुण्णचरिउ, ४।१०।१४ २. वही, १०।१६।५
३. वही, ६।११।१ ४. वही, १४।५।५
५. वही, १४।५।११ ६. वही, १३।५।१४
७. वही, १३।५।१४ ८. आदिमपुराण, ६।१६६
९. प० च० ४।१०।१४ १०. वही, ४।१०।१४
११. वही, १०।१६।५ १२. वही, १।१२।१०
१३. वही, ६।१६।३ १४. पज्जुण्णचरिउ ६।१६।१०
१५ पज्जुण्णचरिउ, ६।१६।११ १६. आदि पुराण,
१७. पज्जुण्णचरिउ १।४।१० १८. वही, ६।११।६
१९. वही, ६।१०।४, ६।१४।५, ६।१८।१
२०. पज्जुण्णचरिउ ६।१८।१ २१. वही, ६।१८।९-१०
२२. वही, ६।१८।३-४ २३. मानतोल्लास, अनुक्रम २०
२४. वड्ढमाणचरिउ, ३।७।६ २५. वही, ३।७।१४
२६. वही, ३।८।५ २७. वही, ३।९।१२
२८. वही, ३।९।१२ २९. वही, ३।९।१३
३०. वही, ३।१२।११ ३१. वही, ३।१२।९
३२. वही, ३।१२।११ ३३. वही, ३।१२।११
३४. प० च०, ६।१२।१३ ३५. वही, ६।१६।८
३६. वही, ६।९।७, १५।२।१ ३७ वही, ६।९।७
३८. पज्जुण्णचरिउ, ७।३।२
३९. दे० राजनय के सिद्धान्त : डा० गांधी जी राय (पटना, १९७८) पृ० १८०-१८१
४०. कौटिल्य अर्थ-शास्त्र, ११।१५।१, पृ० ५९
४१. प्रद्युम्नचरित, ६।१३।११-१२ ४२. वही, १४।३।७
43. वही, 3।9।11 44. वही, 3।2।5
45. वही, 2।14।6 46. वही, 2।15।12
47. वही, 2।17।9 48. वही; 13।15।8
49. वही, 6।12।8 50. वही, 6।14।1
51. वही, 12।28। 52. वही, 2।17।20
53. वही, 6।14।1-15 54. वही, 9।17।23
55. वही, 12।25-28, 13।1।13
56. भारत के प्राचीन शस्त्रास्त्र और युद्धकला, (राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसन्धान एव प्रशिक्षण परिषद, 1965), पृ० ५
57. प्रद्युम्नचरित, 2।11।9
58. वही, 6।10।7 59. वही, 6।10।7
60. वही, 2।17।9 61. वही, 4।17।7, 6।10।7, 8।5।8
62. वही, 2।19।16 63. वहीं, 2।12।9
64. वही, 2।17।12 65. वही, 2।17।10
66. वही, 2।17।10 67. वही, 2।16।12
68. वही, 6।10।8 69. वही, 13।12।2
70. वही, 13।12।8 71. वही, 13।13।1
72. वही, 13।14।1 73. वही, 9।20।9
74. वही, 75. पज्जुण्णचरिउ, 2।20।7
76. वही, 2।7।12 77. वही, 3।12।1
78. वही, 2।15।9 79. वही, 2।18।7
80. वही, 2।10।6 81. वही' 9।20।8
82. वही, 9।20।8 83. वही, 11।3।7
84. वही, 9।13।2 85. वही, 10।17।3
86. वही, 8।5।14 17. वही, 8।5।14
88. वही, 8।14।7 89. वही, 8।14।7
90. वही, 9।17।4 91. वही, 6।8

विचारणीय :

ईसा मसीह और जैन धर्म

□ एम० एल० जैन, नई दिल्ली

निकोलस नोटोविच नामक रूसी यात्री ई० सन् १८७७-७८ में भारत-तिब्बत यात्रा पर निकला मध्य एशिया, फारस, अफगानिस्तान, और पंजाब होता हुआ कश्मीर आया और वहां से लद्दाख की राजधानी लेह पहुंचा। वहां पर वह बौद्ध मठ 'हिमिस' गया जहां पर उसे पता चला कि तिब्बत की राजधानी ल्हासा में ईसा मसीह के जीवन का इतिवृत्त तिब्बती भाषा[१] मे मौजूद है और उसकी प्रतिलिपि के अंश हिमिस मठ के पुस्तकालय मे भी है। उसके अनुनय पर प्रमुख लामा ने उसे वे पढ़कर सुनाए जिनका अनुवाद उसका दुभाषिया करता जाता था और नोटोविच नोट लेता जाता था। इन्ही टिप्पणियो का अंग्रेजी अनुवाद सन् १८९० मे प्रकाशित हुआ जिसका पुनर्संस्करण सन् १९८१ मे कलकत्ता के नवभारत पब्लिशर्स ने निकाला। यह है—The unknown life of jesus christ.[3]

इस विवरण को पढ़ने से पाया जाता है कि तेरह वर्ष की आयु प्राप्त करने पर जब माता-पिता ने उसको दाम्पत्य सूत्र मे बांधना चाहा तो ईसा विवाह स्थल पर न पहुचकर चोरी-छुपे चुपचाप भारत की राह पर चल पड़ा और सिन्धु नदी पार करके आर्यावर्त में प्रविष्ट हुआ। तब तक वह चौदह साल का हो चुका था।[४]

पंजाब पहुंच कर राजपूताना (राजस्थान) मे आया और यहां वह जैन मंदिरो मे ज्ञानार्जन के लिए घूमता रहा। नोटोविच के अनुसार जैनधर्म बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों के बीच की कड़ी है। इसका प्रचार-प्रसार ईसा से ७०० वर्ष पहले से चला आ रहा है। यह जैनमत अन्य मतों का खण्डन करता है और उन्हें मिथ्यात्व में भरा हुआ बतलाता है इसी कारण जैन शब्द का अर्थ है कि उसके संस्थापकों ने प्रतिद्वन्दी मतों पर विजय प्राप्त करली है। ऐसे जैन धर्म के अनुयायियों ने जब देखा कि ईसा एक चैतन्य नवयुवक है तो उसे अपने यहां रहने का निमंत्रण दिया परन्तु वह नही रुका और अपनी ज्ञान पिपासा को शांत करने के लिए तत्समय चर्चित जगन्नाथ (पुरी) की तरफ बढ़ चला।

जगन्नाथ में ईसाने छह वर्षों तक संस्कृत भाषा, दर्शन, आयुर्वेद, गणित आदि का अध्ययन किया परन्तु वर्ण व्यवस्था में शूद्रों की दुर्दशा देखकर उसका प्रकट विरोध करने लगा। परिणाम में ब्राह्मणो का कोप-भाजन बन गया और जान बचाकर भागा तथा नेपाल में जाकर शरण ली। नेपाल में ईसा ने बौद्ध धर्म का अध्ययन किया।[५] यह अध्ययन छह वर्षों तक चला। तब तक वह भी छब्बीस साल का हो चला था।

भारत से इस प्रकार, जैन, वैदिक व बौद्ध दर्शनों का सार अपने मानस मे संजोकर वह फारस होता हुआ तीस वर्ष की आयु मे अपने वतन यहूदीस्तान मे प्रकट हुआ। मार्ग में मूर्ति पूजा, नर बलि आदि कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार भी करता गया।

आगे का इतिहास तो लोक विदित है। ईसा के सिद्धान्त भारत की श्रमण सस्कृति से जो इतनी समानता रखते है उसका कारण जैन व बौद्ध धर्मों का प्रभाव है यह बात नोटोविच द्वारा उद्घाटित तिब्बती ग्रंथ मे अंकित इतिहास से साबित हो जाती है। अतः ईसाई धर्म को अनार्यों या म्लेच्छो का धर्म कहना बड़ी भारी भूल लगती है। ईसाई धर्म भारत का स्वदेशीय धर्म है और है भारत की श्रवण संस्कृति का परिस्थिति जन्य रूपान्तरण।

अब तो यह भी माना जाने लगा है कि शूली पर चढ़ाए जाने के बाद भी ईसा जीवित रहा और उसके मृतप्रायः शरीर को लेकर उसकी माता मरियम ने न जाने किस आशा व दैवी प्रेरणा के साथ चलकर भारत में शरण ली। यहां वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। यह उसका पुनर्जन्म ही था परन्तु वह शत्रुओं की ओर वापस न जा सका।[६]

मरी (अब पाकिस्तान) मे माता मरियम का प्राणान्त हुआ और ईसा कश्मीर में ब्रह्मलीन।

आश्चर्य यह है कि उसके इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जीवन काल के वृत्तान्त के बारे मे धर्म ग्रन्थ बाइबल और ईसाई धर्म के अनुयायी दोनों चुप हैं और आज लगभग दो हजार वर्ष के पश्चात् भी भारत के आध्यात्मिक ऋण को स्वीकार करना पसन्द नही करते। वे तो नोटोविच को उसकी खोज के जग जाहिर करने मे भी हतोत्साहित ही करते रहे।

खोज अब इस बात की होनी चाहिए कि क्या जैन आख्यानकारों ने भी इस विषय पर आगे-पीछे कही थोड़ा बहुत वर्णन किया है। राजस्थान के इतने पुरातन मंदिर तो अब ध्वस्त हो चुके होगे जिनमे ईसा दर्शनार्थ व ज्ञानार्जन के लिए गया था परन्तु प्राचीन ग्रंथावशेषों में इस बारे मे कोई संकेत मिल पाना संभावना की सीमा के अन्तर्गत है। क्या कोई तपस्वी मनीषी इसकी खोज में समय लगाएगा? यदि उसे सफलता मिली तो धर्मों के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ेगा।

संदर्भ-सूची :

१. C. L. Datta की पुस्तक लदाख, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, १९७३ पृ० ५६ से पाया जाता है कि लदाख के सम्राट् सेन में नामग्याल (१६००-१६४५ AD) के समय मे लामा स्तेगता साग रसपा ने सन् १६४० मे इस मठ की स्थापना की थी। यह मठ तिब्बत और भूटान के अध्यात्म नेताओ के वर्चस्व को स्वीकार करता रहा है। लदाख का यह मठ वैभवशाली और राज्य संरक्षित रहा है।

२. इस बात की पुष्टि निकोलस रोरिच द्वारा १९२५ मे प्राप्त तिब्बती लेखों से होती है देखिए—(i) Fida Hassnain & Dahan leni The Fifth Gaspel Dastgir Srinagar, (1988) पृ० 79-80; (ii) Grant Francis & Roerich, Himalayas pp 148-153 (iii) Johan Forsstorm; The King of the Jews. p 176 (iv) Miguel Serrano; The Serpent of Paradise, pp 142-143 मे नाथनामावलि मे चर्चित ईशानाथ का वर्णन है।

३. निकोलस नोटोविच की इस खोज ने ईसाई जगत मे बड़ी हलचल पैदा कर दी थी। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने इस बात की जांच करने के लिए प्रो० मेक्समूलर और आगरा के प्रो० आर्चीबाल्ड को कहा। Nineteenth Century oct 1894 और April 1896 मे उसने अपने नतीजे प्रकाशित कराए जिनका सार यह था कि निकोलस नोटोविच एक धोखेबाज आदमी है किन्तु अभेदानंद ने अपनी पुस्तक Kashmir & Tibbet (1922) p 269 मे इस बात का समर्थन किया कि हेमिस मठ में वे तिब्बती हस्तलेख मौजूद हैं जिनमें ईसा के भारत आने का वर्णन है। Fifth Gospel pp 181-186।

४. वह व्यापारियो के काफिले के साथ सिंध की ओर इस उद्देश्यसे निकला था कि बौद्ध धर्मकी शिक्षा ग्रहण करे। उपरोक्त The Fifth Gospel p. 179।

५. ब्राह्मणो और क्षत्रियों का कोप भाजन ईसा इसलिए बना कि वह वैश्यों व शूद्रो के साथ घुल-मिल गया था और उन पर किए जा रहे अत्याचारो का प्रतिरोध करने लगा था। पुरोहित कहते थे कि शूद्रों और वैश्यों को केवल मौत ही आजादी दिला सकती है किन्तु ईसा ने शूद्रों को कहा कि उठो और अपनी शक्ति को पहचानों, सारा संसार ही तुम्हारा है। एक दिन आएगा जब ब्राह्मण व क्षत्रिय शूद्र हो जाएगे। इस पर क्रुद्ध होकर ब्राह्मण एकत्र हुए और उसका वध करने के लिए हत्यारा नियुक्त किया। वह वहां बौद्ध धर्म में पारगत हो गया और वहां के शीर्षलामा ने संघाराम के निवासियों को कहा कि यह यहूदी पैगम्बर है और दुनियां इसको सुनेगी और उसके नाम की प्रशंसा करेगी। उपरोक्त Fifth Gospel, pp. 181-189.

६. ईसवी सन् ईसा के शूली पर चढ़ाए जाने के दिन से लेते हैं परन्तु ईसा शूली पर मरा नही था। अतः ईसवी सन् के बाद भी उसका जीवित रहना पाया जाता है। वह १२० साल की आयु पाकर ई० सन् १०९ में मरा ई० सन् ७८ मे तो बौद्ध परिषद् ने उसे बोधिसत्व का दर्जा दिया था। उपरोक्त Fifth Gospel अध्याय ४।

निर्विकल्पता का विचार

डॉ० सुपार्श्व कुमार जैन

निर्विकल्पता का तात्पर्य है सभी प्रकार के संकल्पों-विकल्पों से रहितता। इसमें मानव का सम्पूर्ण उपयोग स्व की ओर उन्मुख होता है, न कि आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु आर्थिक क्रियाओं के क्रियान्वयन की ओर।

मानवीय आवश्यकताए आकाश की तरह असीम एवं सागर की तरगों की तरह अनन्त होती है। एक आवश्यकता भी पूर्ण नहीं हो पाती कि दूसरी अन्य आवश्यकतायें सामने खड़ी हो जाती हैं, जिन्हें मानव अपने अल्प जीवन-काल में सीमित साधनों द्वारा सन्तुष्ट नही कर पाता। जितनी भी आवश्यकतायें सन्तुष्ट की जाती है, उससे प्राप्त होने वाली सवेदना सुख की भांति आभासित होती है, वह वास्तविक सुख नही है।

सुख और दुःख दोनो ही ऐंद्रिय है 'ख'=इन्द्रियां, सु=सुहावना अर्थात् जो इन्द्रियों को सुहावना लगे, उस अनुभव को सुख कहते हैं। चूंकि इन्द्रियां अशाश्वत है अत: इन्द्रियो का सुहावना लगने का परिणाम या अनुभवन भी अशाश्वत है तथा इस सुख के अनुभवन मे मृगमरीचिका की तरह आकुलता भरी है जिसे व्यक्ति समझ नही पाता। 'दु' का अर्थ है बुरा या असुहावना, अत: इन्द्रियो को जो बुरा या असुहावना लगे, उस प्राप्त अनुभवन को दुःख कहते हैं। दुःख से छूटने की बात तो सभी कहते है किन्तु भ० महावीर ने सासारिक सुख से भी मुक्ति का विवेचन किया जो निस्सन्देह अद्वितीय है। वस्तुतः सांसारिक सुख पराधीन, नाशवान, दुःख पूर्ण और विपत्ति के कारण है, अत: वे आनन्ददायी कैसे हो सकते है? यही कारण है कि भ० महावीर ने वास्तविक सुख के अनुभवों से अपरिचित प्राणियों पर दया करके उसके सच्चे मार्ग का अनुसंधान कर उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाया है।

आनन्द—आ समन्तात् नन्दीति आनन्दः अर्थात् जो परिणाम या अनुभवन व्यक्ति को सर्व ओर से समृद्धिशाली बनावे, वह आनन्द है। सर्वविधि सम्पूर्ण विकल्पो के हट जाने पर व्यक्ति को जो निर्विकल्प व अनाकुल अनुभव होता है वह आनन्द है। धर्म की तरह आर्थिक जीवन का लक्ष्य भी इसी आनन्द को प्राप्त करना होना चाहिए।

मुक्ति के प्रयास मे और भी उलझती जाती हुई कफ मे पड़ी हुई मक्खी के समान इन्द्रिय-विषयाभिलाषी मनुष्य दुःख से मुक्ति व सुख-प्राप्ति के लिए जितनी भी क्रियायें करता है, वे सब क्रियायें दु ख रूप ही होती जाती हैं। घी से शान्त न होने वाली प्रज्वलित अग्नि की भांति मनुष्य कभी भी इच्छाओं की सन्तुष्टि से तृप्त नहीं होता। जब इन्द्रिय विषयों से तृप्ति नही होती तो विकल्प उत्पन्न होते हैं, विकल्पों से आकुलता बढ़ती है और आकुलता से दु.ख होता है, अतः आवश्यकताओं को घटाना चाहिए व विषयों की ओर से परांगमुख होना चाहिए। आकुलता दु.ख की जननी है और निराकुलता सुख की। सविकल्पता आवश्यकता और आकुलता सापेक्ष होती है तो निर्विकल्पता आवश्यक्ता और आकुलता निरपेक्ष। अत: यह सच्चा सुख निर्बाध, शाश्वत और इन्द्रिय-निरपेक्ष होता है। आ० अमितगति के अनुसार इस ससार में परम सुख निस्पृहत्व (इच्छारहितपना) अवस्था है और परम दुःख सस्पृहत्व या इच्छाओ का दास हो जाना है।" इसलिए भ० महावीर ने कहा कि प्रत्येक जीव (व्यक्ति) को समस्त चिन्ताओं को छोड़कर निश्चिन्त होकर अपने मन को परमपद मे धारण करना चाहिए।

वास्तविक सुख-प्राप्ति हेतु निर्विकल्पता प्राप्त करना है; निर्विकल्पता प्राप्ति हेतु अन्तरंग परिग्रहों को घटाना है, इस हेतु वाह्य परिग्रहों को छोड़ना होगा और ऐसा करने के लिए अपनी आवश्यकताओं को क्रमश: कम करने जाना चाहिए। इस प्रकार भ० महावीर दर्शन में दो उपाय दृष्टिगोचर होते हैं—

(१) निवृत्तिमूलक उपाय इसे त्यागमार्ग या श्रमण-मार्ग भी कह सकते हैं। समस्त आवश्यकताओं एवं परिग्रहों से एक ही झटके मे मोहममत्व को छोड़कर अरण्यवास स्वीकार करते हुए निजात्म-स्वरूप मे ही रमण करना निवृत्ति या श्रमण मार्ग है। यह निर्विकल्पता की प्राप्ति का साक्षात कारण या साधन है।

(२) प्रवृत्तिमूलक उपाय—इसे गृहस्थमार्ग कहते हैं। पापरूप अशुभ कार्यों को छोड़कर शुभ रूप वैधानिक व नैतिक प्रवृत्तियों को व्यावहारिक जीवन मे उतारना। जो एकदम आवश्यकताओं को नही छोड सकते, उनके लिए सहेज रूप में क्रमश: निम्न ग्यारह कार्य करना पड़ते हैं जिन्हें 'प्रतिमा' नाम से कहा गया है :—

(३) सर्वप्रथम व्यक्ति को शराब, मास शहद तथा पांच उदम्बर फलों का भक्षण, सप्तव्यसन एवं हिंसादि पाचो पापों तथा इनसे सम्बन्धित कार्यों को छोड़ देना चाहिए।

(४) बारह प्रकार के आचरण पालना चाहिए। इस प्रकार पापाचरणो से पूर्ण निवृत्ति व शुभाचरण मे प्रवृत्ति होने लगती है।

(५) अनुकूल व प्रतिकूल संयोगों मे साम्यभाव धारण करना चाहिए, इससे शारीरिक व आत्मिक ऊर्जा (शक्ति) का ह्रास न होकर केन्द्रीयकरण होता है।

(६) आठ दिनो मे एक बार उपवास रखना इससे आत्मिक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और राष्ट्रीय खाद्यान्न की समस्या सुलझती है।

(७) सारा जीवन उच्च विचार के सिद्धान्त पर चल-कर पूर्णत: शाकाहारी होना चाहिए। अभक्ष्य शाक-सब्जियों को भी छोड़ना चाहिए।

(८) रात्रि में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य न पेय रूप आहार का क्रमश: त्याग एव दिन मे मैथुन को छोड़ देना चाहिए। दिवा मे मैथुन भी अकालमरण का निमित है।

(९) रात्रि मैथुन को छोड़कर पूर्णत. ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

(१०) आवश्यक धन-सम्पत्ति व मकान आदि रखकर व्यापारिक कृषि सम्बन्धी कार्य अपने पुत्र को छोड़कर निश्चिन्त हो जाना।

(११) आवश्यकता के अनुरूप रखे गये धन-सम्पत्ति से भी अपना स्वामित्व हटा लेना।

(१२) रिश्तेदारों की तो बात ही क्या उसे अपने घरेलू व्यापार विवाह आदि मे सम्बन्धित अनुमति देना छोड़ते हुए एकान्तवास करना चाहिए, तथा

(१३) सम्पूर्ण वस्त्रादिक का परिग्रह भी छोड़कर अरण्यवास करना चाहिए और अधिकांश समय स्वोपयोग को आत्मोन्मुखी बनाकर निर्विकल्पता को प्राप्त करना चाहिए। भ० महावीर का कहना है—जो समस्त विकल्पो से रहित परम अवस्था को प्राप्त होते हैं वे ही सच्चे सुख का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार भ० महावीर द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से प्रतिपादित निर्विकल्पता या आवश्यकताहीनता का विचार आर्थिक जगत में अनेकों समस्याओं का समाधान करना है क्योंकि निस्पृहत्व भाव से सामाजिक, आर्थिक एवं राज-नीतिक आदि समस्याओं का स्वत: निराकरण हो जाता है और स्वहित के साथ-साथ परहित मे वृद्धि होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए, न कि अर्थ या काम की प्राप्ति। अर्थ व काम की प्राप्ति यदि धर्ममूलक है तो सुखदायी होते है अन्यथा नही। इस वास्तविक तथ्य को जानकर प्रतीति कर जब तक गृहस्थावस्था मे है तब तक न्याय व नीति धर्मपूर्वक कार्य सम्पादित करना चाहिए, अनन्तर उपर्युक्त रीति से आवश्यकताओं व परिग्रह को हटाते हुए निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति हेतु अग्रसर होना चाहिए। भ० महावीर ने स्वय इस मार्ग का अनुसरण किया और परमपद को पाया।

पं० नाथूराम प्रेमी का साहित्यिक अवदान

□ श्री मुन्नालाल जैन, दमोह

बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न पं० नाथूराम "प्रेमी" का हिन्दी साहित्य तथा प्राचीन वाङ्मय के सम्वर्धन मे महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनका जन्म अगहन सुदी ६ वि० सम्वत् १९३९ में सागर जिलान्तर्गत देवरी नगर मे हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा देवरी में हुई थी। बाद मे अध्ययन हेतु नागपुर भी रहे।

उनके कर्मक्षेत्र की शुरुआत देवरी के स्कूल में अध्यापक के रूप में हुई। देवरी के प्रसिद्ध साहित्यकार सैयद अमीर अली "मीर" से प्रभावित होकर उन्होने शृंगार रस से परिपूर्ण कविताएं लिखना प्रारम्भ किया। और 'प्रेमी' उपनाम से प्रसिद्ध हो गए।

इसी बीच बम्बई-प्रांतिक-दिगम्बर-जैन-सभा, बम्बई में लिपिक के रूप में सेवारत हुए। वही से (प्रेमी) जी के व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास प्रारम्भ हुआ। उन्होंने बम्बई मे ही संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, बंगला, और हिन्दी आदि अनेक भाषाओ का उच्चकोटिक ज्ञान प्राप्त करके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो तथा लेखों के सम्पादन और अनुवाद किये, तथा अनेक स्वतन्त्र लेख लिखे। वे अपने युग के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और समीक्षा प्रधान पत्रों "जैनमित्र" एवं "जैन-हितैषी" का सम्पादन भी करते रहे। "प्रेमी" जी ने "जैन-ग्रन्थ रत्नाकर-कार्यालय नाम से हीराबाग, गिरगांव, बम्बई मे एक प्रकाशन सस्था की स्थापना की तथा उनके माध्यम से अनेक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया। उन्होने इस सस्थान से अनेक उच्चकोटि की पुस्तकों का प्रकाशन कर हिन्दी साहित्य के प्रसार-प्रचार और सम्वर्धन मे उल्लेखनीय योगदान दिया। "माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थमाला" बम्बई के माध्यम से भी संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन लुप्तप्राय वाङ्मय को प्रकाशित कराने में भी "प्रेमी" जी का विशेष योगदान रहा।

"प्रेमी" जी ने समाज-सुधार जैसे आन्दोलनों मे भी बड़े चाव से भाग लिया और इनमे महत्त्वपूर्ण सफलता भी प्राप्त की। विधवा-विवाह आन्दोलन मे "प्रेमी" जी ने समय-समय पर हिस्सा लेकर और अपने भाई का एक विधवा के साथ विवाह करके अपने हृदयगत विचारों को जीवन्त उदाहरण के रूप मे समाज के सामने प्रस्तुत किया।

"प्रेमी" जी महात्मा गांधी, सैयद अमीर अली "मीर", गोपालदास जी बरैया माणिकचन्द्र जी जैन, पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल, काशीनाथ रघुनाथ "मित्र" आदि व्यक्तित्वों से प्रभावित रहे और उनके साथ उनका सम्पर्क रहा।

"प्रेमी" जी के समकालीन साहित्यकारों ने सर्व श्री डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द्र, जयशंकर प्रसाद, प० बनारसीदास चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, उदयशंकर भट्ट, जैनेन्द्र कुमार जैन, चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन जी, डा० बलदेव उपाध्याय, प्रो० मूलराज जैन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, आदि थे।

"प्रेमी" जी ने पुराने महान् साहित्यकारो को प्रकाश मे लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य तो किया ही है साथ ही नवीन उदित हो रहे तत्कालीन साहित्यकारों की प्रारम्भिक रचनाओ को संशोधित करके शुद्ध रूप में प्रकाशित कर उनकी साहित्यिक प्रतिभा को उजागर किया। आपने प्रकाशन का क्रम डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'स्वाधीनता' नामक रचना से श्रीगणेश किया था। "प्रेमी" जी के "हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से हिन्दी के अधिकांश लेखको की प्रारम्भिक रचनाएं निकलीं। प्रेमचन्द्र जी की सबसे प्रारम्भिक रचनाएं "नवनिधि' और सप्तसरोज" करीब-करीब एक साथ ही निकली थी। "प्रेमी" जी ने सर्व श्री जैनेन्द्र कुमार जैन, चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन जी,

डा० रामकुमार वर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, गुलाब राय, सियारामशरण गुप्त रामचन्द्र वर्मा आदि की रचनाओं को प्रकाशित कर इन्हें जनप्रिय बनाकर हिन्दी साहित्य के भण्डार में अभूतपूर्व सी वृद्धि की है।

श्री "प्रेमी" जी द्वारा प्रणीत मौलिक-ग्रन्थ

(१) अर्द्धकथानक,
(२) जैन साहित्य और इतिहास,
(३) जैनधर्म और वर्णव्यवस्था,
(४) तारणबन्धु,
(५) दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ,
(६) भट्टारक मीमासा,
(८) विद्वद्रत्नमाला,
(८) हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास,

अनूदित-ग्रन्थ :

(१) कर्नाटक जैन कवि,
(२) धूर्ताख्यान,
(३) नाटक समयसार,
(४) पुण्यास्त्रव कथाकोष,
(५) पुरुषार्थ सिद्धयुपाय,
(६) प्रतिमा (उपन्यास)
(७) प्रद्युम्न चरित,
(८) मोक्षमाला,
(६) रवीन्द्र कथाकुन्ज,
(१०) शिक्षा,
(११) सज्जनचित्त वल्लभ,।

सम्पादित-ग्रन्थ :

(१) जिनशतक,
(२) दौलत-पद-संग्रह,
(३) बनारसी विलास,
(४) ब्रह्म विलास।

ग्रन्थों की भूमिकाएं :

(१) आराधना,
(२) नीतिवाक्यामृत।

सम्पादित-पत्रिकाएं :

(१) जैनमित्र,
(२) जैन-हितैषी,।

स्फुट-महत्त्वपूर्ण-आलेख :

(१) तीर्थों के झगड़ों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार,
(२) दक्षिण के तीर्थक्षेत्र,
(३) हमारे तीर्थक्षेत्र।

श्री "प्रेमी" जी ने, अनेक संस्थाओं के संचालन में भी योगदान दिया है।

इस प्रकार पं० नाथूराम जी "प्रेमी" के दिव्य कृतित्व पर समग्रस्थ से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि उनका भारतीय साहित्य, विशेषत: हिन्दी साहित्य के सम्बर्धन में महत्त्वपूर्ण अवदान है। ऐसे विराट् व्यक्तित्व के धनी श्री "प्रेमी" जी के विषय मे अभी तक किसी भी प्रकार से व्यवस्थित शोध-खोज का कार्य नहीं हुआ है। इसीलिए मैंने संकल्प किया है कि—ऐसे महारथी-हिन्दी-सेवी-साहित्यसृष्टा और साहित्यकार-प्रोत्साहनकर्त्ता "पं० नाथूराम 'प्रेमी' का साहित्यि अवदान" विषय पर अपनी पी-एच० डी० उपाधि के शोध-प्रबन्ध के माध्यम से उनकी साहित्य सेवा के सार्वभौम उदात स्वस्थ को साहित्य जगत में उजागर करूं।

विश्वास है आप सभी सुधीजनों के कृपापूर्ण मार्गदर्शन और सक्रिय सहयोग से मैं अपनी इष्टपूर्त्ति मे सफल होऊंगा।

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
दमोह (म० प्र०)

(वर्ष ४२ कि० १ से आगे)

महाराष्ट्र में जैनधर्म

□ डॉ० भागचन्द्र भास्कर, नागपुर

महाकवि स्वयंभू ने अपने ग्रन्थो की रचना उसी के आश्रय मे रहकर की। पुन्नागवंशी जिनसेन ने भी ७८३ मे रचे अपने हरिवंश पुराण के अन्त मे ध्रुव का उल्लेख किया है। वीरसेनाचार्य के ग्रन्थ भी इसी शासनकाल की देन है। ध्रुव के पुत्र जगत्तुंग के शासनकाल मे उनकी साहित्यिक गतिविधियाँ चलती रही है। बाद मे जगत्तुंग ने मान्यखेट (मलखेड, मैसूर) को अपनी राजधानी बनाया जो अकलंक स्वामी विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, अनन्तवीर्य आदि अनेक जैनाचार्यों का कार्यक्षेत्र रहा है। राष्ट्रकूटों की राजधानी यद्यपि मान्यखेट रही है पर उनके अधिकार क्षेत्र मे महाराष्ट्र का भाग भी आता है। मलखेड़ बलात्कारगण का मुख्य केन्द्र था। इसी की दो शाखायें महाराष्ट्र मे स्थापित हुईं—कारंजा और लातूर।

बलात्कारगण के प्रधान आचार्यों मे कुन्दकुन्द, उमास्वामी जटासिंहनंदि, माघनंदि, जिनचन्द, प्रभाचन्द, अकलंक, माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों का उल्लेख आता है। कारंजा शाखा का प्रथम उल्लेखनीय आचार्य अमरकीर्ति हैं। उनकी शिष्य परम्परा मे विशालकीर्ति, विद्यानन्द, देवेन्द्रकीर्ति, धर्मचन्द्र, धर्मभूषण आदि आचार्य हुए हैं। ये सभी १४–१५वी शती के आचार्य हैं। लातूर शाखा का प्रारम्भ अजितकीर्ति से हुआ जिनके गुरु कारंजा शाखा के भ० कुमुदचन्द्र थे। इन्होने शक स० १५७३ में एक जिनमूर्ति की स्थापना की थी।

औरंगाबाद के समीप देवगिरि की स्थापना जैनाचार्य हेमाद्रि के अनुसार यादव नरेश भिलम्मा प्रथम ने ११८७ ई० में की और उसे अपनी राजधानी बनाया। मुहम्मद तुगलग ने उसे दौलताबाद नाम दिया। यहीं पास ही उसमानाबाद के नजदीक नदी के किनारे धारसिव नाम की सात गुफाये हैं जिनमे चार गुफाये जैनो की है। इनका समय कला की दृष्टि से लगभग सप्तम शताब्दी निर्धारित किया गया है। सिंहन यादव काल मे जैनाचार्य पार्श्वदेव ने समयसार नामक संगीत ग्रन्थ लिखा। यहाँ के कूचिराज ने लक्ष्मी जिनालय का निर्माण कराया चैत्यवंदन मे देवगिरि सुरगिरि के नाम से उल्लिखित है। परभणी भी यादवकालीन केन्द्र रहा है।

नासिक और उसके आसपास का भाग भी जैन सास्कृतिक केन्द्र के रूप मे विख्यात है। क्षहरातवंशी महाराज नहपान कुषाणों सूबेदार था जो बाद मे उज्जैन और सौराष्ट्र का अधिपति बना तथा गौतमीपुत्र सातकर्णी पैठन का सातवाहन नरेश था। ६५ ई० के आसपास गौतमीपुत्र सातकर्णी ने नहपान को युद्ध में पराजित किया। नहपान के राज्य मे नानगोल (ठाणा जिला नारगोल) गोवर्धन (नासिक का समीपवर्ती पर्वत) त्रिरश्मि (नासिक) जुन्नार आदि भाग सम्मिलित रहे है। नहपान के दामाद ऋषभदत्त (द्वितीय शतक का प्रथम भाग) द्वारा लिखित एक अभिलेख नासिक मे प्राप्त हुआ है जिसमे उसे नहपान का भट्टारक कहकर ससम्मान उल्लेख किया गया है। इस लेख मे जैन वैदिक आदि सभी धार्मिक तीर्थों को दान दिये जाने की बात अंकित है। नहपान के लिए भट्टारक जैसे शब्दों का प्रयोग उसके जैन होने का संकेत करते हैं। विबुध श्रीधर के श्रुतावतार के अनुसार नहपान ने जैन दीक्षा ली और भूतबलि के नाम से विख्यात हुए। राजश्रेष्ठि सुबुद्धि भी उसी के साथ दीक्षित हुए जो पुष्पदंत के नाम से विश्रुत हुए। ये दोनों आचार्य धरसेनाचार्य के शिष्य बने और उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की।

ई० पू० प्रथम शती मे आन्ध्र सातवाहन वंश का उदय हुआ। प्रतिष्ठानपुर (पैठन) उनकी राजधानी बनी।

इस वंश के अधिकांश नरेश ब्राह्मण धर्मानुयायी थे पर उनमें हाल (शिमुक) की सम्भावना जैन होने की अधिक है। उनके गाहा सत्तसई ग्रन्थ पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट झलकता है इससे प्राकृत की लोकप्रियता का भी पता चलता है। जैनाचार्य शर्ववर्म द्वारा कातंत्र व्याकरण तथा काणभूति की प्राकृत कथा के आधार पर गुणाढ्य की बृहत्कथा भी इसी के राज्यकाल में लिखी गई। हाल के ५२ योद्धाओ मे से अधिकांश ने पैठन मे जैन मन्दिरो का निर्माण कराया। कहा जाता है कालकाचार्य ने पैठन की यात्रा की थी और वहाँ पर्यूषण पर्व मनाया था।

नासिक के पास वजीरखेड़ मे दो ताम्रपत्र उल्लेखनीय हैं। सन् ६१५ मे राष्ट्रकूट सम्राट इन्द्रराज ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर जैनाचार्य वर्धमान को अमोघ वसति और उरिअम्म वसति नामक जिन मन्दिरो की देखभाल के लिए कुछ गाँव दान मे दिये थे। अमोघवसति से यह अनुमान लगाना कठिन नही है कि यह मन्दिर इन्द्रराज के प्रपितामह अमोघवर्ष की प्रेरणा से बनाया गया होगा।

यादववशीय राजा सेउणचन्द्र का एक लेख सन् ११४२ का नासिक के पास अजमेरी गुहामन्दिर मे प्राप्त हुआ है जिसमे चन्द्रप्रभु मन्दिर मे प्रदत्त दान का वर्णन है। धूलिया के समीप मुलतानपुर मे सन् ११५४ के आसपास का लेख मिला है उसमे पुन्नाह गुरुकुल के आचार्य विजयकीर्ति का नाम अंकित है।

नासिक के समीप ही लगभग ६०० फीट ऊँची अकाई तकाई नामक पहाड़ी है। वस्तुत. ये एक साथ जुड़ी हुई दो पहाड़ियां है। यहां सात जैन गुफाये है, बड़ी अलकृत है। पहली गुफा दो मंजली है। दूसरी गुफा भी लगभग ऐसी ही है, पर इसमे एक बन्द बरामदा है जिसमे इन्द्र और अम्बिका की मूर्तियां रखी हुई है। मन्दिर मे एक जिन मूर्ति भी है। शेष दोनों गुफायें भी लगभग ऐसी ही हैं। तीसरी गुफा के पीछे के भाग में पार्श्वनाथ और शांतिनाथ की प्रतिमाये उकेरी हुई मिलती है कायोत्सर्ग मुद्रा में। चौथी गुफा का तोरणद्वार अत्यन्त कलात्मक है। ये गुफायें शाहजहाँ के सेनापति खानखानाकी सेना द्वारा तोड़ दी गयी थी इसलिए कलात्मकता छिन्न-भिन्न हो गई है।

नासिक के ही उत्तर-पश्चिम में चामरलेण नाम की छोटी-सी पहाड़ी है जिस पर जैन गुफायें उपलब्ध हुई हैं। इनका समय लगभग सातवी शताब्दी है। एक गुफा मे पार्श्वनाथ की बृहत्काय आवक्ष प्रतिमा उल्लेखनीय है। ये गुफायें उसमानाबाद के पास है।

पूना के उत्तर-पश्चिम में लगभग पच्चीस मील दूर एक वामचन्द्र स्थान है जहाँ जैन गुफा है। आज उसे शैव मन्दिर के रूप परिवर्तित कर दिया गया है।

बार्सी से लगभग २२ मील दूर प्राचीन जैन तीर्थक्षेत्र कुंथलगिरि एक सिद्धक्षेत्र है जहाँ से कुलभूषण और दिशभूषण नामक मुनि मुक्त हुए। वशस्थ लवणणियरे पच्छिम भायम्मिकुन्थुगिरि सिहरे, कुलदिसभूषण मुणी णिव्वाणगया णमो तेसि······निर्वाणकाण्ड। इस पहाड़ी पर आदिनाथ की मूलनायक विशाल प्रतिमा है। इसका समय लगभग १२-१३वीं शती निश्चित किया जा सकता है।

अर्धपुर (नादेड जिला) के प्राचीन जैन मन्दिर भी प्रसिद्ध रहे है लगभग इसी समय के। पर अब इनके मात्र अवशेष शेष है। इसी जिले मे एक कटहार नामक स्थान है जहां सोमदेव का बनाया हुआ अति प्राचीन दुर्ग है। मालखेड़ के राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय ने इस दुर्ग का विस्तार करवाया था और कन्दहार की उपाधि ग्रहण की थी। इस दुर्ग मे एक भव्य जिनालय है जिसे सोमदेव या कृष्ण तृतीय ने बनवाया होगा। जैन स्तोत्र तीर्थमाला चैत्यवदन में जिस कुतीविहार का उल्लेख आया है शायद वह वही कदहार होगा। कुछ लोग इस नासिक के समीप गोदावरी तट पर भी अवस्थित बताते हैं जहाँ पाण्डुलेण आदि गुफायें हैं। नांदेड मे चालुक्य नरेशों की एक शाखा राज्य करती थी। बाद मे यही वारंगल के काकातीय राजवंश का भी शासन रहा। इसी समय का यहां एक जैन मन्दिर है।

वर्तमान कराड प्राचीन काल का करहाटक होना चाहिए जो कृष्णा और ककुदमती के संगम पर बसा हुआ है। यहा कदम्ब वश का शासन रहा है जो सातवाहनों का सामत था और बाद मे स्वतत्र शासक के रूप मे स्थापित हुआ था। करहाटक उन्हीं की राजधानी रही है। इस समूचे वश के शासक यद्यपि सर्वधर्म समभावी रहेहैं

पर अभिलेखों आदि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म के प्रति उनका विशेष झुकाव था। इन शासकों में मृगेशवर्मन (४५०-७८ ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है उसके अनेक ताम्रपत्र और अभिलेख उपलब्ध होते हैं जिससे उसका जैनधर्म के प्रति झुकाव सिद्ध होता है। एक ताम्रपत्र में जैनधर्म के तीन समुदायो के लिए दान देने का उल्लेख आया है—१. तेतीस निवर्त्तन जमीन मातृसरित से लेकर इगिनी संगम तक कूर्चक संप्र-को दी, २. कालवेगा गाँव का एक भाग श्वेत पट अर्थात् श्वेतांबर संप्रदाय को दी, ३. और उसी का दूसरा भाग दिगम्बर सम्प्रदाय को प्रदान किया। हालमणि अभिलेख भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। साधारण तौर पर यह माना जाता है कि श्वेतांबर सम्प्रदाय का अस्तित्व दक्षिण में नही था पर इस अभिलेख से इस भ्रम का खंडन हो जाता है। इतना ही नही बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि श्वेतांबर सम्प्रदाय दक्षिण मे लोकप्रियहोने लगा था अन्यथा मृगेश वर्मा उसकी ओर आकर्षित नही होता। इसी तरह के कुछ अन्य अभिलेखों और साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं जिनसे दक्षिण भारत में श्वेतांबर सम्प्रदाय का अस्तित्व भलीभांति सिद्ध होता है। जैसा हम जानते हैं यापनीय सम्प्रदाय का सस्थापक श्रीकलश स्वय श्वेतांबर सम्प्रदाय का पोषक था और दक्षिणवासी था इससे इस समय को और भी पीछे लाया जा सकता है। वलभि-वाचना के बाद जैनधर्म गुजरात से दक्षिण की ओर गया होगा और वैसी स्थिति मे श्वेतांबर सम्प्रदाय का वहां अस्तित्व होना असगत नही हो सकता।

दक्षिण का कदब वंश आंध्र सातवाहनों का सामंत था और उसने वनवास देश मे दूसरी शती के मध्य करहाटक (वर्तमान करहद) को राजधानी बनाकर शासन की स्थापना की। इस वश के द्वितीय राजा शिवस्कध ने अपने भाई शिवायन के साथ आचार्य समन्तभद्र से जैन दीक्षा ली। मयूरवर्मन ने हल्सी (पलासिका) को उपराजधानी बनाकर शासन किया और जैनधर्म को संरक्षण प्रदान किया। हल्सी से प्राप्त एक अभिलेख में भानुवर्मा और उसके अधीनस्थ कर्मचारी पडक "भोजक" के दान का उल्लेख है यह दान भानुवर्मा के बड़े भाई रविवर्मा के राज्य के ग्यारहवें वर्ष में प्रत्येक पूर्णिमा के दिन जिन भगवान की पूजा के दिन दिया गया था यह भूमि पलासिका ग्राम के कर्दमपटी की थी। (Epigraphica Indica Vol. 6 Page 27-29) हरिवर्मा एक लेख में कूर्चक सम्प्रदाय को दान देने का उल्लेख है और उसी में वारिषेणाचार्य संघ का भी उल्लेख है जिसके प्रधान चंद्रक्षोत मुनि थे (वही, पृ० ३०-३१) हरिवर्मा के ही एक अन्य लेख में चैत्यालय के लिए ग्रामदान का उल्लेख है। यह चैत्यालय अहरिष्टी नाम के श्रमण संघ की सम्पत्ति के रूप में मान्य था। (वही, पृ० ३०-३१) हरिवर्मन के पूर्ववर्ती राजा काकुत्स्यवर्मन, शांतिवर्मन और रविवर्मन भी जैनधर्म के अनुयायी थे जिनके राज्य मे जैनाचार्य श्रुतकीर्ति, दामकीर्ति, कुमारदत्त, हरिदत्त आदि जैसे विद्वान अभिभावक थे। यहा यह उल्लेखनीय है कि पलासिका (हल्सी) सौराष्ट्र की पलासनी और पश्चिमी बंगाल की पलासी नगरी से कोई भिन्न नगरी होनी चाहिए। जो महाराष्ट्र और कर्नाटक की सीमा पर स्थित रही होगी।

सांगली क्षेत्र के अन्तर्गत तेरडाल ११-१२वी शती मे जैनधर्म का प्रभावक केन्द्र रहा है। समीपवर्ती क्षेत्र बेलगाँव पर रट्ट शासको का आधिपत्य था। ये शासक राष्ट्रकूटों के सामंत थे। ८७५ ई० मे अमोघवर्ष के सामत मेरद्रि के पुत्र पृथ्वीराम रट्ट ने सौदत्ती में जिन मन्दिर का निर्माण कराया था। और उसके संचालन के लिए दान भी दिया था। तेरदल में प्राप्त एक शिलालेख से पता चलता है कि यहां का मांडलिक गोक (११८७ A.D.) जैनाचार्य द्वारा सर्पदंश से मुक्त किया गया था और फलत: उसने नेमिनाथ का मन्दिर बनवाया और उसके संचालनार्थ दान दिया। कार्तवीर्य रट्ट शासक द्वितीय के काल में (११२३-२४ A. D.)। इस शुभावसर पर माघनन्दि सैद्धान्तिक को विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया था। वे कोल्हापुर के रूपनारायण वसदि के मण्डलाचार्य थे। इसी बंश का कार्तवीर्य चतुर्थ शिलाहार नरेश के राज्य में स्थित एकसाम्बी के नेमीश्वर जिनालय के दर्शनार्थ गया जिसे यापनीय आचार्य विजयकीर्ति के संरक्षकत्व में शिलाहार सेनापति कालन ने अपने गुरू कुमारकीर्ति त्रैविद्य के उपदेश से बनवाया था। कार्तवीर्य चतुर्थ के मंत्री एवं सेनापति बूचिराज और मल्लिकार्जुन भी जैन धर्मावलम्बी

थे। बूचिराज ने बेलगांव में रट्ट जिनालय भी बनवाया और मल्लिकार्जुन के पुत्र केशीराज ने सौंदंती में मल्लिकार्जुन जिनालय बनवाया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि मुनि चन्द्रदेव इस राजा के धर्मगुरू और उसके युवराज के शिक्षक थे। उन्होंने संघकाल में प्रधानमंत्री का पदभार संभाला और शस्त्र भी उठाये शत्रुदमन के लिए। बाद में उन्होंने कोट्टलिग में मन्दिर बनवाये और फिर जिन दीक्षा धारण की। (An. Ref. Inde-Ep. 53-54 p. 31).

कोंकण के शिलाहारों का बेलगांव और कोल्हापुर मे शासन था। उनमें से प्रसिद्ध जैन राजा गण्डरादित्य १००७–९ A D.) ने इरुकुडी में एक जिनालय बनवाया। उसका निम्बदेव देवरल नामक सेनापति आजुरिका (वर्तमान आजरे) में पद्मावती का भक्त था और माणिक्यनन्दि का शिष्य था। उसने अनेक ग्राम दान दिये। उसके सेनापति बोप्पण कालन व लक्ष्मीधर भी परम जैन भक्त थे जिन्होने अनेक जैन मन्दिर बनवाये। भोज द्वितीय (११६५–१२०५ A.D.) भी जैन था। विशालकीर्ति पंडित देव उसके गुरू थे। इसी के शासनकाल मे सोमदेव ने १२०५ A.D. मे शब्दार्णव चंद्रिका नामक टीका गण्डरादित्य द्वारा निर्मित आजुरिका ग्राम के त्रिभुवन तिलक नेमि जिनालय में पूरी की थी—

"श्री कोल्हापुर देशान्तर भवत्यार्जुरिका महास्थानयुधिष्ठिरावतार महामण्डलेश्वर श्री गण्डरादित्यदेवनिर्मापित त्रिभुवनतिलक जिनालये ·····। (शब्दार्णव चंद्रिका)

इसी राजा ने राजधानी क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर) मे अनेक जिनालय बनवाये ((J.B.B.R.A.S.Vol. VIII Old series pp. 10) सेनापति बोप्पण के सदर्भ मे किदारपुर शिलालेख एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। रूपनारायण जिन मन्दिर कुंदकुंद आम्नायी सरस्वती गच्छी निम्बदेव ने ही बनवाया था और उसी के ११३५ A D. में कबडेगोल्ला मे पार्श्वनाथ मन्दिर का भी निर्माण कराया था। गण्डरादित्य का ही दूसरा नाम रूपनारायण था। इसी मन्दिर में उत्कीर्ण शिलालेख में एक चैत्यागार का उल्लेख है। अय्याबोडे (बीजापुर का अइहोल) के व्यापारी वीर वणणजस ने उस मन्दिर के लिए काफी दान दिया (Ep, Ind. Vol. XIX pp. 30) सांगली के पास तेरदल में प्राप्त शिलालेख से पता चलता है कि निम्बदेव ने रूपनारायण मन्दिर के लिए बड़ी भारी सम्पत्ति दान दी थी। (Ind. Ant. Vol XIV P. 19; Ep Ind. Vol. 3 pp. 207).

चालुक्य सामंत शिलाहार वंश के राजा गण्डरादित्य द्वारा कोल्हापुर अभिलेख के अनुसार उसके सामंत नोलंब को सन् १११५ में दो ग्राम दिये गये थे। इसमें नोलम्ब को सम्यक्त्व रत्नाकर तथा पद्मावती देवी लब्धवरप्रसाद जैसे विशेषणों से सम्मानित किया गया है। (Ep. Ind. Vol. 19 Page 30) इससे नोलम्ब का जैन होना असंदिग्ध है। कोल्हापुर के ही सन् ११३५ के एक अन्य लेख मे राजा गण्डरादित्य के सामत निम्बदेव द्वारा ही एक जैन मन्दिर के निर्माण का तथा वीरवलज लोगो के संघ द्वारा आचार्य श्रुतकीर्ति को दान दिये जाने का वर्णन है। कोल्हापुर के महालक्ष्मी मन्दिर मे प्राप्त एक लेख में भी सामत निम्बदेव के जिन मन्दिर निर्माण का उल्लेख मिलता है जिसे माघनंदि ने बनवाया था (Ep. Ind. Vol. 27 Page 176) यहां यह उल्लेखनीय है कि यह मन्दिर आज वैष्णवों के अधिकार मे है।

शुक्रवार गेट के पास ही एक दूसरा अभिलेख ११४३ A D. का मिला है जिसमें हाविशहेरिडिगे (आधुनिक हेरले) मे निर्मापित जैन मन्दिर के लिए बासुदेव द्वारा प्रदत्त दान का उल्लेख है। यह वासुदेव महानन्दि विजयादित्य का शिष्य और गण्डरादित्य का पुत्र था। माघनन्दि सैद्धांतिक अगाध पांडित्य के धनी थे (तेरडाल शिलालेख Ep. Karnatica vol. 14, page 23)। श्रमण बेलगोल शिलालेख में भी उनका उल्लेख मिलता है (Ep. Karnatka vol. II, p. 17) श्रुतकीर्ति, त्रैविद्य, गण्डविमुक्त देव, माणिक्यनंदि पंडित, आनन्दी सिद्धान्तदेव, निम्बदेव, कामदेव, केदारनाकरस आदि जैसे विद्वान मुनि और श्रावक उनके शिष्य थे। (Ep. Ind. vol. III, pp. 207-11)। उन्होंने कोल्हापुर में तीर्थ की स्थापना की थी। मठ भी बनवाया था। रूपनारानण मन्दिर की देखभाल के लिए उन्होने श्रुतकीर्ति त्रैविद्य को नियुक्त किया था। कवडेगोल मन्दिर भी इन्हीं के संरक्षकत्व मे व्यवस्थित थे। माणिक्यनंदि भी माघनन्दि के शिष्य थे।

अरहनंदि के संदर्भ में वामणी (कोल्हापुर) पार्श्वनाथ मन्दिर में प्राप्त अभिलेख से जानकारी मिलती है (Ep. Ind. Vol. III, pp. 211)। यहा चोधरे कामगावुण्ड द्वारा निर्मित जैन मन्दिर भी उल्लेखनीय है। नामगादेवी के आग्रह पर नेमगावुंड ने तीर्थंकर चन्द्रप्रभ मन्दिर हाविन हेरिडिगे (1118 A.D.) मे बनवाया।

बेलगांव मे प्राप्त दो अन्य लेखों के अनुसार रट्टवंश के कार्तवीर्य चतुर्थ तथा उनके बन्धु मल्लिकार्जुन ने स्वयं उनके मन्त्री बीचण ने एक रट्ट जिनालय स्थापित किया था। उन्होंने इस मन्दिर के प्रधान भट्टारक शुभचन्द्र को शक सं० ११२७ मे कुछ भूमिदान किया था (Ep. Ind Vol. 13, P. 15)। ये शुभचन्द्र मूलसंघ के पुस्तकगच्छीय मलधारिदेव के शिष्य नेमिचन्द्र के शिष्य थे। बेलगांव के हल्सी गांव में प्राप्त लेख के अनुसार कदम्बा युवराज काकुत्स्थवर्मा द्वारा श्रुतकीर्ति सेनापति को प्रदत्त दान का उल्लेख है। यह दान खेट ग्राम में किया गया था। फ्लीट ने इसका समय पांचवी शती निर्धारित किया है। (Ep Ind. Vol. 6, P. 22-24).

मध्यकाल के पूर्व भी कोल्हापुर जैन सांस्कृतिक केन्द्र के रूप मे विख्यात रहा है: सम्राट खारवेल के बाद दक्षिणापथ मे पैठन के सातवाहनों का उत्कर्ष हुआ जो द्वितीय शती तक अवस्थित रहा। इस बीच मूलसंघ के पट्टधर आचार्य अर्हद्बली (38-66 A D.) ने वेण्यानदी के तट पर स्थित महिमानगरी (कोल्हापुर का महिगानगढ़) मे एक विशाल जैन सम्मेलन का आयोजन किया और आवश्यकता प्रतीत होने पर सघ को नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप सेन, भद्र, गुणधर, सिंह चन्द्र, आदि विविध नामों से संघ स्थापित किये (इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, ६१-६६)। इन सघों की स्थापना के पीछे धर्मवात्सल्य, एकता और प्रभावना की अभिवृद्धि मुख्य उद्देश्य था।

कोल्हापुर (अल्लमपुर) मे प्राप्त एक अन्य दानपत्र के अनुसार मूलसंघ काकोपल आम्नायी सिंहनदि मुनि को अलक्तकनगर के जैन मन्दिर के लिए कुछ ग्राम दान दिये गये हैं। दान देने वाले थे पुलकेशी प्रथम के सामन्त सामियार जिन्होंने अनेक जैन मन्दिरों की प्रतिष्ठा कराई थी और गंगराज माधव द्वितीय तथा अविनीत ने कुछ ग्रामादि दान में दिये थे।

११-१२वीं शती के चिकहुलसोगे के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वहां मूलसंघ का देशीगण भी काफी लोकप्रिय था। इसके दिवाकरनंदि चन्द्रकीर्ति, पूर्णचन्द्र, दामनंदि, तपकीर्ति आदि आचार्य कोल्हापुर के आसपास ही रहते थे। यहां अनेक जैन वसदियां थीं जिन्हें कंगाल्व नरेशों द्वारा संरक्षण प्राप्त था। देशी गण का प्रमुख गच्छ पुस्तकगच्छ है। हनसोगेर्नल पुस्तकगच्छ का ही एक उपभेद है। इस गण की एक शाखा का नाम इंगुलेश्वरवलि है जिसके आचार्यगण प्रायः कोल्हापुर के आसपास रहते थे (Ep. Kar. Vol. VIII & IV; जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृ० ३५६-५८)। यापनीय संघ भी कोल्हापुर बेलगांव आदि समीपवर्ती स्थानों में लोकप्रिय था। यह बेलगांव स्थित टोड्डवसदि जैन मन्दिर मे प्राप्त एक अभिलेख से प्रमाणित होता है। मलखेड़ के पास नगई (गुलबर्गा) भी प्रसिद्ध दिगम्बर जैन मन्दिर है जो कदाचित् बलात्कारगण का केन्द्र रहा होगा।

कोल्हापुर से लगभग २०० कि० मी० दूर स्थित बादामी (प्राचीन नाम वातापी) का उदय पश्चिमी चालुक्य वंश के रूप मे पचम शताब्दी मे हुआ। इसका सम्बन्ध विजयादित्य चालुक्य से रहा। उसी के वश मे उत्पन्न दुर्विनीत ने जयसिंह के माध्यम से वातापी साम्राज्य की नींव डाली। इसका वास्तविक राज्य संस्थापक पुलकेशी प्रथम था जो जैनधर्म का कट्टर भक्त था। उसके सामन्त और सहयोगी भी जैन धर्मावलम्बी थे। उसने ५४२ ई० मे अलक्तकनगर मे एक जिनालय बनवाया जिसमे उत्कीर्ण शिलालेख मे कनकोपल शाखा के जैनाचार्य सिंहनंदि, चित्तकाचार्य नागदेव और जिननंदि के नामो का उल्लेख है। ऐहोल भी इस काल का प्रमुख जैन केन्द्र रहा है। इसी वश के कीर्तिवर्मन प्रथम ५६५-५६७ A.D.) ने जैनमन्दिर में अभिषेकादि के लिए विपुल दान दिया था। इसी के राज्यकाल मे ५८५ ई० मे जैनाचार्य रविकीर्ति ने ऐहोल के पास मेगुटी मे एक जैन मन्दिर बनवाया था और जैन विद्यापीठ की स्थापना की थी। शायद इसी के शासनकाल मे अलक्तक नगर में चालुक्यों के लघुहव्व

नामक उपराजा की पत्नी ने प्रकाण्ड जैन दार्शनिक भट्ट अकलंक को जन्म दिया। वादामी की प्रसिद्ध गुफाओं का निर्माण भी इसी समय हुआ प्रौढ़ संस्कृत में लिखी रविकीर्ति की प्रशस्ति निश्चित ही संस्कृत साहित्य की अनुपम देन है। अकलंक देव संघ के आचार्य थे और विक्रमादित्य साहसतुंग के गुरु थे। इसी वंश के विजयादित्य द्वितीय (६९७-७३३ ई०) के शिलालेख में जैन तीर्थ क्षेत्र कोप्पण का उल्लेख है। आचार्य अकलंक के सधर्मा पुष्पसेन और उनके शिष्य विमलचन्द्र तथा कुमारनंदि और अकलंक के प्रथम टीकाकार बृहत् अनन्तवीर्य भी इसी राजा के आश्रयकाल में रहे है। इसी राजा ने शंख-जिनालय पुलिगेरे जैन मन्दिर आदि के लिए भी पुष्कल दान दिया। यह वंश जैनधर्म का संरक्षक-सा रहा है।

कल्याण के चालुक्य सम्राट भुवनैकमल्ल का १०७१ ई० का एक शिलालेख नान्देड़ के पास तडखेल ग्राम मे मिला जिसके अनुसार सेनापति कालिमय्य तथा नागवर्मा ने निकलंक जिनालय को भूमि, उद्यान आदि अर्पित किये थे। इसी वंश के सम्राट त्रिभुवनमल्ल के समय (१०७८ ई०) एक अभिलेख सोलापुर के समीप अक्कलकोट में मिला है जिसमे जैनमठ के लिए भूमिदान देने का उल्लेख है। चालुक्यो के प्रतिस्पर्धी मालवा के परमार वंशीय राजा भोज के सामन्त यशोवर्मन द्वारा कल्कलेश्वर के जिन-मन्दिर को प्रदत्त दान का वर्णन कल्याण (बम्बई के पास) मे प्राप्त एक ताम्रशासन में मिलता है।

इस प्रकार महाराष्ट्र में जैनधर्म ई० पू० तृतीय-चतुर्थ शती से लेकर मध्ययुग तक अविकल रूप से लोकप्रिय रहा है। जैन कला और साहित्य के विविध आयाम इस काल-खण्ड मे दिखाई देते है। एलोरा की गुफाओ की कलात्मकता और व्यापकता इतिहास की अनुपम देन है। अनेक गण-गच्छो की स्थापना और उनके विकास का श्रेय भी महाराष्ट्र को जाता है। जैनाचार्यों का भी यह कर्मक्षेत्र रहा है। भट्टारक सम्प्रदाय का भी विकास यहां उल्लेखनीय है। मध्ययुग में ही यहाँ ग्रन्थ भण्डारो की स्थापना और भित्तिचित्रों की सरचना हुई है। शैव, वैष्णव और लिंगायत सम्प्रदायों के हिंसक व्यवहार से यद्यपि महाराष्ट्र में जैनधर्म को अनेक घातक संघात सहन पड़े है, फिर भी उनके अस्तित्व को समाप्त नहीं किया जा सका। मुस-लिम आक्रमण भी उत्तरकाल मे हुए उस पर, फिर भी वह अपने अस्तित्व को बचाए रखने मे सक्षम रहा।

मराठी के विकास मे प्राकृत का योगदान बहुत अधिक रहा है। मराठी साहित्य का भी प्रारम्भ जैन कवियो से हुआ है। उन्होने १६६१ ई० मे इस क्षेत्र मे अधिक कार्य किया है। जिनदस, गुणदास, मेघराज, कामराज, सूरिराज, गुणनंदि, पुष्पसागर, महीचन्द्र, महाकीर्ति, जिनसेन, देवेन्द्र-कीर्ति, कललप्पा, भामापन आदि जैन साहित्यकारों ने मराठी मे साहित्य तैयार किया है। यह साहित्य अधिकाश रूप में अनुवादित दिखाई देता है।

जनजातियों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि महा-राष्ट्र मे उनके बीच जैनधर्म काफी लोकप्रिय रहा है। जैनकलार, कासार आदि कुछ ऐसी जनजातियां यहा हैं जो एक समय जैनधर्म मे परिवर्तित हुई थी पर कदाचित् उन्हें ढंग से अपनाया नही जा सका और फलतः वे वैदिकधर्म की ओर पुनः झुक गई। यद्यपि उनके आचार-विचार मे आज भी जैनधर्म की झलक दिखाई देती है फिर भी हम उन्हें जैन कहने मे संकोच करते है। यदि इन जनजातियों बीच जैनधर्म का चिराग जलता और वे एक जैन जाति के रूप स्वीकार कर लिए जाते तो संख्या पर काफी असर होता। साथ ही उनका जीवनस्तर भी बढ़ जाता।

महाराष्ट्र मे जैन समाज विदर्भ, मराठावाड़ा, पश्चिम महाराष्ट्र और दक्षिण महाराष्ट्र में बटा हुआ है। वर्तमान में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदाय संयुक्त रूप से महाराष्ट्री संस्कृति के अंग बन गये है। दिगम्बर संप्रदाय यहा का मूल सम्प्रदाय दिखाई देता है। केतकर के 'महा-राष्ट्री जीवन' ग्रन्थ से भी यह तथ्य उद्घाटित होता है। ग्रामीण भाग मे उनकी सख्या अधिक है। कृषि और व्यापार उनके प्रमुख व्यवसाय है। वैदिक संस्कृति से मिलता-जुलता उनका आचार हो गया है फिर भी सांस्कृतिक धरोहर को सम्हाले हुए है अतः उनकी स्वतंत्र पहिचान भी बनी हुई है। ज्ञानेश्वरी तथा महानुभाव साहित्य में जैनों का ससम्मान उल्लेख हुआ है। मराठी संतो पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। १९५१ की

(शेष पृ० १८ पर)

संस्कृत जैन काव्य शास्त्री और उनके ग्रन्थ

डॉ० कपूरचन्द्र जैन, खातौली

काव्य-सौन्दर्य की परख करने वाला शास्त्र 'काव्य-शास्त्र कहा जाता है। यद्यपि इसके लिए विभिन्न कालों में 'काव्यालंकार', 'अलंकार शास्त्र', 'साहित्यशास्त्र', 'क्रियाकल्प' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु सर्वाधिक प्रचलित नाम काव्यशास्त्र ही है।

इस शास्त्र के उद्गम के विषय मे कुछ निश्चित कह पाना सम्भव नहीं है। भारतीय परम्परा आचार्य भरत से इसका आरम्भ मानती है। राजशेखर कृत काव्य-मीमांसा में वर्णित एक पौराणिक आख्यायिका के अनुसार भगवान् श्रीकण्ठ शिव ने इस काव्यविद्या का उपदेश परमेष्ठी वैकुण्ठादि चौसठ शिष्यों को किया था। उनमें से प्रथम शिष्य स्वयम्भू-ब्रह्मदेव ने इस विद्या का द्वितीय वार उपदेश अपनी इच्छा से उत्पन्न शिष्यो को किया इन शिष्यों में सरस्वतीपुत्र काव्यपुरुष भी एक था। ब्रह्मा ने उसे भूः, भुवः और स्वर्गलोक में काव्यविद्याप्रचार करने की आज्ञा दी। काव्यपुरुष ने अठारह भागों में विभक्त काव्यविद्या का उपदेश अपने शिष्यो को दिया[1] किन्तु इस आख्यान को प्रामाणिक नही माना जा सकता।

भारतीय ज्ञान विज्ञान के उद्गमस्थान वेदो मे भी काव्यशास्त्र के बीज पाये जाते है वहां उपमा रूपकादि अलकार का उल्लेख हुआ है। निरुक्त तथा व्याकरण वेदाङ्गो मे उपमा का विवेचन आया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पातञ्जलि के महाभाष्य मे भी अलकार का वर्णन आया है, तथापि यहा काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध और सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरुपण प्राप्त नही होता। भरत से ही इसका शास्त्रीय और क्रमबद्ध निरुपण आरम्भ हुआ। भरत का समय ई० पू० द्वितीय शती से ई० की द्वितीय शती के बीच डॉवाँडोल है। तदनन्तर भामह, दण्डरुद्र, वामन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ पण्डितराज जगन्नाथ आदि उल्लेखनीय काव्यालोचक हुए। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा सुदृढ और विस्तृत रही है।

जैन साहित्य की भाषा प्राकृत हैं, इसी भाषा में मूल आगम और सिद्धान्त ग्रन्थ सुरक्षित हैं। दार्शनिक ग्रन्थों की भी प्राकृत मे कमी नही है। साथ ही कथा, उपन्यास जैसा ललित साहित्य भी इस भाषा मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होता है। तथापि काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थो की इसमे अत्यन्त कमी है। छन्द विषयक तो ४-६ ग्रन्थ उपलब्ध हैं, पर अलंकार विषयक एक ही ग्रन्थ अब तक प्रकाश मे आया है।

'अलंकार दप्पण' नामक इस लघु ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का श्रेय प्राचीन पोथियो के महान्वेषक अन्वेषकाचार्य स्व० अगरचन्द्र नाहटा को है। उन्होंने जैसलमेर के ग्रन्थ भण्डार से इसकी ताडपत्रीय प्रति प्राप्त कर अपने भातृ-पुत्र श्री भंवरलाल नाहटा से संस्कृत छाया और हिन्दी

(पृ० १७ का शेषांश)

जनसंख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाराष्ट्र में जैनों की संख्या सभी प्रदेशों से अधिक है। लगभग दस लाख जैन यहां हैं। प्रतिशत की दृष्टि से महाराष्ट्र में २६.४२ संख्या है। बम्बई, बेलगाव और कोल्हापुर मे ही लगभग सात लाख जैन है। इसके बाद सांगली ठाणा, नासिक, जलगांव शोलापुर, नागपुर, पूना, आदि शहरों का नाम आता है। महाराष्ट्र इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रदेश कहा जा सकता है जहां जैन संस्कृति आज भी सर्वाधिक पुष्पित फलित दिखाई दे रही है। अभी इसका पृथक्-पृथक् क्षेत्र में मूल्याकन शेष है। साहित्य, कला, संस्कृति आदि विविध दृष्टियो से इस तथ्य पर विचार किया जाना अपेक्षित है। यहां हमने स्थानाभाव के कारण मात्र एक झलक प्रस्तुत की है।

□□

अनुवाद कराकर 'मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित कराया था।

इस ग्रन्थ में कुल १३४ गाथायें है, कर्ता का कोई पता नहीं चलता अलंकार सम्बन्धो विवरण के आधार पर ८वी से ११वी शती के मध्य लिखित और १३वीं शती के पूर्वार्ध में प्रतिलिखित होने का अनुमान श्री नाहटा ने लगाया है।' जैसलमेर के जैन भण्डार में उसकी प्रति प्राप्त होने से लेखक का जैन होना असमीचीन नही है।

कवि ने सर्वप्रथम श्रुतदेवता को नमस्कार किया है, तदनन्तर काव्य में अलंकार के औचित्य और उद्देश्य का वर्णन करते हुए कहा है—

'सव्वाइ कव्वाइ सव्वाइ जेण होति भव्वाइं।
तमलकार भणिमोऽलकार कुकवि-कव्वाणं।।
अच्चंतसुन्दर पिहु निरलंकार जणम्मि कीरंते।
कामिणि-मुह व कव्व होइ पसण्णपि विच्छाअ।।
(अ० द० २-३)

अर्थात् कुकवि के भी काव्यो को सुशोभित करने वाला अलंकार है और जैसे सुन्दर स्त्री का मुख निरलकार होवे पर अत्यन्त सुन्दर और विमल होने पर भी शोभारहित होता है, वैसे ही प्रसाद गुण युक्त होने पर भी निरलकार काव्य शोभा रहित होता है।

आगे ५ पद्यों मे वर्णनीय ४० अलकारो के नाम गिनाये हैं, अनन्तर प्रत्येक अलंकार के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। किन्ही के मात्र लक्षण और किन्ही के उदाहरण काव्य की न्यूनता-घोतक हैं। उल्लिखित अलंकार है—उपमा रूपक, दीपक, रोध, अनुप्रास, आशिय, विशेष, आक्षेप, जातिव्यतिरेक, रसिक, पर्याय, यथासख्य, समाहित, विरोध, संशय, विभावना, भाव, अर्थान्तिरन्यास, परिकर, सहोक्ति, उर्जा, अपह्नुति, प्रेमातिशय, उद्वर्त, परिवृत्त, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, बहुश्लेष, व्ययदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुतप्रशंसा अनुमान, आदर्श, उत्प्रेक्षा, ससिद्धि, आशीष, उपमारूपक, निदर्शनाउत्प्रेक्षा, आभेद, उपेक्षा, वलित, यमक तथा सहित। ये ४६ अलंकार है, किन्तु गाथा में अलंकारो की संख्या ४० बताई गई है। श्री नाहटा ने इसका समाधान दिया है कि प्रेमातिशय से गुणोत्तर तक ६ अलकारो को प्रेमातिशय के अन्तर्गत ही मानना चाहिए।'

रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर उपमारूपक आदि अलकार अन्य अलंकार-ग्रन्थों मे नही पाये जाते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कवि ने इनकी उदभावना स्वयं की है या किसी प्राचीन अलंकार-ग्रन्थ के अनुकरण पर ऐसा लिखा है। शोधार्थियों को उस ओर दत्तावधान होकर प्राकृत अलंकार शास्त्र पर शोध करना चाहिए।

प्राकृत के अन्य छन्दग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं—

१. वृत्तजातिसमुच्चय	विरहांक	६-८वी शती
२. कविदर्पण	अज्ञात	१३वी शती
३. गाहालक्खण	नन्दिताढ्य	१०वी शती
४. छन्दकोष	रत्नशेखरसूरि	१४वीं शती
५ छन्दकन्दली	कविदर्पण का अज्ञात टीकाकार	
६. प्राकृतपैङ्गल	संग्रह	१४वीं शती
७. स्वयम्भूछन्द	स्वयम्भू	८वी शती'

जैन संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अपने काव्यों मे यत्र तत्र काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है और स्वतंत्र रूप से भी ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य जिनसेन ने 'काव्य' की व्युत्पति और परिभाषा करते हुए लिखा है—

'कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तज्ज्ञैर्निरुच्यते।
तत्प्रतीतार्थमग्राम्य सालङ्कारमनाकुलम्।।'

स्वतन्त्र काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय प्रस्तुत है?

वाग्भट प्रथम

वाग्भट प्रथम का वाग्भटालंकार कदाचित पहला प्राप्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। यों तो वाग्भट नाम के ४ कवियों का उल्लेख जैन साहित्य मे हुआ है किन्तु काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे 'वाग्भटालंकार' के लेखक वाग्भट प्रथम और 'काव्यानुशासन' के लेखक वाग्भट द्वितीय कहे जाते हैं। अन्य दो वाग्भटों के सक्षिप्त परिचय के विना यह लेख पूरा नहीं होगा।

एक वाग्भट ने आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टाङ्ग—हृदय की रचना की है। ये सिन्धुदेशवासी थे और पिता

का नाम सिंह गुप्त था। कुछ विद्वानों के मतानुसार ये बौद्धधर्मानुयायी थे। पं० आशाधर ने अष्टाङ्गहृदय पर टीका लिखी थी जो आज अप्राप्य है इसी कारण विद्वान् इन्हें जैन मानते हैं। समय अत्यन्त प्राचीन है।[७]

दूसरे वाग्भट प्रसिद्ध महाकाव्य 'नेमिनिर्वाण' के कर्ता है। जैनसिद्धान्त भवन आरा और श्रवणबेलगोल के जिनदास शास्त्री के पुस्तकालय मे प्राप्त प्रति की प्रशस्ति के अनुसार वाग्भट (बाहड़) छाहड के पुत्र और प्राग्वाट या पोरवाड़ कुल के थे जन्म अहिच्छत्रपुर मे हुआ।[८] वाग्भटालंकार' मे 'नेमिनिर्वाण' के पद्य दिये गये हैं अतः वाग्भट प्रथम (वि० सं० ११७६) ई० १२१२) के पूर्व इनका समय स्वीकार किया जाना चाहिए।

वाग्भट प्रथम के पिता का नाम सोमश्रेष्ठी था। सिंहदेवगणि के कथनानुसार वे महाकवि और एक राज्य के महात्मा थे। कविचन्द्रिका टीका के कर्ता वादिराज ने उन्हे 'महामात्यपदभृत्' लिखा है।[८] वाग्भट ने यत्र तत्र जयसिंह की प्रशंसा की है[९] और एक जगह लिखा है कि ससार मे तीन ही रत्न है अणहिलपाटक नगर, महाराज जयसिंह और 'श्रीकलश' नाम का उनका हाथी।[१०] अतः सिद्ध है कि ये अणहिलपाटक या पुर नगरवासी थे और राजा जयसिंह के समकालीन जयसिंह का राज्यकाल १०९३-११४३ ई० स्वीकार किया जाता है। अतः वाग्भट प्रथम १२वी शती के पूर्वार्द्ध मे हुए। हेमचन्द्र ने द्वयाश्रय काव्य मे वाग्भट को जयसिंह को अमात्य बताया है।[११]

वाग्भटालकार के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नही है। उक्त ग्रन्थ मे जगह-जगह स्वरचित प्राकृत-संस्कृत के उदाहरण कवि की उभयभाषाविज्ञता के समुज्ज्वल निदर्शन है। इसका अपरनाम काव्यलकार भी है। पांच परिच्छेद और २६० पद्य है, काव्यशास्त्रीय सभी विषयो का सक्षेप मे विवेचन है। अनुष्टप का बाहुल्य है। प्रथम परिच्छेद मे काव्य-स्वरूप हेतु बतलाते हुए यह भी बताया गया है कि काव्य-रचनार्थ कौन सी परिस्थितियां अनुकूल हैं। द्वितीय परिच्छेद में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूत इन चार काव्य-भाषाओ का वर्णन कर छन्दोबद्ध गद्यनिबद्ध तथा गद्यपद्यमिश्र ये तीन काव्य के भेद कहे गये हैं। पश्चात् पद, वाक्य और अर्थदोषों का निरूपण है। तृतीय में दसगुणों की सोदाहरण विवेचना चतुर्थ में ४ शब्दालंकारों, ३५ अर्थालकारों तथा वैदर्भी गौणी आदि रीतियों का वर्णन है। पंचम में नव-रसों, नायक-नायिका भेदों तथा अन्य आनुषंगिक विषयों का निरूपण है।

परवर्ती काल में यह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ जिसका निदर्शन इस पर लिखी गई टीकाएं हैं इनमे 'जिनवर्धन सूरिकृत टीका (१४०५-१४१९ ई०) सिंहदेवगणिकृत क्षेमहंसगणिकृत, गणेशकृत, राजहंस उपाध्याय १३५०-१४०० ई०) समयसुन्दरकृत (१६२६ ई०) अवचूरिकृत, कृष्णशर्मकृत, वामनाचार्यकृत तथा ज्ञानप्रमोदगणिकृत टीकाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वाग्भट द्वितीय

यद्यपि अब परम्पराप्राप्त हेमचन्द्र और उनके काव्यानुशासन का विवेचन समीचीन था किन्तु वाग्भटो की परम्परा में वाग्भट द्वितीय का विवेचन असमीचीन नही होगा। वाग्भट द्वि० का काव्यानुशासन महत्त्वपूर्ण कृति है। इन्होने वाग्भटालंकार-कर्ता का उल्लेख किया है और कहा ही कि वे दस गुणों का प्रतिपादन करते है पर वस्तुत. तीन ही गुण हैं। काव्यानुशासन की टीका की उत्थानिका से ज्ञात होता है कि ये नेमिकुमार के पुत्र थे नेमिकुमार के पिता का नाम मक्कल (मोकल) और माता का नाम महादेवी था। नेमिकुमार कौन्तेयकुलदिवाकर, महान विद्वान, धर्मात्मा और महा यशस्वी थे। उन्होने मदपाट मे प्रतिष्ठित पार्श्वनाथ जिनका यात्रा महोत्सव किया था, जिससे उनका यश भुवनव्यापी हो गया था। राहड़पुर मे नेमिभगवान का और नलोरनपुर मे ऋषभ जिनका बाइस देवकलिकाओ सहित विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था।[१२] उनका कुल धन और विद्या से सम्पन्न था। काल के सन्दर्भ मे कोई सकेत उन्होने नही दिया है। डॉ० कृष्णकुमार ने इन्हें १२वी शती के बाद स्वीकार किया है।[१३] पर श्री प्रेमी ने नेमिनिर्वाण, चन्द्रप्रभचरित, नाममाला, राजमती परित्याग आदि ग्रन्थो के उल्लेख का आधार लेकर उन्हे १४वी शती का विद्वान् माना है।[१४] जो समीचीन जान पड़ता है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री भी यही समय मानने के पक्ष में हैं।[१५]

ये दिगम्बराचार्य थे या श्वेताम्बराचार्य यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है। काव्यानुशासन में ऋषभदेव चरित का एक श्लोक है जिसमें जिनसेन (मुनिसेन) और पुष्पदन्त का उल्लेख है साथ ही बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र (लव समन्तभद्र) का एक श्लोक दिया गया है और नेमिनिर्वाण चन्द्रप्रभचरित, राजमती परित्याग आदि ग्रन्थों का उल्लेख है, जो सभी दिगम्बर परम्परा के ग्रथ हैं अतः उन्हें दिगम्बराचार्य ही मानना होगा।

'काव्यानुशासन' के अतिरिक्त 'छन्दोऽनुशासन' प्राप्त है पर ऋषभदेवचरित अप्राप्त है। तीन ही इनकी रचनाए है। काव्यानुशासन की वृत्ति से ज्ञात होता है कि ये नाटकादि के भी अशेष विद्वान् थे सम्भव है अन्य रचनाएँ रही हों, जो आज अप्राप्त है।

छन्दोऽनुशासन की प्रति पाटण के ज्ञान भण्डार मे है। इसमे लगभग ५४० श्लोक हैं और स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। ५ अध्यायों में बिभक्त उसका वर्ण्यविषय निम्न है। (१) सज्ञा (२)-समवृत्ताख्य (३) अर्धसमवृत्ताख्य (४) मात्रासमक और (५) मात्राछन्दक।[१५]

काव्यानुशासन निर्णयसागर से छपा है, यह हेमचन्द्र के काव्यानुशासन की शैली मे लिखा है। सूत्रो पर वृत्ति स्वय वाग्भट ने लिखी है और उसका नाम अलकार तिलक दिया है। काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश आदि प्राचीन काव्य-ग्रन्थो के मतों और विवेचनाओं का ही सग्रह है, मौलिकता कम ही है इसके पाँच अध्यायों मे प्रथम मे काव्य-प्रयोजन, हेतु, भेद का, दूसरे मे सोलह-पद-दोष, १४ वाक्यदोष, १४ अर्थदोष, १० गुणों का तीन में अन्तर्भाव वैदर्भी आदि शैलियो, तृतीय मे ६३ अर्थालंकारों, चतुर्थ मे छः शारदालकारों और पचम में नव-रस, नायक-नायिका भेद तथा रसदोषो का विवेचन है।

(क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. काव्यमीमांसा: अनु० केदारनाथ शर्मा, विहार राष्ट्र-भाषा परिषद् पटना १९६५, प्रथम अध्याय

२. 'मरुधरकेशरी अभिनन्दन ग्रन्थ', जोधपुर-ब्यावर १९६८, पृष्ठ ४३०।

३. वही, पृष्ठ ४३०

४. विशेष विवरण को देखे—प्राकृत साहित्य का इतिहास : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी।

५. आदिपुराण : अनु० पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, १/६४।

६. जैन साहित्य और इतिहास : नाथूरामप्रेमी, बम्बई १९४२, पृ० ४८३।

७. वही. पृ० ४८३

८. वही, पृ० ४८५

९. 'इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुरैरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः स्वर्गोऽप्ययननुमुधा यदि तत्पुरी सा॥
जगदात्म कीर्ति शुभ्रं जनयन्तुदाम धामदोः परिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिह : क्षमाभृदाधिनाथः॥
वाग्भटालकार ४।७६-४५

१०. अर्णहिल्लपाटकपुरमवनिपति : कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह॥
वही ४।१४८

११. A. द्वयाश्रुवकाव्य २०।९१-९२
B. जर्हसिह सूरि कृत कुमारपाल भूपाल चरित के अनुसार कुमारपाल का महामात्य उदयन था और अमात्य वाग्भट पर यह आश्चर्य की बात है कि वाग्भट ने कहीं कुमारपाल का उल्लेख नहीं किया है।

१२. जैन साहित्य और इतिहास : पृष्ठ ४८६-८७

१३. अलकारशास्त्र का इतिहास : डॉ० कृष्णकुमार साहित्य भण्डार मेरठ १९७५, पृष्ठ २१८

१४. जै० सा० और इतिहास : पृष्ठ ४८७-८८

१५. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा : सागर भाग ४। पृष्ठ ३८

१६. वही, पृष्ठ ४०

(गतांक से आगे)

शुद्धि-पत्र

धवल पु० ३ (संशोधित संस्करण)

☐ जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६६	—	सू. पृ. अ. [कोठे के अंतिम कालम की छठी पंक्ति]	सू. पृ. प.
३७२	१७	बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त	बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर पर्याप्त
३८२	१८	अप्कायिक जीवो का	अप्कायिक पर्याप्त जीवों का
३८२	२१	प्रत्येक जीवो का	पर्याप्त जीवो का
३८२	३१	असंख्यातवाँ भाग	संख्यातवाँ भाग
३८३	१२	विष्कम्भ सूची असंख्यातगुणी	विष्कम्भसूची से असंख्यातगुणी
३८४	४	दवमसखेज्जगुण	दव्वमसखेज्जगुण
३८४	२६	सूक्ष्मवायुकायिक	वायुकायिक
३९०	२०	अद्धासमास के लिए	अद्धासमास सम्बन्धी
३९१	३१	आवे उसके लिए	आवे तत्सम्बन्धी
३९२	२७	असंयतदृष्टियो	असंयतसम्यग्दृष्टियों
३९९	२०	छोड़रूप	जोड़रूप
४०८	१७	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	असयतसम्यग्दृष्टि
४१०	२५	औव	जीव
४११	११	अज्जगुणो/असंखेसक्च	असंखेज्जगुणो/असक्च
४१२	२४	वैक्रियिकमिश्रकाययोगियो का	वैक्रियिकमिश्रकाययोगि मिथ्यादृष्टियों का
४१४	३	णज्जदे	जाणिज्जदे
४१६	६	उवसामगो	उवसामगा
४२६	२०	भागरूप ध्रुवराशि	भाग की ध्रुवराशि
४३२	१७	पंज में	पुंज मे
४३२	२७	संख्यात	असंख्यात
४३७	१२	व पदरस्स	वि पदरस्स
४३८	२३	राशि में से एक	राशि सम्बन्धी अवहारकाल मे से एक
४४०	१७	एसे	इसे
४४४	२४	जगच्छ्रेणी से	विष्कम्भसूची से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४४५	६	विसेसाहिया २८।	विसेसाहिया २८। मदिसुदणाणि-उवसामगा संखेज्जगुणा/खवगा संखेज्जगुणा [देखो परिशिष्ट पत्र २६]
४४५	२३	अठाईस हैं। मन:पर्ययज्ञानी	अठाईस हैं। मति श्रुतज्ञानी उपशामक जीव अवधिज्ञानी क्षपकों से संख्यातगुणे हैं। इनसे मति-श्रुतज्ञानी क्षपकजीव संख्यातगुणे है। मन:पर्ययज्ञानी
४४५	२३	अवधिज्ञानी क्षपकों से	मति-श्रुतज्ञानी क्षपकों से
४४६	३	पडिबद्धत्तादो। दुणाणि	पडिबद्धत्तादो। आभिणिणाणी सुदणाणी अपमत्त-संजदा संखेज्जगुणा। तत्थेव पमत्त-संजदा संखेज्जगुणा। दुणाणि [देखो परिशिष्ट पत्र २७]
४४६	६	णेदव्वं। जाव	णेदव्वं जाव
४४६	१४	व्यभिचारी	व्यभिचार
४४६	१६	अवधिज्ञानी प्रमत्तसंयतों से दो ज्ञान वाले	अवधिज्ञानी प्रमत्तसंयतों से मति-श्रुतज्ञानी अप्रमत्तसंयत जीव संख्यातगुणे है। इन्हीं दो ज्ञानों वाले प्रमत्तसंयतजीव उक्त अप्रमत्त-संयतों से संख्यातगुणे हैं। इनसे
४६७	११	प्रमत्तसंयत आदि	प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत आदि
४७३	१८	अभव्यसिद्धिक	भव्यसिद्धिक
४७६	२१	उपशमसम्यग्दृष्टि,	उपशमसम्यग्दृष्टियों में
४८५	२२	संख्यात	असंख्यात
४८७	१२	बन्धक जीव	मिथ्यादृष्टिजीव

विशेष निवेदन इतना है कि ध० पु० ३ पृ० २०६ पर "संतपमाणाणवत्था" का हिन्दी अर्थ सिद्धान्ततः गलत नहीं होते हुए भी मूलानुगामी नहीं है। अतः पुन: देख लें। संत का अर्थ सत्त्व (अस्तित्व-विद्यमानता) है जबकि सातपृथिवी अर्थ निकालना चाहें तो "सत्त" शब्द ही ठीक होगा, जैसा कि पूर्व मुद्रित प्रति में है। इतना सब कुछ होने पर भी संतपमाणाण वत्था या सत्तपमाणाणवत्था का अर्थ विचारणीय निश्चित है। यहां पर क्या कोई पाठान्तर नहीं पाया गया? होता तो लिखते ही। इसका अर्थ तो 'सात पृथिवियों के प्रमाण (संख्या) की अनवस्था', ऐसा होता है। "एग" शब्द इसी वाक्य में आ गया है, अत: उसके परिप्रेक्ष्य में सप्त पृथिवी का वाचक "सत्त" ही होना निश्चित होता है, इतना तो निर्विवाद है। पर तब भी अर्थ पुन: मीमांसणीय अवश्य है।

दूसरा निवेदन यह है कि पृष्ठ २५७ पर विशेषार्थ में—

"परन्तु धवलाकार ने·········· ·· ···परिधि के प्रमाण के ऊपर के" यह लगभग ३½ पंक्तियों का मेटर काट देना ही ठीक प्रतीत होता है।

क्योंकि—

विशेषार्थ में जो कहा है कि—परन्तु धवलाकार ने १३½ अंगुल से अधिक के स्थान में १३½ अंगुल से कुछ कम ग्रहण किया है। यह बात उचित नहीं बैठती है, क्योंकि एक तो यहाँ (मूल में) परिधि निकाली भी नहीं गई है और साधिक १३½ अंगुल परिधि मे ही आते हैं न कि क्षेत्रफल में। पर यहां तो ७९०५६९४१५० प्रवर योजनो मे १३½ अंगुलों को मिलाने के लिए कहा है। मिलाने में यानी योग करने में समान इकाई वाली चीज ही सदा मिलाई जाती है। ऐसा नहीं कि वर्गगज में गज भी मिला दिये जायें। उसी तरह ये देशोन १३½ अंगुल थी प्रतरांगुल (वर्गांगुल) स्वरूप ही होने चाहिए, क्योंकि इनका क्षेत्रफल में प्रक्षेप (मिलाना या जोड़ना) करने के लिए कहा गया है। '१३½ अंगुल' इस संख्या की समानता देखकर इन्हें परिधि विषयक कैसे समझ लिया जाय? यह तो अनुचित बात है, अतः विशेषार्थ में से—"परन्तु धवलाकार ने ·················ऊपर से" इतना प्रकरण अपनेतव्य है। फिर भी पृष्ठ २५६ में १३½ अंगुलों के मिलाने की प्रक्रिया तथा उसमे भी देशोनत्व की गणित किन नियमों से हुई, यह विचारणीय अवश्य है। जम्बूद्वीप की परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोश १२८ धनुष और साधिक १३½ अंगुल होती है।

यथा—जम्बूद्वीप का विष्कम्भ १०००००० योजन; $\sqrt{१०००००^२ \times १०}$ = ३१६२२७ यो०, ३ कोश, १२८ धनुष, १३½ अंगुल साधिक = परिधि।

क्षेत्रफल— परिधि = साधिक ३१६२२७$\frac{३}{४}$ योजन, व्यास = १००००० योजन ; क्षेत्रफल = परिधि × व्यास/४

३१६२२७$\frac{३}{४}$ × $\frac{१०००००}{४}$

= साधिक ७९०५६९४१५० वर्गयोजन (प्रतरयोजन) जम्बूद्वीप का क्षेत्रफल

[जंबूदीवपण्णत्ति पृ० ३]

अथवा :—

"जम्बूद्वीप का सूक्ष्म क्षेत्रफल = सूक्ष्मपरिधि × व्यास का चौथाई

३१६२२७ यो० ३ को. १२८ धनुष १३½ अगुल साधिक × २५००० यो.

= ७९०५६९४१५० वर्गयोजन १ वर्गकोश, १५१५ वर्ग धनुष, २ वर्ग हाथ, १२ वर्ग अंगुल [त्रिलोकसार गा. ३११ पृ. २६० सं० रतनचन्द्र मुख्तार]

यानी ७९०५६९४१५० प्रतरयोजन व साधिक १ वर्गकोश

□ □ □

अनेकान्त के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर; २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय।

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक।

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय।

मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

अज्ञात जैन कवि हरीसिंह की रचनाएँ

□ डॉ० गंगाराम गर्ग

अद्यावधि पूर्णतः अज्ञात हरिसिंह जयपुर राज्य के प्रमुख नगर दौसा (देवगिरि) के रहने वाले थे। कवि के वर्तमान वंशज दौसा निवासी श्री मगनलाल खावड़ा ने महावीर स्मारिका ८५ के अपने एक लेख में उन्हें जयपुर नगर के संस्थापक सवाई जयसिंह का दीवान बतलाया है किन्तु अन्तर्साक्ष्य के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता। अपनी एक फुटकर रचना की प्रशस्ति में कवि ने आमेर के शासक जयसिंह के सेवक 'नैनसुख' को अपने काव्य-प्रेरक के रूप में स्वीकार किया है—

अम्बावती राज महाराज, जैसिंह सेवक है सुखनैन।
जाकै उदै सुमति घटि आई, कीयौ प्रसाद अर्थ सुष लैन। ६

दौसा में निर्मित देवालय मे भी कवि ने 'नैनसुष' का सहयोग स्वीकार किया है—

देवगरी नगरी चतुर बसै महाजन लोक।
तहा देवकी थांपना, भई नैनसुष जोग।२२
बोध पच्चीसी

पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ ने वीरवाणी में प्रकाशित अपने एक लेख "पं० टोडरमल के समय मे जैन दीवान" मे नैनसुख खिदूका (दीवानकाल सं० १८१४ से ३५) नामक एक दीवान का उल्लेख किया है। सम्भवतः यही नैनसुख राज्य कर्मचारी हरिसिंह के अधिकारी दीवान थे; किन्तु इनका दीवानकाल ब्रह्म पच्चीसी के रचनाकाल के अनुसार संवत् १७८ के आस पास प्रारम्भ होना चाहिए। दौसा नगर में स्थित 'पार्श्वनाथ चैत्यालय' मे विद्यमान स्तम्भ-लेख के अनुसार कवि हरिसिंह के पांच छोटे भाई थे—शंकर, श्री चंदकिशोर, नन्दलाल, मनरूप और गोपाल;

हरिसिंह की रचनाए दीवान जी मन्दिर भरतपुर मे विद्यामान एक गुटके मे उपलब्ध हैं रचनाएं इसप्रकार है—

ब्रह्मपच्चीसी : दोहा और छप्पय छंदों में लिखी यह रचना आषाढ़ कृष्ण ११, संवत १७८३ को पूर्ण हुई। ब्रह्मपच्चीसी के प्रारम्भ में ऋषभदेव और शारदा की वन्दना की गई है। अष्ट सिद्धि, नवनिधि के दाता तथा ब्रह्म रूप को दिखाने वाले प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की छवि कवि को बडी आकर्षक लगी है—

छत्र फिरै चमर जुगलदिसि जाकै ढरै, छहौषंड आन जाकी,
आग्या सब मानिबौ।
अंतेवर छिनवै सहस्यतणां भोग रहै, अष्ट सिद्धि नवनिधि,
चहै सोई आनिबौ।
इन आदि विभौ विराग होय, कीनौ त्याग एकाकी मुनिवर
रहत पद ठानिवौ।
तातैं भवि सिव सुषदाई, ब्रह्म रूप लषौ आंन भव दुषकारी
छांडौ सब जानिबौ।

सम्यक् पच्चीसी : सावन सुदि ११ संवत् १७८३ की यह रचना कवित्त, कुण्डलियां, दोहा और चाल छंदों में लिखी गई है। कवि ने इस रचना में पुद्गल के मोह मे अनुरक्त जीवात्मा को सम्यक् दर्शन की प्रेरणा दी है—

मोह पिसाचीनौ बल्यौ आतमराम अयान।
सम्यक् दरसन जब भयो, तब प्रगटयौ सुभ ज्ञानं १४॥
असुचि अपावनि देहमनि, ताके सुष ह्वै लीन।
कहा भूल चेतन करी, रतनत्रय निधि दीन। १५॥

बोध पच्चीसी : इस रचना मे जिन दर्शन के प्रभाव का अनुभव कराते हुए धर्म की महिमा गाई गई है।

छवि देषि भगवान की, मन मैं भयौ करार।
सुर नर फणपति की विभौ, दीसै सबै असार।८
छवी देषि भगवान की, जो हिय मैं आनद।
भयौ कहा महिमा कहू तीन लोक सुषकंद॥

जखड़ी : ५ छन्द की इस छोटी सी रचना मे जैन तत्त्वों में आस्था रखने का उपदेश दिया गया है—

जिन धर्म कथित सुमार्ग रे जिय, तास निज सुष गाइयै।
सो परम ब्रह्म अनादि कबहूं, सम्यक् भाव न भाइयै।।

फुटकर गीत संग्रह :

हरिसिह ने लोक धुनों में कुछ गीत भी लिखे है। 'सिपाहीड़ा की ढाल' संज्ञक एक गति में पंचपरमेष्ठी के ध्यान, और अनुप्रेक्षा धारण करने की प्रेरणा दी गई है। दो अन्य गीतो मे क्रमशः ऋषभदेव के जन्मोत्सव और गिरिनार की महिमा गाई गई है। राजुल विषयक एक गीत में नेमिमथ की बारात और उनके वैराग्य धारण करने का प्रसंग कहा गया है। फुटकर गीतो मे राजस्थानी भाषा की प्रधानता है। नेमिनाथ के 'दूलह' रूप तथा उनकी निकासी का चित्र कितना भव्य है—

कोई गावै कोई नांचै हरष स्यो, कोई मगल कर धार,
बाजा वाजै प्रभु मदिर अति घनां, ताको सोर न पाय।
मोड़ मस्तग प्रभु जी कै बांधियो, रतन जटित कनकाइ।
निरत करत आगैं गुनि जन चलै, पाछै ज्ञानी लारजी।
गज पर चढ़ि प्रभु सोभा अति वनी, चाले जूनानेर हे।

समवशरण सम्बन्धी एक गीत मे रुक्मिणी से प्रेरित होकर कृष्ण और बलभद्र के समवशरण मे जाने का वर्णन किया गया है।

पद संग्रह :

हरिसिंह की काव्य-कीर्ति का प्रमुख आधार सारंग, विहाग, विलावल, कान्हड़ो आदि २० रागो मे लिखित भक्तिपूर्ण पद है। इन पदो मे कवि का आत्म-निवेदन शरणागति की भावना, नाम-स्मरण मे आस्था पदे-पदे दृष्टिगोचर होती है। ससार-चक्र से ऊबे हुए भक्त को जिन-दर्शन की उत्कट लालसा है—

मोहि देषन जिनवर चावरी।
उतम नर भव कुल श्रावक को, पायो मैं यह दावरी।।
कीये परावर्त्तन बहुतेरे, तामैं कहूं न मिलावरी।
भाग विशेष मिलै अब स्वामी, गहि बरन नहि रहाउंरी।।
स्वपर प्रकास ज्ञान की महिमा, ताकौं देत बतावरी।
ऐसी मूरति नूप बिराजत, हूं ताकी बलि जाउंरी।।
इह भवसागर तारन तुम बिन, और कछू न उपावरी।
हरिसिंह आयो तुम सरणैं, अब जु रजा है रावरी।।

जन्म-जन्मान्तरो के पापों को जड़ से उखाड़ फिकवाने के लिए आतुर हरिसिंह प्रभु की शरणागति के लिए बड़े आतुर हैं—

अब हूं कब प्रभु पद परसौ।
नैन निहारि करौं परनामैं, मन बच तन करि हितसौं।
भव भव के अघ लागे तिनकै, मूर उषारौ जरसैं।
सरणैं राषउ जिन स्वामी, और न मांगौं तुम सौं।।
यह बीनती दास हरी की कृपा करौं यह मुझसौ।

प्रभु-नाम के स्मरण से सती अजना और श्रीपाल का हित हो जाने के कारण नाम-स्मरण मे हरिसिह की आस्था भी बढी हुई है। प्रभु-दर्शन की सभावना वह नाम-स्मरण से ही मानते हैं—

प्रभु जी बेगि दरसन देहु।
भये आतुरवत भविजन, ये अरज सुनि लेहु।।
इह ससार अनत, आतपहरन कौं प्रभु मेह।
तुम दरस तैं परषि आतम, गये सिवपुर गेह।।
नाम तुम जन अजना से, किये सिवतिय नेहृ।
पतित उदधि श्रीपाल उधारे, नाम के परचेह।।
इह प्रतीति विचारि मन धरि, कियो निश्चै येह।
सकल मंगल करन प्रभु जी, हरी नमत करेह।।

भक्तिपरक पदों के अनिरिक्त हरीसिह ने विरहिणी राजुल की व्यथा को भी अपने स्वर दिये हैं। विवाह-वेदी पर आने से पूर्व नेमिनाथ के विरक्त हो जाने पर उनकी वाग्दत्ता पत्नी राजुल भी अपना शृगार हटाकर प्रिय की अनुगामिनी बनी है—

प्रभु बिन कैसे रहौगी माई, उन बिनु कछु न सुहाई।
कौन सुनैं हियकी मेरी अब, बिरह भयो दुषदाई।।
इह संसार गहन वन तामैं, प्रभु बिन कौन सहाई।
छिन छिन आव बितीत होत है, काल गयो अनभाई।।
सरणैं जाय करो पिय सेवा, फिरि औसर नहि पाई।
तामैं अब हम पियसौं मिलिहैं, दोउ भव सुषदाई।।
तोड़ सिंगार केस सब तोड़े राजुल गिरि पर जाई।
तप करि कीयो कारिज अपनो, नाम 'हरी' मन भाई।।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि हरिसिंह मुक्तक और गेय दोनों प्रकार के जैन काव्य मे अपना उचित स्थान रखते हैं।

—१०-ए, रणजीतनगर,
भरतपुर

कुछ स्मृतियाँ

१. धर्म प्रभावना कैसे हो ?

वीतराग के आगम में परिग्रह के त्याग का विधान है—साधु को पूर्ण अपरिग्रही होने का और गृहस्थ को ममत्वभाव से रहित परिग्रह के परिमाण का उपदेश है। इन्हीं विचारधाराओं को लेकर जब जीवन यापन किया जाता है तब धार्मिकता और धर्म दोनों सुरक्षित होते हैं। तीर्थंकर की समवसरण विभूति से भी हमे इसको स्पष्ट झलक मिलती है अर्थात् तीर्थंकर भगवान छत्र, चमर, सिंहासन आदि जैसी विभूति के होने पर भी पृथ्वी से चार अंगुल अधर चलते है और बाह्य आडम्बर से अछूते रहते हैं—अन्तरंग तो उनका स्वाभाविक निर्मल होता ही है। इसका भाव ऐसा ही है कि वहाँ धर्म के पीछे धन दौड़ता है और धर्म का उस धन से कोई सरोकार नही होता। पर, आज परिस्थिति इससे विपरीत है यानी धर्म दौड़ रहा है धन के पीछे।

ऐसी स्थिति मे हमें सोचना होगा कि आज धर्म की मान्यता धर्म के लिए कम और अर्थ के लिए अधिक तो नही हो गई है ? तीर्थ यात्राओ मे तीर्थ (धर्म) की कमी और सांसारिक मनौतियो की बढ़वारी तो नही है ? मात्र छत्र चढ़ा कर त्रैलोक्य का छत्रपति बनने की मांग तो नहीं है ? जिन्हें तीर्थकरो ने छोड़ा था उन भौतिक सामग्रियों से लोग चिपके तो नही जा रहे ? कही ऐसा तो नही हो गया कि पहिले जहाँ धर्म के पीछे धन दौड़ता था वहाँ अब धन के पीछे धर्म दौड़ने लगा हो ? कतिपय जन अपने प्रभाव से जनता को बाह्य आडम्बरों की चकाचौध मे मोहित कर कुदेवादि की उपासना का उपदेश तो नही देने लगे ? जहां तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि के प्रचार-प्रसार हेतु वीतरागी पूर्णश्रुतज्ञानी गणधरों की खोज होती थी वहां आज उनका स्थान रागी, राजनीति-पटु और जैन तत्वज्ञान शून्य-नेता तो नही लेने लगे ? आदि। उक्त प्रश्न ऐसे हैं जिनका समाधान करने पर हमें स्वय प्रतीत हो जायगा कि धर्म का ह्रास क्यो हो रहा है।

धर्म प्रभावना का शास्त्रों मे उपदेश है और समाज के जितने अंग हैं—मुनि, व्रती श्रावक, विद्वान् और अव्रती सभी पर धर्म की बढ़वारी का उत्तरदायित्व है। स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में—

'अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्ययथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाश स्यात्प्रभावना॥'—१८

अर्थात् अज्ञान-तिमिर के प्रसार को दूर करके, जिन शासन की–जैसा वह है उसी रूप में महत्ता प्रकट करना—प्रभावना है। प्रभावना में हमे यह पूरा ध्यान रखना परमावश्यक है कि उसमें धर्ममार्ग मलिन तो नही हो रहा है। यदि ऐसा होता हो और उपास्य-उपासक का स्वरूप ही बिगड़ता हो तथा सांसारिक वासनाओ की पूर्ति के लिए यह सब कुछ किया जा रहा हो तो ऐसी प्रभावना से मुख मोड़ना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी किसी भी अवस्था में सांसारिक सुख वृद्धि के लिए धर्म-सेवन नही करता और न वह मान बड़ाई ही चाहता है। कहा भी है—

'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामविनयंचैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥'

सम्यग्दृष्टि जीव भय-आशा-स्नेह अथवा लोभ के वशीभूत होकर भी कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं को प्रणाम विनय (आदि) नही करते हैं। आगे ऐसा भी कहा है कि राग-द्वेष से मलीन—लोकमान्य चार प्रकार के देवों को देव मान कर किसी भी प्रसंग की उपस्थिति में उनकी पूजा आरती वीतराग धर्म की दृष्टि से करना देवमूढ़ता है। इसी प्रकार धर्म मूढता और लोक मूढ़ता के त्याग का भी जिन शासन मे उपदेश है। यहां तो वीतरागता मे सहायक साधनो—सु-देव, सुशास्त्र और सुगुरु की पूजा-उपासना की आज्ञा है, आर्षज्ञाताओं से धर्मोपदेश श्रवण की आज्ञा है। यदि हम उक्त रीति से अपने आचरण में सावधान रहते हैं तो धर्म-प्रभावना ही धर्म-प्रभावना है। अन्यथा यंत्र-मंत्र-तंत्र करने और सांसारिक सुखो का प्रलोभन देने वालों की न पहिले कमी थी और न आज कमी है। हमें सोचना है कि हम कौन-सा मार्ग अपनाएँ ?

सम्यग्ज्ञान मे ये तीनो ही नही होते। सम्यग्ज्ञानी जीवादि सात तत्त्वों को यथार्थ जानता है। ज्ञान के विषय मे आचार्य कहते है—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।

निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥

प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्वों को यथातथ्य जानने वाला ज्ञान-सम्यग्ज्ञान होता है। अतः श्रावक व मुनि दोनों को भौतिक ज्ञान की ओर प्रवृत्त न हो—मोक्षमार्ग में सहायक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और धर्म प्रभावना होना चाहिए।

२. क्या हम श्रावक निर्दोष हैं?

मुनि-पद की अपनी विशेष गरिमा है और इसी गरिमा के कारण इस पद को पंच परमेष्ठियो मे स्थान मिल सका है—'णमो लोए सव्वसाहूणं।'—जब कोई व्यक्ति किसी मुनिराज की ओर अंगुली उठा है तो हमें आश्चर्य और दुःख दोनों होते है। हम सोचते है कि यदि हमें अधिकार मिला होता तो हम ऐसे निन्दक व्यक्ति को अवश्य ही तनखैया' घोषित कर देते जो हमारे पूज्य और इष्ट की निन्दा करता हो। आखिर, हमें सिखाया भी तो गया है कि—"मुनिराज का पद ही गरिमापूर्ण है।" क्या हम यह भी भूल जायें कि—"भुक्तिमात्र प्रदानेन का परीक्षा तपस्विनां" वाक्य हमारे लिए ही है और सम्यग्दृष्टि श्रावक सदा उपगूहन अग का पालन करते है, आदि।

उस दिन हमने एक हितचिंतक की बातें सुनी, जो बड़े दुखी और चिन्तित हृदय की पुकार जैसी लगी। इनमें मुनि-संस्था के निर्मल और अक्षुण्ण रखने जैसी भावना स्पष्ट थी।

बातें समय-संगत थीं और विचार कर सुधार करने में सभी की भलाई है। हमारी दृष्टि मे तो पहिले हम श्रावक ही अपने मे सुधार करें। सम्भवतः हम श्रावक ही मुनिमार्ग को दूषित कराने में प्रधान सहयोगी हैं। हम श्रावक जहाँ इक्के-दुक्के मुनिराज को अपनी दृष्टि से—कहीं किन्हीं अंशों में कुछ प्रभावक पाते है, उनकी अन्य शिथिलताओं को नजरन्दाज कर जाते हैं और साधु को इतना बढ़ावा देने लग जाते हैं कि साधु को स्वयं में एक संस्था बनने को मजबूर हो जाना पड़ता है। साधु के यश के अम्बार लगे रहें और वह भीड़ से घिरा चारों ओर अपने जय-घोष सुनता रहे, तो इस युग मे तो यश-लिप्सा से बचे रहना उसे बड़ा दुष्कर कार्य है। फलतः साधु स्वयं संस्था और आचार्य बन जाता है और भक्तगण उसके आज्ञाकारी शिष्य। नतीजा यह होता है कि साधु की अपनी दृष्टि वैराग्य से हटकर प्रतिष्ठा और यश पर केन्द्रित होने लगती है। उसकी दृष्टि में परम्परागत आचार्य भी फीके पड़ने लगते हैं। बस, साधु की यही प्रवृत्ति उच्छृङ्खल और उद्दण्ड होने की शुरुआत होती है।

जनता दूसरों का माप अपने से करती है। हमे बोलने की कला नहीं और अमुक साधु बहुत बढ़िया—जन-मन-मोहक प्रवचन करते है या हम अपना भ्रमण-प्रोग्राम घोषित कर चलते हैं तो अमुक साधु बिना कुछ कहे ही एकाकी, मौन विहार कर देते हैं तो हम आकर्षित होकर उन्हें हर समय घेरने लगते है—उनकी जय-जयकार के अम्बार लगा देते हैं। पत्रकार प्रकाशन-सामग्री मिलने से उस प्रसंग को विशेष रूपों मे छपाने लगते है। बस, कदाचित् साधु को लगने लगता है कि मुझसे उत्तम और कौन? उसका मोह (चाहे वह प्रभावना के प्रति ही क्यों न हो) बढने लगता है और वह भी ऐसे कार्यों को प्राथमिकता देने लग जाता है जिसे जनता चाहती हो उसके भक्त चाहते हों और जिससे उसका विशेष गुणगान होता हो। वह देखता है—लोगों की रुचि मन्दिरो के निर्माण मे है तो वह उसी मे सक्रिय हो जाता है, साहित्य मे जन-रुचि है तो वह साहित्य लिख-लिखाकर उसके प्रकाशन मे लग जाता है या बाहरी शोध-खोज की बातें करने लगता है अपनी खोज और कर्तव्य को भूल जाता है। आज अविचल रहने वाले साधु भी हैं और वे धन्य हैं।

मुनियों की जयन्तियाँ मनाने उन्हें अभिनन्दन ग्रंथ या अभिनन्दन-पत्रादि भेंट करने कराने जैसे सभी कार्य भी श्रावकों से ही सम्पन्न किये जाते हैं। कैसी विडम्बना है कि—'मारे और रोने न दे'? हम ही बढ़ावा दें और हम ही उन्हें उस मार्ग में जाने से रोकने को कहें? ये तो ऐसा ही हुआ जैसे साधु कमरे में बैठ जाय और गृहस्थ आपस में ऊपर एक पंखा फिट कराने की बातें करें? साधु मना करें तो कहें—महाराज यह तो हम श्रावकों के लिए ही लगवा रहे हैं आदि। जब पंखा लग जाय तब वे ही श्रावक बाहर आकर कहें कि ये कैसे महाराज हैं—'पंखे का उपयोग करते हैं?'

हमने देखा पू० आ० श्री धर्मसागर जी का 'अभिनदन-

ग्रन्थ।' लोगों का कहना है आचार्य श्री इसमें सहमत न थे और अन्त तक इससे दूर रहे उन्होंने नही स्वीकारा जब कि कई मुनि श्रावको की भक्ति के वशीभूत हो अपने स्वयं के पद को भुला बैठते हैं। किसी मुनि के जन्म की रजत, स्वर्ण या हीरक-जयंती मनाई जाती है तो काल गणना माता के गर्भ निःसरण काल से की जाती है—जैसे कि आम संसारी जनों में होता है। जब कि, मुनि का वास्तविक जन्म दीक्षा काल से होता है—वीतराग अवस्था के धारण से होता है और आगम में भी मुनि अवस्था को ही पूज्य बताया गया है। क्या मुनि कोई तीर्थकर है; जो उनको कल्याणकों से तौला जाय ? पर, क्या कहें श्रावक तोलते है और मुनि तुलते हैं। आखिर जरूरत क्या है—घिसे-पिटे दिनो को गिनने की ? क्या इससे मुनि-पद ज्यादा चमक जाता है ? धन्य हैं वे परम वीतरागी मुनि, जो इस सबसे दूर रहते हैं—'हम उनके हैं दास, जिन्होंने मन मार लिया।'

हमे यह सब सोचना होगा और मुनियो के प्रति चिंता व्यक्त न कर, पहिले अपने को सुधारना होगा। काश, हम श्रावक उन्हें चन्दा न दें तो मुनि रसीद पर हस्ताक्षर न करें, आदि। यदि हम ठीक रहें और श्रावक संघ को कर्तव्य के प्रति सजग रखने का प्रयत्न करें तो सब स्वयं ही सही हो—पदेन सभी मुनि उत्तम है।

कैसी बिडम्बना है कि हम अपने नेताओं को और अपने श्रावक-पद को तो सही न करें और पूज्य मुनियों की तथा परायों की चिंता मे दुबले होते रहें।

३. शोध-खोज और हमारा लक्ष्य :

शोध की दिशा बदलनी होगी। आज जो जैसी शोध हो रही है और जैसी परिपाटी चल रही है, उससे धर्म दूर-दूर जाता दिखाई दे रहा है। यह ठीक है कि जैनधर्म शोध का धर्म है पर उसमें शोध से तात्पर्य आत्म-शोध (शोधन) से है, न कि जड़ की गहरी शोध से। जड़ की गहरी शोध तो आज बहुत काल से हो रही है और इतनी हो चुकी है कि दुनियां बिनाश के कगार तक जा पहुंची है—परमाणु-खतरा सामने है। प्रकारान्तर से हम जैनी भी आज जो खोजें कर रहे है, वे पाषाण और प्राचीन लेखन आदि की खोजें भी सीमाओ को पार कर गई है। उनसे हमारे भण्डार तो भरे, पर हम खाली के खाली, जहां के तहां और उससे भी गिरे बीते रह गए और आत्म-लक्ष्य न होने से किसी गर्त में जा पहुंचे। यदि यही दशा रही तो एक दिन ऐसा आयगा कि कोई उस गर्त को मिट्टी से पूर देगा और हम मर मिटेंगे—जैनी नाम शेष न रहेगा—मात्र खोज की जड सामग्री रह जायगी। या फिर क्या पता कि वह भी रहे न रहे। पिछले कई भण्डार तो दीमक और मिट्टी के भोज्य बन ही चुके हैं।

प्राचीन पूर्वाचार्य बड़े साधक थे उन्होने स्वयं को शुद्ध किया और खोजकर हमें आत्म-शुद्धि के साधन दिए। आज भण्डारों से पूर्वाचार्यों कृत इतने ग्रंथ प्रकाश में आ चुके हैं कि अपना नया कुछ लिखने-खोजने की जरूरत ही नहीं रही। हम प्रकाश मे आए हुए मूल ग्रन्थों का तो जीवन मे उपयोग न करें और मनमानी नई पर-खोजों में जुटे रहें, वह भी दूसरों के लिए। यह कहां की बुद्धिमानी है ? हमे अपने जीवन मे आचार पर बल देना ही हमारी सच्ची खोज होगी।

यह हम पहिले भी लिख चुके हैं और आज भी लिख रहे है कि यदि वास्तव मे शोध-खोज का मार्ग प्रशस्त करना है तो हम शुद्ध पंडित परम्परा को जीवित रखने का प्रयत्न करें—जिससे हमें भविष्य में आत्म-शोध का मार्ग मिलता रहे। आचार्यों द्वारा कृत प्राचीन शोधों से हमे वे ही परिचित कराने में समर्थ हैं। इसमे अत्युक्ति नहीं कि भविष्य मे पूर्वाचार्यों द्वारा शोधित ऐसे जटिल प्रसंग हमें सरल भाषा में कौन उपस्थित करा सकेगा, जैसे प्रसंग आयु के उतार पर बैठे हमारे विद्वानो ने जुटाए हैं। षट्खंडागम—धवलादि, समयसार, षट्प्राभृत संग्रह, बंधमहाबंध तथा अन्य अनेक आगमिक ग्रंथों के प्रामाणिक हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत करने वाले इन विद्वानों को धन्य है और इनकी खोजें ही सार्थक हैं। हमारा कर्तव्य है कि उन ग्रंथो का लाभ लें—उन्हें आत्म-परिणामों मे उतारें और आगामी पीढ़ी को उनसे परिचित करायें। बस आज इतनी ही शोध आवश्यक है और यही जैन और जैनत्व के लिए उपयोगी है—अन्य शोधें निरर्थक हैं। वरना, देख तो रहे हैं—जैनियों के ढेर को आप। शायद ही उसमे से किसी एक जैनी को पहिचान सके आप।

एक सज्जन बोले—हमे याद है, जब हमने एम. ए.

कर लिया तो हमारे सामने भी कई हितैषियों द्वारा शोध-प्रबंध लिख कर डिग्री प्राप्त कर लेने की बात आई थी और चाहते तो हम डिग्री ले भी सकते थे। पर, हमने सोचा—शोध तो आत्मा की होनी चाहिए। प्रयोजनभूत तत्वों और आगमिक कथनों को तो आचार्यों ने पहिले ही शोध कर रखा है। क्यों न हम उन्हीं से लाभ लें? यदि हमने प्रचलित रीति से किसी नई शोध का प्रारम्भ किया तो निःसन्देह हमारा जीवन उसी मे निकल जायगा और अपनी शोध—आत्म शोध कुछ भी न कर सकेंगे। बस, हमने उसमे हाथ न डाला। अब यह बात दूसरी है कि परिस्थितियो वश हम अपनी उतनी खोज न कर सके, जितनी चाहिए थी। फिर भी हमे सतोष है कि हम जो है, जैसे हैं, ठीक है। पूर्वाचार्यों की शोध में सतुष्ट, आस्थावान और विवादास्पद एकांगी शोधो से दूर।

क्या कहें, शोध और सभाल की बातें? एक दिन एक सज्जन आ गये। बातें चलती रही कि बीच मे—बिखरे वैभव की रक्षा और शोध का प्रसग छिड़ गया। वे बोले—पडित जी, क्या बताएं? मै अमुक स्थान पर गया। कितना मनोरम पहाड़ी प्रदेश है वह, कि क्या कहू? मैंने देखा वहां हमारी प्राचीन सुन्दर खडित-अखडित मूर्तियो का वैभव बिखरा पड़ा है, कोई उसकी शोध-सभाल करने वाला नही—बड़ा दुख होता है इस समाज की ऐसी दशा को देखकर। वे चेहरे की आकृति से, अपने को बडा दुखी जैसा प्रकट कर रहे थे, जैसे सारी समाज का दुख-दर्द उन्हीं ने समेट लिया हो।

बस, इतने मे क्या, हुआ कि सहसा उन्होने पाकिट से सिगरेट निकाली, माचिस जलाने को तैयार हुए कि मुझसे न रहा गया—मन ने सोचा, वाह रे इनका प्राचीन वैभव। वचनों ने तुरन्त कहा—'कृपा करके बाहर जाकर पीजिए।' वे सहमे। जैसे शायद उस क्षण उन्हें अपनी शोध-सभाल का ध्यान आया हो—क्षण भर के लिए ही सही। वे विर-मत हुए और बात समाप्त हो गई। मैंने सोचा—काश, ये अन्य शोध-संभालों के बजाय आत्म-शोध करते होते। आप इस प्रसग में कैसा क्या सोचते हैं?

जब देश में हिंसा का वातावरण बन रहा है, लोग मछली-पालन और पोल्ट्रीज फार्म कायम करने जैसे धन्धो द्वारा जीवों के वध में लगे हैं तब कुछ लोग उस वध के निषेध मे भी लगे है। कुछ ऐसे भी हैं जो पशु-पक्षियो पर रिसर्च कर ग्रन्थो के निर्माण मे लगे हैं। गोया, अनजाने मे वे मांस-भक्षियों को विविध जीवो की जानकारी दे रहे हों, क्योंकि परमाणु खोज की भांति उसमे भी जीवरक्षा की गारण्टी नहीं है—मास भक्षी ऐसी जानकारी का दुरुप-योग भी कर सकते है। हमने बहुत से आफसैट पोस्टरो को देखा है, जो प्लेट पर अण्डे की जर्दी लगाकर छापे जाते है। अहिंसा के पुजारी बनने वाले कतिपय प्रचारक इसी विधि के पोस्टर बनाने-बनवाने मे सन्नद्ध है, आदि।

हम निवेदन कर दे कि यह अनेकान्त के ४३वे वर्ष की प्रथम किरण है। गत बीते वर्ष में हम स्खलित भी हुए होगे जिसका दोष हमारे माथे है। हम यह भी जान रहे है कि जो मोती चुनकर हम देते रहे हैं उनके पारखी थोडे ही होगे। एक-एक मोती चुनने मे कितनी शक्ति लगानी होती है इसे भी कम लोग ही जानते होगे। धर्म और तत्त्वज्ञानशून्य वर्ग तो हमारे कार्य को निष्फल मानने का दु:साहस भी करता होगा। पर, इसकी हमे चिन्ता नही। यत: सभी हस नही होते। हां, एक बात और, अब तक हमारे महासचिव, सस्था की कमेटी आदि ने हमे पूरा-पूरा सहयोग दिया है। लेखकों के सहयोग से तो पत्रिका को जीवन ही मिलता रहा है। हम सभी के आभारी है और नए वर्ष मे सभी का स्वागत करते है।

—'संपादक'

—द्वन्द-युद्ध—

दोनों ने एक दूसरे को चैलेंज जैसा दे रखा है। एक ओर हैं परिग्रही—आत्मोपलब्धि की चर्चा करने वाले और दूसरी ओर है अकेला अपरिग्रह। अपरिग्रह कहता है कि मेरे अपनाए बिना आत्मोपलब्धि असंभव है और वे हैं—वाचन और पाचन को बेचैन—भोगों में रस लेते, आत्मोपलब्धि की रट लगाए।

हमारे ख्याल से तो तीर्थंकरों ने भी अरूपी आत्मा की ओर ऐसी दौड़ें नहीं लगाईं। पहिले उन्होंने बारह भावनाओं का चिन्तवन कर इन्द्रियगम्य—नश्वर शरीर-भोगों को पहिचान कर छोड़ा तब आत्मा में रह सके। देखें—कौन जीतता है?

'निष्काम साधक'

(श्री यशपाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ)

☐ समीक्षक—डॉ० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया

प्रकाशक : श्री यशपाल जैन अभिनन्दन समारोह समिति द्वारा सस्ता साहित्य मण्डल, ६१७७, कनाट सरकस, नई दिल्ली।

पृष्ठ-संख्या : बड़े आकार के आठ सौ अट्ठाईस। १०० से अधिक चित्र आर्ट पेपर पर, नयनाभिराम प्रकाशन।

मूल्यमान् : रु० २५१-०० मात्र।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते है। जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, आकाश और काल नामक षट्द्रव्यो के समूह को कहते है संसार। ससार में कोई वदनीय है तो वह है गुण। गुण सदा शाश्वत रहते हैं। जीव अथवा प्राण एक अविनाशी द्रव्य है, गुण है। प्राण जब पर्याय धारण करता है तब कहलाता है प्राणी। पर्याय बदलती रहती है।

अभिनन्दन ग्रंथ शाब्दिक वंदना का समवाय है। इसमें जिस व्यक्ति पर आधारित अभिनन्दन ग्रंथ रचा जाता है, उसके गुणों का वर्णन किया जाता है। विवेच्य अभिनंदन ग्रंथ साहित्य-वारिधि, पद्मश्री, श्री यशपाल जी जैन के गुणों की मंजूषा है। इसका विशालकाय होना इस बात का प्रमाण है कि उनमें 'गुणो' का परिमाण कितना विराट और वजनीक है। अभिनन्दन-परम्परा में नागरिक-प्रमुख भारतरत्न श्रीमती इन्दिरा अभिनन्दन ग्रन्थ विशालतम प्रकट हुआ है और संतजगत में अभिनन्दन ग्रन्थ पहल करता परमवद्य आचार्य देशभूषणजी महाराज पर आधारित अभिनन्दन ग्रन्थ। साहित्यिकों-सामाजिकों में जितने अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकट हुए है, उनमे 'निष्काम साधक' निस्सदेह निराला है। निरुपमेय है।

हिन्दी मे सम्पादन की परम्परा आधुनिक हिन्दी साहित्य के पुरोधा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी द्वारा प्रवर्तित है। अभिनन्दन-ग्रन्थों के सम्पादन मे सींक, बडी करने वालों मे अगुआ रहे है राजसम्मानित सांसद प० बनारसी दास चतुर्वेदी। 'निष्काम साधक' के प्रधान सम्पादक है—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी। 'निष्काम साधक' के विषय में उनकी क्या और कैसी धारणा रही है, उसका आस्वादन उन्ही की शब्दावली मे द्रष्टव्य है, यथा :

"इस ग्रंथ मे बहुत-कुछ ऐसा है, जो पाठकों को प्रेरणा दे सकता है। यशपालजी के जीवन में बड़े उतार-चढ़ाव आए हैं, उन्होने अच्छे-बुरे दोनों तरह के दिन देखे है; किंतु उनकी सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होंने नीति के मार्ग को कभी नहीं छोड़ा। इतना ही नही, जिसे उन्होंने ठीक माना, उस पर दृढतापूर्वक चलते भी रहे हैं।"

"हम निस्सकोच कह सकते हैं कि यशपालजी में कुछ ऐसी विशेषतायें है जो सामान्यतः दूसरों में नही मिलतीं। वह परिश्रमशील है, मुक्त भाव से लिखते हैं और मुक्त भाव से अपनी बात भी कहते है। अपनी लेखनी और अपनी वाणी पर उन्होने कभी कोई अकुश स्वीकार नही किया।

वर्तमान युग मे जबकि मूल्यो का संकट उपस्थित हो गया है, यह काम आसान नही कि व्यक्ति जो चाहे, वह कहे और जो चाहे, वह लिखे; पर यशपालजी ने वह रास्ता आरम्भ से ही चुना है और अब भी उसी रास्ते पर निर्भीकतापूर्वक चले जा रहे हैं। इसमें जो खतरे है, उनकी उन्होंने कभी परवाह नही की।

"इस ग्रंथ की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे एक परम आस्थावान् आशावादी, मूक और मुक्त व्यक्ति की कहानी है। इस ग्रंथ को जो भी पढ़ेगा, उसे कुछ न कुछ अवश्य मिलेगा।" सम्पादक की शब्दावली में 'निष्काम साधक' की राम-कहानी साफ और सुथरी शैली मे कही गई है।"

ग्रंथ का प्रारम्भ सन्देश और शुभ कामनाओं से होता है, जिसमे अनेक महापुरुषों के उद्बोधक विचार और वरिष्ठ जनों के मंगल-वचन तथा देश-विदेश से प्राप्त शुभ कामनाएँ संग्रहीत हैं। सन् १९७२ में षष्ठि-पूर्ति के अवसर पर श्री यशपालजी को एक विशाल हस्त-लिखित ग्रंथ

'समन्वयी साधु साहित्यकार' भेंट किया गया था। उसके लिए मंगल कामनाएँ भेजने वाले महानुभावों में से जो हमारे बीच नहीं रहे, उनके उद्गार—'अशेष आशीष' उपखंड में दे दिए गए हैं। शेष तथा अन्य 'जीवेम शरद: शतम्' उपखंड में सम्मिलित किए गए हैं। इन भावोद्गारों को पढ़कर पता चलता है कि यशपालजी के प्रति देश-विदेश में कितनी अधिक आत्मीयता है।

'व्यक्तित्व और कृतित्व' अध्याय में भारत तथा अन्य देशों के उन व्यक्तियों के संस्मरण दिए गए हैं, जिन्हें यशपालजी के सम्पर्क में आने का अवसर मिला था। इन सभी संस्मरणों को तीन उपखंडों में विभाजित किया गया है। 'पुण्य पुरुषों की कलम से' की सामग्री 'समन्वयी साधु साहित्यकार' हस्तलिखित ग्रंथ के उन हितैषियों की है, जिनका निधन हो गया है। अन्य संस्मरणों को 'समकालीनों की दृष्टि मे' दिया गया है। पारिवारिक उपखंड मे परिवार के सदस्यों की भावनाएँ संकलित हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सारे सस्मरण यशपालजी की मानवीय गुणवत्ता तथा उनके द्वारा की गई मानवीय मूल्यों की उपासना पर प्रकाश डालते हैं।

'निष्काम साधक' का अगला अध्याय है 'प्रवासी भारतीयों के बीच' यशपालजी को संसार के लगभग ४२ देशों में जाने का सुयोग मिला है। विभिन्न देशो मे उनके योगदान के सम्बन्ध में जो लेख प्राप्त हुए है, उन्हें इस खंड में दिया गया है। उस सबसे स्पष्ट हो जाता है कि यशपालजी जहां कहीं गए हैं, भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन और हिन्दी साहित्य का सन्देश लेकर गए हैं। इस सन्देश-थाती का विभिन्न देशों के निवासियों विशेषकर प्रवासी भारतीयों पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा है, उसका अनुमान इस खंड में प्रकाशित सामग्री को बांचकर लगाया जा सकता है।

'जीवन के विविध सोपान' नामक अगले अध्याय में श्री यशपालजी स्वयं अपने जीवन-विकास की कहानी लिखते हैं। ग्रामीण परिवेश तथा परिवार से उन्हें जो संस्कार बचपन में प्राप्त हुए हैं, उन्हें किस प्रकार पचाया और परिपुष्ट किया है, उस सबका विस्तारपूर्वक उल्लेख इस अध्याय की सामग्री में किया गया है। इस अध्याय में सम्पादित सामग्री की सबसे बड़ी उपलब्धि है पाठकों को सद्-असद् प्रवृत्तियों का अवबोध और उसके द्वारा जीवन को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग की ओर उन्मुख करना। इसी अध्याय में 'चित्रावली भी दी गई है, जिनमें बड़े और विरल महापुरुषों के साथ यशपालजी दर्शाये गए हैं।

'निष्काम साधक' का अगला अध्याय है—'रचना संसार।' श्री यशपालजी ने समाज तथा देश की जो सेवा की है, उसका माध्यम रहा है उनकी लेखनी। उन्होंने विविध विधाओं में साहित्य रचा है। कहानियों, कविताओं, संस्मरणों, बोध-कथाओं, निबंधों तथा यात्रा-वृत्तान्तों आदि-आदि के द्वारा उन्होने हिन्दी साहित्य के भंडार को समृद्ध किया है। सकड़ों कृतियों में से कतिपय रचनाएँ बानगी के रूप मे इस अध्याय में दी गई हैं। इससे यशपालजी का साहित्यिक व्यक्तित्व ही उजागर नहीं हुआ है, अपितु उनकी अभिव्यक्ति क्षमता और भाषा-विषयक विलक्षणता का भी आभास हो जाता है।

'जननी जन्म भूमिश्च' नामक अध्याय मे श्री यशपाल जी की जन्म-भूमि ब्रज भूमि के विषय मे उन मूर्धन्य विद्वानो की रचनाओं का संकलन किया गया है, जिनसे वहां की संस्कृति, साहित्य और धर्म का महत्त्व मुखर हो उठा है। ब्रज की विभूतियों का भी सहज में अवबोध हो जाता है।

'जैन संस्कृति' अगला अध्याय है। यशपालजी का जन्म जैन परिवार में हुआ, उनमें जिनधर्म के प्रति गहरी आस्था है। इस अध्याय में जिनधर्म, दर्शन और संस्कृति को उजागर करने वाली रचनाओं को संकलित किया गया है। लेखक रहे हैं जैन जगत के जाने-माने मनीषी।

'भारतीय संस्कृति' ग्रंथ का अगला अध्याय है। इसमे उन विरल विद्वानों के अमूल्य निबंधों का संकलन है, जिनका महत्त्व आज भी ज्यों-का-त्यों सुरक्षित है। सर्वोदय (मो० क० गांधी), प्राचीन भारतीय परम्परा में त्रेत परात्पर-तत्त्व (श्री अरविन्द), भारतीय संस्कृति में अद्वैत का अधिष्ठान (साने गुरूजी) मन की महिमा (स्वामी मुक्तानन्द परमहंस), अणुव्रत की क्रान्तिकारी पृष्ठभूमि (आचार्य तुलसी), दृश्य से द्रष्टा की ओर यात्रा (आचार्य

रजनीश) सुखी इसी जीवन में (स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती), भारतीय दर्शन (युवाचार्य महाप्रज्ञ), अहिंसा सार्वभौम (जैनेन्द्र कुमार), श्री अरविन्द और माताजी के जीवन-दर्शन का प्रधान प्रभाव (डा० इन्द्रसेन), भारतीय संस्कृति-स्वरूप चिन्तन (डा० बल्देव उपाध्याय), भारतीय संस्कृति के अवदान (डा० प्रभाकर माचवे), भारतीय ललित कलाओं का आकलन (प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी), भारतीय संस्कृति और श्रमण परम्परा (डा० हरीन्द्रभूषण जैन), लोककल्याण के लिए विनोबा के सिद्धान्तो की सार्थकता (सुशील अग्रवाल), भारत का एक बिश्वासी खेल : छक्का चपेटा (कृष्णानन्द गुप्त), सात निषेधात्मक सूत्र (चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय), तथा भारतीय जीवन में लोक-शक्ति का अधिष्ठान (सिद्धराज ढड्ढा) जैसे सुधी लेखकों की अमृतवाणी को शब्दायित किया गया है। इन सभी सिद्धान्तो ने श्री यशपालजी के जीवन को प्रभावित किया है। कहा जा सकता है कि जैन सिद्धान्तों से अनुप्राणित गांधी-दर्शन की छाप उनके जीवन पर सर्वाधिक पड़ी है।

इसी प्रकार 'निष्काम साधक' मे अगला अध्याय है 'हिन्दी का वैभव।' श्री यशपालजी का सम्पूर्ण जीवन साहित्य की सेवा मे ही व्यतीत हुआ है। उन्होने अर्द्ध शताब्दी की सुदीर्घ अवधि मे कहानिया, कविताएँ, निबध, यात्रा-विवरण आदि अनेक विधाओ मे हिन्दी साहित्य की धाराओं को परिपुष्ट किया है। इस अध्याय में हिन्दी के आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

ग्रंथराज का अन्तिम अध्याय है 'परिशिष्ट' रूप का। जिसमें विवेच्य श्री जैन की जीवन-यात्रा की तालिका प्रस्तुत की गई है. जो इतिहास के क्रमिक विकास पर अच्छा प्रकाश डालती है। परिशिष्ट दूसरे मे आपकी रचनाओं की तालिका दी गई है।

इतने विशाल महाग्रथ के प्रकाशन से जहां एक ओर श्री यशपालजी की आदर्श जीवन-यात्रा का क्रमबद्ध विकास-आभास मिलता है, वहां दूसरी ओर भारतीय संस्कृति साहित्य, इतिहास, कला, दर्शन और धर्म का विरल भंडार एक स्थान पर उपलब्ध हो जाता है। अन्वेषण-क्षेत्र के अध्येताओं के लिए प्रस्तुत महाग्रंथ एक सन्दर्भ-ग्रथ की नाई अपनी उपयोगिता रखता है। ग्रथ की साज-सभार इतनी आकर्षक और मूल्यवान है कि दर्शक और पाठक का मन पन्ने पलटते अघाता नही। हर पन्ने मे मानवीय मूल्यो का प्रकाश विकीर्ण होता दीख पडता है।

इतने विशाल किन्तु विचारवंत सामग्री का सवाहक 'निष्काम साधक' महाग्रथ का सम्पादन और प्रकाशन निश्चित ही हिन्दी ससार के गौरव को बर्द्धमान करता है और मानवीय मूल्यो का महत्व-वर्द्धन।

इत्यलम्।

मगल कलश
३९४, सर्वोदय नगर,
आगरा रोड, अलीगढ़-१

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । स. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । २५ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : सपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४३ : कि० २ अप्रैल-जून १९९०

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	अनेकान्त-महिमा	१
२.	क्या नवग्रह पूजा शास्त्र-सम्मत है ? —उदयचन्द जैन एम. ए., वाराणसी	२
३.	महान सम्राट अशोक का संवत्सर—श्री अभयप्रकाश जैन	५
४.	शुभाशुभ और शुद्ध भाव—श्री नरेन्द्रकुमार शास्त्री	८
५.	त्रिशष्ठि शलाका पुरुष–राम, लक्ष्मण, रावण —कु० विभा जैन	१०
६.	भूले-बिसरे जैन भक्त कवि—डा० गंगाराम गर्ग	१२
७.	दशलक्षण पर्व : क्या यह शास्त्र सम्मत है ? —डॉ० कपूरचन्द जैन खतौली	१५
८.	पर्यूषण और दशलक्षण धर्म—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	१७
९.	संस्कृत के पूर्व मध्यकालीन जैनकवि जटासिंहनन्दि : परिचय एवं कालनिर्णय—डॉ० कमलकुमारी, आरा	२१
१०.	नये प्रकाशन पर साधुवाद—श्री मुन्नालाल जैन प्रभाकर	२४
११.	मुन्नालाल की शंकाओं का समाधान—श्री बाबूलाल जैन	२८
१२.	ग्राम पगारा की जैन प्रतिमाएँ—श्री नरेशकुमार पाठक	३०
१३.	जरा सोचिए—संपादक	३१
१४.	कहीं जैन डूब न जाय—सम्पादक आवरण	२
१५.	आगमों से चुने : ज्ञान-कण— श्री शान्तिलाल जैन आवरण	३

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

सावधान !

कहीं जैन डूब न जाय

—त्यागियों और श्रावकों द्वारा "चारित्तं खलु धम्मो" वाक्य को पूर्ण आचरण में न लाया जाना—उनके द्वारा योग्य चारित्र के पालन की उपेक्षा किया जाना जैन को ले डूबेगा।

—*धर्म के मूलरूप दिगम्बरत्व—अपरिग्रहत्व से लोगों की* अरुचि होना और मूल से विपरीत—सीमित आवश्यकताओं से अधिक परिग्रह का रुचि पूर्वक संचय, संरक्षण और संवर्धन कर उसमें गृद्धता रखना जैन को ले डूबेगा।

—आगम में इस आत्मा को वर्ण, रस, गंध, स्पर्श रहित अरूपी-अदृश्य कहा है इस मान्यता के खिलाफ आत्मा को देखने-दिखाने, पहिचानने-पहिचनवाने की बातें करना तत्त्वार्थ-अश्रद्धान का ही द्योतक है। क्या, पर-संग रहित अरूपी आत्मा को—वह भी भोगों में रत रहते, देखने-दिखाने की बातें छल और मिथ्यात्व नहीं ?

—आश्चर्य है कि *लोग* भाग्योदय से प्राप्त अपनी ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग पहिले अपनी पहुँच योग्य—अनित्य (रूपी) पदार्थों की असारता के चिंतन में लगाकर तीर्थंकरोंवत् विरक्त तो नहीं होते—उल्टे, अपनी पहुँच से बाहर अरूपी आत्मा को पाने की चर्चायें करते हैं वह भी भोगों में रत रहकर। ये भी मिथ्यादृष्टि जैसा उल्टा प्रयास जैन को ले डूबेगा।

—लोग मानते हैं कि सम्यग्दर्शन और आत्म-दर्शन पहिचान से परे हैं- किसको हैं, किसको नहीं, यह सर्वज्ञ जाने। फिर भी वे शून्य में हाथ मारने जैसी इन दोनों की रटन लगाए हैं। चारित्र पालन और परिग्रह परिमाण या परिग्रह-त्याग पर उनकी दृष्टि नहीं जाती। दृष्टि जाय भी तो कैसे ? उसमें त्याग और श्रम जो है और इन्हें चाहिए संग्रह, मौज और यश। बस, इनका ऐसा व्यवहार जैन को ले डूबेगा।

—*स्मरण रहे, आत्मसाक्षात्कार तो अनासक्ति में स्वयं होता है*—आत्मा के प्रति आत्मा को पकड़ के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। आश्चर्य है कि आसक्त लोग आसक्तों को आत्मदर्शन के स्वप्न दिखा 'परस्परं प्रशंसन्ति' से पापबन्ध कर रहे हैं।

—जैनधर्म निवृत्ति प्रधान है। तीर्थंकरों जैसे महापुरुषों ने पहिले बारह भावनाओं के माध्यम से दृश्य-संसार, शरीर, भोगों की असारता को विचारा, उनसे निवृत्ति ली तब अपने में रह सके। पर आज निवृत्ति के स्थान पर प्रायः परिग्रह में प्रवृत्ति का लक्ष्य है। पर-द्रव्य से राग कर अनाप-शनाप धन, जायदाद, यश-ख्याति अर्जन में लीन होकर आत्मा को देखने-दिखाने की रटना लगाई जा रही है, जो चारित्र के अभाव में जैन को ले डूबेगी। सावधान !

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

ओम् अर्हम्

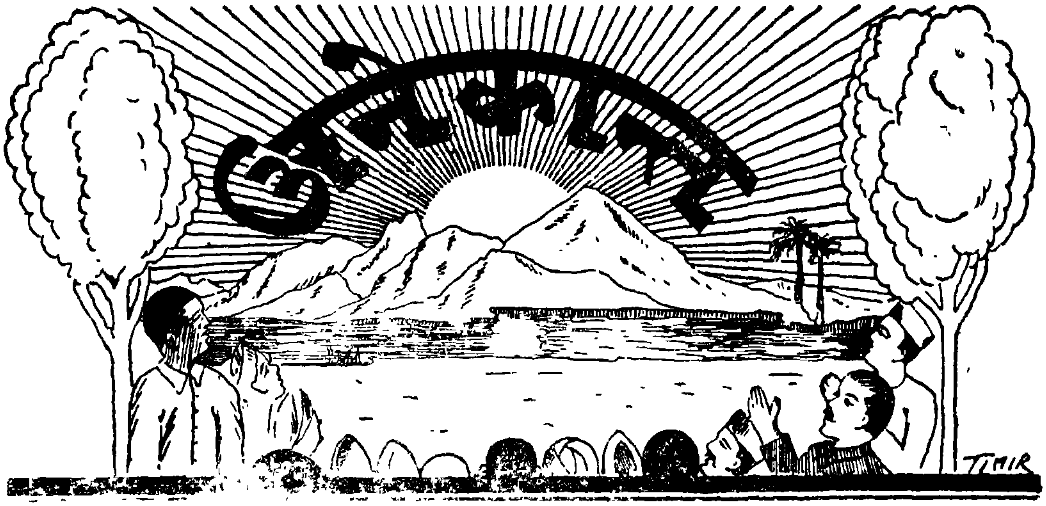

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४३ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१६, वि० सं० २०४७ | अप्रैल-जून १९९०

अनेकान्त-महिमा

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्तो प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।।
जेण विणा लोगस्स विववहारो सव्वहा ण णिध्वडइ ।
तस्स भुवनेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ।।'
परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरभिधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।'
भद्दंमिच्छादंसण समूह महियस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ।।'

अनन्त-धर्मा-तत्त्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक्-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति—जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे—हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नहीं बन सकता, उस भुवन के गुरु—असाधारणगुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार हो ।। जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकांत को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु-स्वभावों के विरोधों का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवनभूत, एक पक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूँ ।।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप; सुखपूर्वक समझ में आने वाले; भगवान जिन के (अनेकान्त गर्भित) बचन के भद्र (कल्याण) हों ।। □□

क्या नवग्रह पूजा शास्त्र सम्मत है ?

□ उदयचन्द्र जैन एम. ए., सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार ग्रह ६ होते है। उनके नाम इस प्रकार हैं—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु। ज्योतिषियो के अनुसार ये ग्रह व्यक्तियों को ही नही, किन्तु राष्ट्रों को भी समय-समय पर फल देते रहते है। कानपुर, वाराणसी आदि कई स्थानों से प्रकाशित होने वाले दैनिक जागरण मे प्रत्येक सोमवार को प्रसिद्ध ज्योतिषी के० ए० दुबे पद्मेश के ग्रहों के सम्बन्ध में एक या दो वक्तव्य निकलते रहते हैं। जैसे—वक्री ग्रह बड़ी दुर्घटना करायेंगे। १७ मई तक बुध और शनि का वक्री होना कोई बड़ी दुर्घटना करायेगा। रेल, यान, सड़क या अन्य दुर्घटनाओ से कई हजार व्यक्ति प्रभावित होंगे। वक्री ग्रह मौसम को भी प्रभावित करेंगे। बुध का पूर्व में उदय होना महा उत्पात कारी होगा। ४ मई से शनि वक्री चल रहा है और वक्री शनि २३ सितम्बर ६० तक रहेगा। शनि के साथ बुध भी वक्री है। लेकिन जब बुध का पहले ही पूर्व दिशा मे उदय हो और शनि वक्री रहे तो अनेक प्रकार की दुर्घटनायें होती हैं। हिंसा व आगजनी की घटनाएँ देश के अनेक अंचलो में होंगी। दिल्ली मे भी कुछ विशेष अप्रिय घटनाएँ घट सकती हैं। बुध के उदय हो जाने तथा शनि के वक्री होने के कारण कुछ खाद्यान्न वस्तुओं मे मन्दी आयेगी।

इस प्रकार से ग्रहों को लेकर सामान्य भविष्यवाणी के अतिरिक्त व्यक्तिगत भविष्यवाणी भी निकलती रहती है। जैसे—शरद पवार अपना कार्यकाल न पूरा कर सकेंगे। क्योकि शनि इन वर्षों में मकर और कुंभ मे रहेगा। बृहस्पति इन वर्षों में कई बार षडाष्टक योग बनायेगा। शनि और बृहस्पति का षडाष्टक योग उन्हें पद मुक्त होने के लिए बाध्य करेगा। इस कारण वे अपना पाँच वर्ष का कार्यकाल पूरा नही कर सकेंगे। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि दुबे जी ग्रहों को लेकर विभिन्न प्रकार की भविष्यवाणी तो करते रहते हैं किन्तु वे ग्रहों की शान्ति के लिए कोई उपाय बतलाते हों यह देखने में नहीं आया है।

ज्योतिष के अनुसार व्यक्तियों पर ग्रहों का जो प्रभाव होता है उसकी शान्ति के लिए ज्योतिषी कई प्रकार के उपाय बतलाते हैं। जैसे—विभिन्न प्रकार के मूंगा, रुद्राक्ष आदि का धारण, दान, पुण्य आदि। पता नहीं इस प्रकार के उपायो से ग्रहो की शान्ति होती है या नही। ग्रहों के सम्बन्ध में एक बात यह भी विचारणीय है कि जन्म के समय जन्मकुण्डली मे जो ग्रह जिस रूप मे पड़ जाते है क्या वे जीवन भर उसी रूप मे उस जीव को फल देते रहते है। ग्रहों के सम्बन्ध में इतनी भूमिका बतला देने के बाद अब हम प्रकृत विषय पर विचार करते हैं।

यहाँ विचारणीय यह है कि ग्रह जड़ है या चेतन। जैनधर्म के अनुसार ग्रह चेतन है। अर्थात् वे ज्योतिषी देव है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र मे बतलाया है—सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह नक्षत्र प्रकीर्णकतारकाश्च। अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये पांच प्रकार के ज्योतिषी देव हैं। किन्तु आधुनिक विज्ञान के अनुसार ग्रह जड़ (अचेतन) है। ग्रह चाहे जड़ हो या चेतन दोनों ही स्थितियो मे वे अपना प्रभाव चेतन और जड़ पदार्थों पर कैसे डालते है अर्थात् अच्छा या बुरा फल कैसे देते हैं यह बात विशेषरूप से विचारणीय है। जैन दर्शन के अनुसार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई क्रिया या प्रतिक्रिया नही कर सकता है। निश्चयनय से सब द्रव्य अपने में ही परिणामों का कर्ता है और पुद्गल द्रव्य अपने परिणामों का कर्ता है।

यहां एक बात यह भी विचारणीय है कि जीवों को जो शुभ या अशुभ फल मिलता है वह ग्रहों के द्वारा

मिलता है या कर्मों के द्वारा। जैन दर्शन तो कहता है कि सब जीव अपने अपने कर्मों का फल भोगते रहते हैं। सन्त कवि तुलसीदास ने भी कहा है कि 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ तो तस फल चाखा।' जैन दर्शन के अनुसार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म होते हैं। और जब तक ये कर्म सत्ता में बने रहते हैं तब तक यह जीव चारों गतियो में भ्रमण करता हुआ जन्म, जरा, मरण आदि के विविध दुःखों को भोगता रहता है।

हिन्दू धर्म का पञ्चामृत भिषेक, भगवान् के चरणों मे पुष्प, फल आदि चढ़ाना आदि अनेक बातें जैनधर्म में आ गई हैं। हिन्दू धर्म में ग्रहो की शान्ति के लिए कुछ उपाय बतलाये गये है। इसी से प्रभावित होकर किसी जैन विद्वान् ने भी ग्रहो की शान्ति के लिए नवग्रह पूजा का विधान बतला दिया है। यहाँ प्रश्न यह है कि यदि ग्रहो की शान्ति करना है तो क्या देवशास्त्र गुरुपूजा, चोबीस तीर्थंकर पूजा, सिद्ध पूजा, शान्तिनाथ पूजा, पार्श्वनाथ पूजा, महावीर पूजा आदि पूजाओ के करने से ग्रहो की शान्ति नही होगी और नवग्रह पूजा करने से नवग्रह जन्य अरिष्ट की शान्ति हो जायगी। हमारी समझ से ऐसा सोचना गलत है। जैन धर्म के किस शास्त्र मे ऐसा लिखा है कि नवग्रह फल देते है और उनकी पूजा करने से तज्जन्य अरिष्ट की शान्ति हो जाती है।

अब हम नवग्रह की जो पूजा है उस पर विचार करते हैं। श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर दिल्ली से प्रकाशित 'नित्य पूजन पाठ प्रदोप' नामक पुस्तक मेरे सामने है। उस पुस्तक मे नवग्रह पूजा के लेखक का नाम नही दिया गया है। पूजन के किसी भी भाग मे लेखक का नाम नहीं मिला। सम्भव है कि पुस्तक मे लेखक का नाम भूल से छूट गया हो अथवा पुस्तक के सम्पादक को भी लेखक का नाम ज्ञात न हो। इसके लेखक की जानकारी न होने से यह जानना कठिन है कि नवग्रह पूजा की रचना किसने की और कब की। इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि इस पूजा के रचयिता सस्कृतज्ञ भी रहे हैं। इसी कारण उन्होंने नवग्रह पूजा की स्थापना का पद्य संस्कृत में लिखा है और सम्पूर्ण पूजा हिन्दी में लिखी है।

नवग्रह पूजा के प्रारम्भ में जो संस्कृत पद्य है उसमें पूजा का प्रयोजन इस प्रकार बतलाया गया है—'भव्य-विघ्नोपशान्त्यर्थं ग्रहार्चा वर्ण्यते मया।' अर्थात् भव्य जीवों के विघ्नों की शान्ति के लिए मेरे द्वारा ग्रहों की पूजा का वर्णन किया जाता है। यहाँ 'ग्रहार्चा' शब्द ध्यान देने योग्य है।

हिन्दी पद्य में भी लिखा है—

आदि अन्त जिनवर नमो धर्म प्रकाशन हार।
भव्य विघ्न उपशान्ति को ग्रह पूजा चित धार॥
काल दोष परभाव सों विकल्प छूटे नाहिं।
जिन पूजा में ग्रहन की पूजा मिथ्या नाहिं॥
इस ही जम्बू द्वीप मे रवि शशि मिथुन प्रमान।
ग्रह नक्षत्र तारा सहित ज्योतिष चक्र प्रमान॥
तिनही के अनुसार सो कर्मचक्र की चाल।
सुख दुःख जाने जीव को जिनवच नेत्र विशाल॥

यहाँ कोई शंका करे कि नवग्रह पूजा मिथ्यात्व तो नही है तो 'जिनपूजा में ग्रहन की पूजा मिथ्या नाहिं' यह कह कर शंका का समाधान कर दिया गया है। तथा कर्मचक्र की चाल भी ग्रहों के अनुसार बतला दी गई है। यहाँ ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि जिनपूजा के बहाने ग्रहो की पूजा की गई है।

समुच्चय पूजा के बाद प्रत्येक ग्रह का अर्घ है। अर्घ में पृथक्-पृथक् तीर्थंकर के पृथक्-पृथक् गृहजन्य अरिष्ट का निवारक चन्द्रप्रभु को चन्द्रग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक और वासुपूज्य को मंगलग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक बतलाया गया है। विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, नमिनाथ और महावीर इन आठ तीर्थंकरो को बुध ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक बतलाया गया है। इसी प्रकार ऋषभनाथ, अजितनाथ, सभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, सुपारसनाथ, शीतलनाथ और श्रेयांसनाथ इन आठ तीर्थङ्करों को गुरुग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक बतलाया गया है। पुष्पदन्त को शुक्र ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक, मुनिसुव्रतनाथ को

शनिग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक तथा नेमिनाथ को राहु ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक बतलाया गया है। मल्लि-नाथ और पार्श्वनाथ को केतु ग्रह जन्य अरिष्ट का निवा-रक बतलाया गया है।

यहाँ यह बिचारणीय है कि कही एक तीर्थङ्कर एक ग्रह के अरिष्ट का निवारण करने में समर्थ है तथा कहीं दो तीर्थङ्कर एक ग्रह का अरिष्ट निवारण करते है और कही आठ तीर्थङ्कर मिल कर एक ग्रह का अरिष्ट निवा-रण करते हैं। बुध ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारण करने के लिए आठ तीर्थङ्करों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार गुरु ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारण करने के लिए भी आठ तीर्थङ्करों की आवश्यकता पड़ती है। केतु ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारण दो तीर्थङ्कर कर देते है। शेष छह ग्रहो के अरिष्ट का निवारण एक एक तीर्थङ्कर द्वारा हो गया है। सम्भवत: बुध और गुरु ग्रह जन्य अरिष्ट बहुत भारी होता है। तभी तो आठ आठ तीर्थङ्कर मिल कर इनके अरिष्ट निवारण मे समर्थ होने है।

यह कैसे जान लिया गया कि पद्मप्रभु सूर्य ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक है। चन्द्रप्रभु चन्द्र ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक हैं। वासुपूज्य मंगल ग्रह जन्य अरिष्ट क निवारक है। पुष्पदन्त शुक्र ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक है। मुनि सुव्रतनाथ शनि ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक हैं। नेमिनाथ राहु ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक हैं। मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ केतु ग्रह जन्य अरिष्ट के निवा-रक हैं। जबकि विमलनाथ आदि आठ तीर्थङ्कर बुध ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारण करते है और ऋषभनाथ आदि आठ तीर्थङ्कर गुरु ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारण करते है।

नवग्रह पूजा के लेखक ने नवग्रह जन्य अरिष्ट के निवारण के लिए तीर्थङ्करों का जो विभाजन किया है उसका आधार क्या है। क्या किसी शास्त्र मे ऐसा लिखा है अथवा लेखक की यह कोरी कल्पना है। यदि कल्पना के आधार से ही विभाजन करना था तो निम्न प्रकार से विभाजन किया जा सकता था जो युक्तिसगत होता। प्रथम छह ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारण में क्रमशः तीन-तीन तीर्थङ्कर समर्थ है तथा शेष तीन ग्रह जन्य के अरिष्ट निवारण में शेष दो दो तीर्थङ्कर समर्थ हैं। ($६ \times ३ = १८$, $३ \times २ = ६$, $१८ + ६ = २४$)। इस प्रकार नवग्रह जन्य अरिष्ट निवारण के सम्बन्ध में चौबीस तीर्थंकरों का विभा-जन युक्तिसंगत हो जाता।

नवग्रह पूजा की जयमाला के एक पद्य में लिखा है—'पंच ज्योतिषी देव सब मिल पूजें प्रभु पाय।' पता नही किस शास्त्र मे ऐसा लिखा है कि पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव मिल करके प्रभु के चरणों की सेवा करते है। नवग्रह पूजा के बाद नवग्रह शान्ति स्तोत्र दिया गया है। उसमे लिखा है—

जिनेन्द्रा: खेचरा ज्ञेया: पूजनीया विधि क्रमात्।
पुष्पैर्विलेपनैर्धूपैर्नैवेद्यैस्तुष्टि हेतवे ॥
जन्म लग्न च राशि च यदि पीडयन्ति खेचरा:।
तदा सम्पूजयेद् धीमान् खेचरान् सह तान् जिनान्॥

इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार जिनेन्द्र भग-वान् पूजनीय हैं उसी प्रकार आकाश स्थित नवग्रह भी पूजनीय है।

नवग्रह शान्ति स्तोत्र के बाद नव ग्रहों के जाप्य भी दिये गये है। भिन्न-भिन्न ग्रहों की शान्ति के लिए जाप्यों की सख्या सात हजार से लेकर तेईस हजार बतलाई गई है। सूर्य ग्रह की शान्ति सात हजार जाप्यो से हो जाती है तो शनि ग्रह की शान्ति तेईस हजार जाप्यों से होती है। ग्रहों के जाप्यो की सख्या मे इस प्रकार का अन्तर सम्भवत: ग्रहों के बलाबल की दृष्टि से किया गया होगा। जो ग्रह अधिक बलवान् है उसकी शान्ति के लिए तेईस हजार जाप्यो का विधान किया गया है और कम बलवान् ग्रह की शान्ति के लिए सात हजार जाप्यो का विधान है।

इस प्रकार नवग्रह पूजा के सम्बन्ध में विचार करने के बाद इस लेख के उपसंहार में जैनागम के प्रकाण्ड मनीषी आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी के कुछ अशो को यहां उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। उन्होंने समय-सार मे लिखा है—

जो भण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥

(शेष पृ० ७ पर)

महान सम्राट अशोक का संवत्सर ?

□ श्री अभय प्रकाश जैन

सम्राट अशोक अपने काल का सबसे शक्तिशाली राजा था। सभी प्रमुख राजाओ ने अपने अपने संवत् चलाये लेकिन अशोक संवत् मैंने कही नही पढ़ा था। मेरे मन में उत्सुकता थी कि अशोक ने अपना संवत् अवश्य चलाया होगा, लेकिन पुष्टि हेतु प्रमाण नही मिल पा रहे थे। अशोक से सम्बन्धित साहित्य मे काल गणना के कुछ प्रमाण मिले फिर सूत्र पकड़ते-पकडते "गुप्त सवत्सर" भी "हिमवन्त थेरावली" मे मिल ही गया। उसमे लिखा है "निर्वाण से २३६ वर्ष बीतने पर[1] मगधाधिपति अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की वहाँ के राजा क्षेमराज को अपनी आज्ञा मनवा कर वहाँ पर अपना गुप्त सवत्सर चलाया।[1]

इस सन्दर्भ से कम से कम यह तो पता चला कि अशोक ने अपना कोई सवत्सर स्थापित किया था। इस संवत्सर के विषय मे "अस्ति नास्ति" के दो पक्ष विचारार्थ सामने आते है पहला पक्ष—अशोक ने २६० ई० पू० (पुराण मतानुसार) कलिंग पर क्रूर आक्रमण किया था। उसी वर्ष अशोक की कनिष्ठा महिषी तिष्यरक्षिता ने कुमार "तिष्य गुप्त" को जन्म दिया प्रतीत होता है। इसी अवसर पर "गुप्त सवत्सर" की सम्भावना मन को छू लेती है। दूसरा पक्ष—अद्यावधि कोई ऐसी संवत् शृंखला नही मिली, जिसे "गुप्त संवत्", "कुणाल संवत्" या "अशोक संवत्" नाम दिया जा सके। अत: प्रस्तुत विचारसारिणी को छोड़कर आगे बढ़ते है।

निरन्तर अध्ययन मनन के पश्चात् भी मुझे यह विश्वास नहीं होता था कि अशोक ने कोई संवत्सर नही चलाया होगा अथवा उसके अनुयायी उसके नाम से 'काल गणना' स्थापित नहीं कर पाये। इस बीच मेरी दृष्टि 'पपोसा गुहा' अभिलेख पर पड़ी।[1]

उसका पाठ है—

(क) राञो गोपाली पुत्रस [राज्ञ: गोपाली पुत्रस्य]

(ख) वहसपति मित्रस [वृहस्पति मित्रस्य]

(ग) कातुलेन गोपालिया [मातुलेन गोपालिका]

(घ) वैहिदरी–पुत्रेन [वैहिदरी पुत्रेण]

(ङ) आसाढ़ सेने न लेनं [आसाढ़ सेने न लपनं]

(च) कारित [ ] दस [कारितं उदाकस्य दश]

(छ) मे सवछरेवपिक [छ ?] त्र अरहं [मे सवत्सरे कश्शपीपान अर्हं]

(ज) [तानं] [० ताना]

(द्वितीय)

(१) अहिच्छत्राया राञो शोनकापन पुत्रस्य बंगपालस्य
अहिच्छत्राया राज्ञ: शौनकापन पुत्रस्य बगपालस्य

(२) पुत्रस्य राञो तेवणी पुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण पुत्रस्य
राज्ञ: त्रैवर्णी पुत्रस्य भागतस्य पुत्रेण

(३) वैहिदरी पुत्रेण आसाढ़ सेनेन कारितं [॥]
वैहिदरी पुत्रेष आसाढ़ सेनेन कारिते [लपनम्] ॥

समूचे अभिलेख पाठ से ज्ञात होता है कि [क] वृहस्पति मित्र के मामा [ख] आसाढ सेन ने [ग] दसवें सवत्सर मे 'लपन' गुफा का निर्माण कराया अब प्रश्न उठता है वृहस्पति मित्र कौन है। प्राय: शोध विद्वानों का अनुमान है कि हाथी गुम्फा अभिलेख मे चर्चित वृहस्पति मित्र यहां वांछनीय है। परन्तु वह वृहस्पति मित्र भी तो अद्यावधि परिचय निरपेक्ष ही रह गया है। इतिहास मनीषी डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने पुष्य नक्षत्र के अधिपति वृहस्पति को सूत्र मानकर वृहस्पति मित्र को शुंगवंशी पुष्पमित्र से अभिन्न ठहराया है। इधर डॉ० म० म० मीराशी ने शुंगवंशी पुष्पमित्र के प्रपौत्र ओद्राक के सामन्त वृहस्पति मित्र को खोज निकाला है और उसे "मित्र-कुलोत्पन्न" ठहराते हुए मित्रान्त नामा कुछ एक व्यक्तियों

की ओर संकेत भी दिया है।[4] अर्थात् वृहस्पति मित्र के अस्तित्व के लिए पूरा का पूरा ढांचा परिकल्पित किया है। मेरे विचार से ये सब अटकलबाजियां हैं निराधार अनुमान हैं।

शुंगवंशी पुष्पमित्र "वृहस्पति मित्र" का नामांतरण है ऐसे उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध नहीं है जिनके अनुसरण पर यह उड़ान सहीमानी जा सके। अत: यह मानना अमान्य है। हमें केवल वृहस्पति मित्र चाहिए, गुरु मित्र या पुष्पमित्र कदापि नहीं।

शुंगवंशीय ओद्रक के सामंत मित्रान्त नामक व्यक्ति भी यहां अभिप्रेत नही हैं। वृहस्पति के गरिमावर्धक 'मातुलपद' की सूचना भी तब तक अर्थहीन है जब तक उसका भागनेय निश्चित रूपेण प्रतिष्ठित न हो जाय। यहां खटक पैदा करने वाली बात यह है कि शुंगवंश ब्राह्मण वंश है, उनके सामंत भी जहां रिश्तेदारियां स्थापित की जा सकें ब्राह्मण ही सभाव्य है। ब्राह्मण वंश [राजा या सामंत] वैदिक धर्म को छोड़कर किसी पौरुषेय धर्म [जैसे बौद्ध, जैन आदि] को आसानी से अंगीकार नही करेगा। यही सोचकर इस स्थापना में सारवत्ता न होने से, इसे स्वीकार करना अति जटिल हो गया है।

मेरा अपना मत कुछ और है—

मूल पाठ की छठी पंक्ति मे अक्षरो के घिस पिट जाने से अपठित स्थान [ ] रिक्त छोड़कर 'उदाकस्य' शब्द से उसकी पूर्ति की गई है। यदि पूर्ति करना ही अभिप्रेत है तो उदाकस्य के विकल्प में "अशोकस्य" पद द्वारा रिक्त स्थान भरा जा सकता है।

यदि ऐसा संभाव्य है तो पाठ होगा "लयन कारितं अशोकस्य दशमे संवत्सरे।" पुराण मतानुसार अशोक श्री का निधन[5] सप्तर्षि संवत् १२२६=२१६ ई० पू० के साल में हो गया। चूंकि जैन मत मरणोपरान्त[6] काल गणना मे विश्वास करता है अत: यहा "अशोक संवत्" स्वयमेव प्रासंगिक हो जाता है। "अशोकस्य दशमे संवत्सरे" का फलितार्थ होगा ई० पू० २१६-१०=२०६ मे आषाढ़ सेन ने अभिलेख तैयार कराया।

अब वृहस्पति मित्र की खोज भी सुगम हो गई है। अशोक पौत्र अर्थात् कुणाल पुत्र 'सम्प्रति' दादा की अक्षत आयुष्य में उज्जयिनीश्वर हो गया था सम्प्रति दीर्घायु न था। वीर निर्वाण संवत् ३०० में वह दिवंगत हुआ। निर्वाण संवत् [ई० पू० ५२७] ३००=२२७ ई० पू० में उनका निधन जैन शास्त्र सम्मत है। उसके बाद उसका पुत्र "वृहस्पति" उज्जयिनीश्वर[7] बन सका। उसने केवल १३ वर्ष शासन[8] किया, अर्थात् २२७-१३=२१४ ई० पू० तक उसने शासन किया।

(१) २१४ ई० पूर्व से वृहस्पति तथा २०६ ई० पूर्व से आषाढ़सेन में वर्तमान काल सगति के आधार पर दोनों करीब-करीब हो जाते है।

(२) वृहस्पति' और 'आषाढसेन' के बीच मातुल-भागनेय का सम्बन्ध अब प्रबल तर्कानुप्राणित और गरिमा सूचक है एवं मान्य है।

(३) जैन धर्म इन्हें और अधिक निकटता प्रदान करता है। पपोसा गुहा लेख से "अशोक संवत्" को सुदृढ़ विचार भूमि तो अवश्य मिल गई परन्तु विस्तृत प्रयोग क्षेत्र के अभाव में उसे "सवत्सर शृंखला" मे पिरोया नही जा सकता। अब उसका प्रयोग क्षेत्र ढूंढ़ते हैं। वह इस प्रकार है—

शिरिक और शिवदिन्ना का लेख

अभिलेख स०	स्थान	भाषा	स्थिति
८८	मथुरा	सस्कृत	भग्न

इस अभिलेख मे संवत् २९९ का उल्लेख है यह संदर्भ वीर निर्वाण संवत् का नही है। "महाराजस्य राजातिराजस्य" के वैशिष्ट्य से किसी उच्चतर महाराजा का संकेत मिलता है। यह विक्रम संवत् भी नही है। प्राय: विद्वान सवत् या संवत्सर पढ़ कर विक्रम संवत् के बारे में सोचने लगते है उत्तरोत्तर हो रहे अनुसंधान से ये धारणाएँ निर्मूल हो गई हैं। हमारा ध्यान "राजातिराज" पढ़कर सम्राट अशोक की तरफ जाता है।

जैन अनुवाद—पब सिद्धों और अर्हन्तों को नमस्कार हो। महाराज और राजातिराज के सवत्सर २००+९+९९=२९९ के शीत ऋतु को दूसरे महीने के पहिले दिन भगवान महावीर की प्रतिमा अर्हंत मन्दिर मे (इत्यादि)

जैन शिलालेख संग्रह—विजयमूर्ति पृ० ५४ एम.ए.

मेरा अपना सुदृढ़ अनुमान है कि यह संवत् अशोक संवत् २९९ संभाव्य है जिसका ईस्वी साल २९९—२१९ =८० है।

इतिहास मनीषियों, अनुसंधान करने वालों के सामने एक अवसर है कि वे जैन साहित्य का अभीष्ट मथन करके अशोक सवत् पर एक निश्चित सर्वमान्य शोध करें और अमृततत्त्व को सामने लायें।

एन-१४ चेतकपुरी, ग्वालियर-४७४००९

संदर्भ-सूची

१. ५२७—२३९=२८८ ई० पू० का वर्ष अशुद्ध है। महावंश के अनुसार अशोक ने २७६ ई० पू० मे राज्य हस्तगत किया और उसका अभिषेक २६८ ई० पू० में हुआ।

२. अशोक के गुप्त संवत् चलाने की बात ठीक नहीं जंचती। इसी उल्लेख से इसकी अति प्राचीनता के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न होती है।
मुनि श्री कल्याण विजय 'वीर निर्बाण संवत्' और काल गणना पृ० १७१

३. (क) भारतीय अभिलेख—डॉ० सूबेसिंह राणा पृ. ६४
(ख) जैन शिलालेख संग्रह—II भाग श्री विजयमूर्ति पृ० १२/१३

४. सात वाहन वश और पश्चिमी क्षत्रियों का इतिहास पृ० ४७।

५. षड्विंशत्सभा राजा अशोको भविता नृपु—वायु पृ० १९/३३२।

६. 'वीर निर्वाण संवत्' मौर्यकालोच्छिन्ने 'मृते विक्रम-राजनि।'

७. दिव्यावदान पृ० ४३३।

८. भारतवर्ष का वृहद् इतिहास—भगद्दत्त द्वितीय भाग पृ० २७३।

(पृ० ४ का शेषांष)

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥

जो जीव ऐसा मानता है कि मैं दूसरे जीवो को मारता हूं और दूसरे जीवों के द्वारा मैं मारा जाता हू ऐसा मानने वाला जीव मूर्ख तथा अज्ञानी है। किन्तु ज्ञानी जीव की धारणा इसके विपरीत है। वह मानता है कि न तो मैं किसी का घात कर सकता हूं और न अन्य कोई जीव मेरा घात कर सकता है। इसी प्रकार जो जीव ऐसा मानता है कि मैं दूसरे जीवो को जीवित करता हूं तथा दूसरे जीवो के द्वारा मैं जीवित किया जाता हूं ऐसा मानने वाला जीव मूर्ख तथा अज्ञानी है। किन्तु ज्ञानी जीव की श्रद्धा इसके विपरीत है। वह मानता है कि न तो मैं किसी जीव को जीवित कर सकता हूं और न अन्य कोई जीव मुझे जीवित कर सकता है। इस कुन्दकुन्द वाणी का तात्पर्य यही है कि सभी जीव अपने-अपने कर्म के उदय से सुखी और दुःखी होते हैं तथा किसी भी प्रकार से अन्य जीव दूसरे जीवों को सुख और दु.ख नही दे सकता है। ऐसा जैन दर्शन का विशिष्ट सिद्धान्त है।

जब जैन दर्शन की ऐसी मान्यता, तब आकाश में स्थित नवग्रह भूमण्डल पर स्थित जीवों का इष्ट और अनिष्ट किस प्रकार करते है तथा ग्रहों की शान्ति क्या नवग्रह पूजा के करने से हो जाती है, यह समझ में नही आ रहा है। इस विषय में अन्य विद्वानो से निवेदन है कि वे इस लेख के सन्दर्भ मे अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें। जिससे यदि मैंने कुछ गलत लिखा है तो मैं अपनी गलती का सुधार कर सकूं। मेरी तो यही भावना है—

जैनेन्द्रं धर्मचक्र प्रसरतु सततं सर्व सौख्य प्रदायि।

शुभाशुभ और शुद्ध भाव

□ श्री नरेन्द्र कुमार शास्त्री, भोसीकर, शोलापुर

भक्ति या संयम तप इनमें जितनी शुभोपयोग प्रवृत्ति होती है उसमे प्रशस्त रागरूप जो अंश होता है वह सवर निर्जरा का कारण नही बन सकता। जो रागांश होता है वह आस्रव-बंध का कारण माना गया है। जीवों के जो निर्जरा प्रति समय होती रहती है वह निर्जरा मोक्षमार्ग के सप्ततत्त्वों में जो निर्जरा तत्व माना गया है उस रूप नहीं है। हर समय जो कर्म जीवो के निर्जरित होते हैं उसको उदय कहा है जो नवीन कर्माश्रव के निमित्त होते हैं। संवर पूर्वक निर्जरा जो आश्रव-बंध निरोध सहित होती है उसी को मोक्षमार्ग मे निर्जरा तत्व कहा है। भक्ति (शुभराग) में उसके साथ जितना सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र (शुद्धिरूह वीतरागांश) है वह सवर निर्जरा का कारण होता है। वह रत्नत्रय वीतरागता रूप आत्मा का शुद्ध परिणाम है वह शुद्धोपयोग है वही सवर निर्जरा का कारण है अन्य नहीं। उस भक्ति में जो प्रशस्त रागरूप शुभोपयोग परिणाम है वह तो नियम से आश्रवबंध का ही कारण है। यदि केवल भक्ति या व्रत नियम निर्जरा का कारण माना जावे तो मिथ्यादृष्टि (द्रव्यलिंगी अभव्य) की भक्ति-व्रत संयम भी निर्जरा का कारण मानना पड़ेगा।

अनेकान्तात्मक वस्तु गोलरूप नही है। गोल वस्तु का कही से भी आदि अन्त बनाया जा सकता है परन्तु वस्तु का आदि अन्त नही है विवक्षित पर्याय से आदि अन्त रूप है। परन्तु पर्याय परम्परा से अनादि अनत है। पर्याय परम्परा का आदि अन्त नहीं है, गोल नही है। विस्तार रूप काल रूप उर्ध्वता अनादि अनंत है।

बिना सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के संवर निर्जरा का प्रारम्भ नही होता। गुणस्थान ४ से १० तक मिश्रपरिणाम होते हैं (राग वीतरागता रूप) यद्यपि गुणस्थान ४ से ६ तक तारतम्येन शुभोपयोग कहा है उसके लिए निबन का दृष्टान्त दिया है। अर्थात् वीतरागता-शुद्धोपयोग-रत्नत्रयरूप अश कम और दान पूजा भक्ति व्रतशीलरूप प्रशस्तराग शुभोपयोग अश की प्रधानता रहती है इसलिए तारतम्येन शब्द प्रयोग बाहुल्य सूचित करता है। बिना वीतरागता रूप शुद्धोपयोग के संवर निर्जरा का प्रारम्भ सम्भव नहीं हैं। भक्ति में जितनी वीतरागता वह संवर निर्जरा का कारण है और जितनी सरागता वह आश्रव-बंध का कारण है।

भक्ति मे जो निदान रहित निष्कांक्षित भावरूप वीतरागता है वह शुभोपयोग रूप न होकर शुद्ध उपयोगमय है—आत्मा का शुद्ध परिणाम है। सम्यग्दर्शन परिणाम को शुद्धोपयोग रूप आत्म परिणाम कहा है (उवओग सुद्धप्पा) उसमे जो वीतरागता है वह सम्यक् चारित्र है। व्रत संयम रूप चारित्र के अभाव मे असयमी सम्यग्दृष्टि को भी मोक्षमार्ग रूप वह सम्यक् चारित्र रहता है। "भक्ति" यह मदराग रूप शुभोपयोग मय विशुद्धिपरिणाम हैं। उसमे जो मद राग है वह नियम से आश्रवबंध का ही कारण है और जो शुद्धिरूप वीतरागता है वह नियमतः संवर निर्जरा का कारण है। यदि ऐसा न माना जावे तो आगे ७ से १०वे गुणस्थान तक शुद्धोपयोग कहा है वहां जो आश्रवबंध होता है वह शुद्धोपयोग के कारण मानने का प्रसग आयेगा इसलिए शुभोपयोग मे संवर निर्जरा मानना तथा शुद्धोपयोग से आश्रवबंध मानना ये दोनो तत्वदृष्टि से असंगत है।

गुणस्थान ११-१२ मे वीतरागता है शुद्धोपयोग है परन्तु वहां अल्पज्ञता भावयोग द्रव्ययोग ईर्यापथ आश्रव का कारण है।

गुणस्थान १३ में पूर्ण वीतरागता है सर्वज्ञता है तथापि भावयोग न होते हुए भी द्रव्यकाययोग ईर्यापथ आश्रव का कारण है।

(मन वचन काय की प्रवृत्ति) योग शुभ अशुभ=अशुद्ध

ही होते हैं कभी शुद्ध नही। शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य =वे पुण्य पाप ही के कारण है कदापि संवर निर्जरा के कारण नहीं हैं। उपयोग ३ प्रकार के हैं—१. प्रशस्त राग (शुभ), २. अप्रशस्तराग (अशुभ), ३. वीतरागता रूप (शुद्ध)।

- ❀ रागांश आश्रवबंध का ही कारण है जो बंध मार्ग संसार मार्ग है।
- ❀ वीतरागांश (रत्नत्रय परिणाम) संवर निर्जरा का कारण है जो मोक्षमार्ग है।

आगम में सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण कहे हैं परन्तु वह उपचार नय कथन है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की भक्ति भी उपचार से ही निर्जरा का कारण है—मिथ्यात्व नहीं है। परन्तु नयनिक्षेप का विवेक जागृत न रखते हुए उस भक्ति को परमार्थ से निर्जरा का कारण माना जावे तो वह आगम का श्रुत का अवर्णवाद है।

भक्ति में जितना निष्कांक्षित अंश है वह वीतराग रूप रत्नत्रय का अंश है उसको संवर निर्जरा का कारण मानना *सुसंगत है। और भक्ति में जो मन वचन काय प्रवृत्तिरूप* प्रशस्त राग—कर्मचेतना अंश है वह नियम से आश्रवबंध का कारण है। कर्म चेतना के साथ जितना ज्ञान चेतना रूप वीतराग अंश है वह संवर निर्जरा का कारण है। एक ही उपयोग परिणाम रूप राग-वीतराग रूप मिश्र-परिणाम होता है। राग पर वीतरागता का आरोपित नय निक्षेप दृष्टि से उपचार कर संवर निर्जरा का कारण कहना उपचार नय है। उसी प्रकार मंद राग का वीतराग स्वरूप रत्नत्रय पर आरोपित नय दृष्टि से उपचार कर "सम्यक्त्वं च"=सम्यक्त्व को देवायु का कारण कहना उपचार नय है। आगम मे प्रयोजन वश उपचार नय से कथन अनेक जगह पर किया है परन्तु उस उपचार कथन को परमार्थ समझना यह आगम का अर्थ विपर्यास है। योग—कर्मधारा (अशुद्धोपयोग) बंध मार्ग है। शुद्ध उपयोग—ज्ञानधारा मोक्षमार्ग है। गुणस्थान ४ से अशुद्ध और शुद्ध उपयोग=कर्मधारा-ज्ञानधारा इनका मिश्रभाव रहता है। शुभ योग सहित प्रशस्त राग रूप उपयोग (चेतना, परिणाम) शुभोपयोग है। अशुभ योग सहित *अप्रशस्त रागरूप उपयोग अशुभोपयोग है। ये दोनों अशुद्ध* है कर्मधारा रूप है। इनके सिवा विराग भाव सहित उपयोग है वह शुद्धोपयोग है वही ज्ञानधारा रूप है। उसी से संवर निर्जरा मोक्ष है।

मिथ्यादृष्टि को शुभ+अशुभ योग नय मिश्रधारा रूप उपयोग रहता है वह नियम से आश्रवबंध का कारण है। "स आश्रवः।" कारण का कार्य में उपचार कर योग को ही आश्रव कहा है।

सम्यग्दृष्टि को भी गुणस्थान ४ से १० तक योग से सांपरायिक आश्रव रहता है किन्तु इसके साथ वीतराग रूप ज्ञानधारा मय मिश्रभाव भी रहता है। जिसके कारण एक ही उपयोग में रागांश (आश्रवबंध) और वीतरागांश (संवर निर्जरा) दोनों का सम्मिश्रण रहता है। मिथ्यादृष्टि का मिश्रभाव सिर्फ अशुद्धरूप ही होता है जबकि सम्यग्दृष्टि का मिश्रभाव शुद्धाशुद्ध रूप होता है।

मिथ्या दृष्टि को बंधा हुआ कर्म प्रति समय जो निर्जरित होता है उसको उदय कहते हैं—सविपाक निर्जरा कहते हैं वह मोक्षमार्ग के प्रयोजन भूत सप्ततत्वों वाली *संवर-निर्जरा नहीं है।*

भक्ति पूजा तो योग प्रवृत्ति रूप है अतः उसका फल लौकिक आश्रवबंध ही है। उसको जो परम्परा से मुक्ति का कारण कहा है उसका हेतु उसके साथ रही शुद्धोपयोग भावना है जो रत्नत्रय रूप ज्ञान चेतना है वही परम्परा मुक्ति का कारण है। जितनी योग प्रवृत्ति है वह आश्रवबंध का कारण है कदापि संवर निर्जरा का और परम्परा मुक्ति का कारण नहीं है। उपचार नय से कहना अलग बात है परमार्थ से मुक्ति का कारण नहीं है।

अष्टद्रव्य पूजा के मंत्रो में भावना तो मोक्ष फल की रहती है वह निषिद्ध नही है वह वीतरागता रूप है। पूजा क्रिया कर्मधारा योगप्रवृत्ति रूप है उसका फल नियमतः लौकिक सद्गति स्वर्गादि है। लौकिक फल की आशा से पूजा करना निदान मिथ्यात्व है।

भक्ति मे जो अशुभ की निवृत्ति होती है वह भक्ति के कारण नहीं, किन्तु रत्नत्रय रूप वीतरागता के कारण होती है। प्रवृत्ति (राग) आश्रव-बंध का कारण है। निवृत्ति (वीतरागता) संवर निर्जरा का कारण है।

(श्री रतनलाल कटारिया के सौजन्य से)

त्रिशष्ठि शलाका पुरुष—राम, लक्ष्मण, रावण

कु० विभा जैन (द्वारा डॉ० कस्तूरचन्द जैन)

भगवान महावीर के समय से लेकर बीसवीं शताब्दी के अन्त तक २४०० वर्षों के दीर्घकाल में जैन मनीषियों ने जैन-साहित्य में विपुल वाङ्मय का निर्माण किया है। इस अवसर्पिणी अवधि में उत्पन्न हुए तिरसठ शलाका-पुरुषों में तीर्थंकरों के समान ही राम का नाम अति विख्यात है। बल्कि यह कहने में भी अत्युक्ति न होगी कि भारतवर्ष में उत्पन्न हुए महापुरुषों में राम का नाम ही सबसे अधिक लोगों के द्वारा आहुत होता है। प्राचीन समय से लेकर अब तक राम का नाम इतना अधिक प्रसिद्ध क्यों हुआ ? लोग बात-बात में राम की दुहाई क्यों देते हैं, और अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्ति के साथ राम-राज्य का स्मरण क्यों किया जाता है ? इन प्रश्नों के उत्तर पर जब हम गहराई के साथ विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि राम के जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं जिससे उनका नाम प्रत्येक भारतीय की रग-रग में समा गया है, और यही कारण है कि वे इतने अधिक लोकप्रिय महापुरुष सिद्ध हुए हैं।

राम का महत्व प्रथमतः हमें वाल्मीकि रामायण मे मिलता हैं जिसमें राम को अवतारी पुरुष माना गया है। महाभारत में उनका अवतारी स्वरूप है। राम आदि से अन्त तक मनुष्य ही हैं। बौद्ध महात्मा बुद्ध राम का पुनरवतार मानते हैं। इसी प्रकार जैनियों में राम कथा के पात्रों को अपने धर्म में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। राम (पद्म), लक्ष्मण और रावण न केवल जैन धर्मावलम्बी माने जाते हैं, लेकिन तीनों ही जैनियों के शिशिष्ट शलाकापुरुषों में माने गये हैं।

इन शिशिष्ट महापुरुषों का वर्णन इस प्रकार है :—

२४ तीर्थंकर (जैन धर्मोपदेशक) १२ चक्रवर्ती (भरत के छः खण्डों के सम्राट) तथा ९ बलदेव ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव ये किसी राजा की विभिन्न रानियों के पुत्र होते हैं। इनकी जीवनियाँ जैन धर्म में रामायण, महाभारत तथा पुराणों का स्थान लेती है।

रामचन्द्रजी का जीवन आलौकिक घटनाओं से भरा हुआ है। वे एक मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में पूजे जाते हैं। पिता—राजा दशरथ के वे परम आज्ञाकारी थे। माता कैकयी के कहने से कि भरत को राज्य और राम को वनवास की आज्ञा मिली। वे सहर्ष वन को जाने के लिए तत्पर हो जाते हैं। उन्हें पता था कि मेरे रहते हुए भरत का राज्य कभी भी वृद्धिगत नहीं हो सकेगा इसलिए उन्होने बनवास करना ही श्रेयस्कर समझा था। वनवासके समय उन्होंने कितने ही संकटग्रस्त राजाओं का संरक्षण किया।

लंकाधिपति रावण ने दण्डकवन से सीता का अपहरण किया था उसे वापस करने के लिए रामचन्द्रजी ने रावण से धर्मयुद्ध किया था। इस धर्मयुद्ध में रावण के अनुज विभीषण, वानरवंश के प्रमुख सुग्रीव तथा हनुमान और विराधित आदि विद्याधरों ने पूर्ण सहयोग किया था। भूमिगोचरी राम-लक्ष्मण द्वारा गगनगामी विद्याधरों के साथ युद्ध पर विजय प्राप्त करना, यह उनके अलौकिक आत्मबल का परिचायक है। रावण मरण होने पर रामचन्द्र जी उसके परिवार से आत्मीयपन व्यवहार करते हैं। उन्होंने उद्घोष किया था कि मुझे अन्याय का प्रतिकार करने के लिए ही रावण से युद्ध करना पड़ा।

लोकापवाद के कारण सीता का परित्याग करने से वे अधिक चर्चा में आये। आज हजारों वर्षों के बाद भी लोग राम राज्य की याद करते हैं। जब लोकापवाद की चर्चा राम के सामने आयी तो वे विचार करते हैं कि—एक ओर लोकापवाद सामने खड़ा है, एक ओर निर्दोष प्राण-

प्रिया का दुसह वियोग ? कितनी विकट स्थिति है ? राम अत्यन्त असमंजस्य में पड़ जाते हैं, कुछ समय के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं और कहते हैं कि यदि मैं सीता का परित्याग नहीं करता हूं तो इस मही पर मेरे समान और कोई कृपण न होगा।

"अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्"—तत्वार्थ० अ० ७ सूत्र ३८ अर्थात् जो पर अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग किया जाता है उसे दान कहते हैं। लोगों में फैले हुए अपवाद को दूर करने के लिए अपनी प्राणों से भी प्रिय वस्तु सीता का यदि मैं परित्याग नहीं कर सकता तो मुझसे बड़ा और कौन कृपण होगा।

इस स्थिति में सीता का परित्याग राम के लिए सच-मुच महान त्याग का आदर्श उपस्थित करता है। यह एक ऐसी घटना है जिससे राम सच्चे राम बने और कल्पान्त में स्थायी उनका यश आज भी दिग्दिगन्त व्यापी है। यदि उनके जीवन में यह घटना न घटती तो लोग राम राज्य को इस प्रकार याद न करते।

लक्ष्मण की महत्ता का कारण राम का साहचर्य है। वे उनके प्रेम के पीछे अपना समस्त सुख न्योछावर करते हुए पाते हैं। राम को वनवास के लिए उद्यत देख लक्ष्मण उनके पीछे हो लेते है। यद्यपि पहले पिता के प्रति उन्हें कुछ रोष उत्पन्न होता है, पर बाद मे यह सोचकर सन्तोष कर लेते हैं कि न्याय-अन्याय बड़े भाई समझते है। मेरा कर्तव्य तो इनके साथ जाना है। वनवास में लक्ष्मण, राम तथा सीता को सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखते हैं। राम के अनन्य आज्ञाकारी है। लंका मे युद्ध के समय जब इन्हें शक्ति लगती है तब राम बड़े दुःखी हो जाते है, करुण-विलाप करते हैं, पर विशल्या के स्पर्श से उनकी व्यथा दूर हो जाती है।

जैन राम कथाओं के अन्तर्गत लक्ष्मण के विषय में एक बड़ी ही विसंगति है। ग्रन्थकार कहते हैं कि लक्ष्मण नरक में गए परन्तु इस धारणा को कहीं भी पुष्ट नही किया गया कि वे क्यों नरक में गये ? हमारे विचार में यह तर्क निकलता है कि जिसमें क्रोध, मान, माया, मोह, लोभ ये पाँच अवगुण होते हैं वह नरक का गामी है। इन पाँच कषायों को जैन धर्म ही नहीं सभी धर्मानुयायी मानते हैं। इसमें लक्ष्मण को राम के प्रति अगाध स्नेह, क्रोध एवं अहंकार तीनों गुण विद्यमान हैं। इन गुणों के कारण ही लक्ष्मण नरक गामी कहे जा सकते हैं। इस बात को गोस्वामी तुलसीदास ने अपने "राम चरित मानस" में पुष्ट किया है—

"काम, क्रोध, लोभ पर विजय प्राप्त करने के लिए अर्थात् अपनी नैतिकता बनाये रखने के लिए संयम की नितान्त आवश्यकता है।"

भगवतगीता के अनुसार काम, क्रोध, लोभ नरक के द्वार हैं—

"त्रिविधि नरकस्य द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तास्मादेतत् त्रयं त्यजेत।"
(६, ११)

तुलसी गीता की यह शिक्षा दुहराते नहीं थकते—
काम, क्रोध, मद, मोह सब, नाथ नरक के पन्थ।
सब परिहरि रघुबीरहि, भजहु भजहिं जेहि सन्त॥

डॉ० बुल्के कहते हैं कि लक्ष्मण नरक में इस कारण गये कि उन्होंने हिंसा की। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध प्रश्न उठता है कि क्या राम ने हिंसा नहीं की, राम ने भी हिंसा की जब म्लेच्छों से युद्ध किया तथा रावण के साथ युद्ध में भी हिंसा हुई, यह बात स्पष्ट नहीं होती कि लक्ष्मण हिंसा के कारण नरक गये। वह तो क्रोध, मान, मोह के कारण गये हैं।

यदि उपन्यास के विरुद्ध क्षण मात्र हिंसा होने से सभी का कल्याण हो सकता है तो वह हिंसा नहीं कहलावेगी। रामचन्द्रजी ने क्षण मात्र में शक्ति का प्रयोग कर अन्याय का उन्मूलन किया तथा सत्य, नीति, न्याय की विजय दिला ी।

राम भक्ति में पल्लवित होने के पश्चात् रावण के चरित्र, चित्रण में अन्तर आ गया है और यह कहा गया है कि रावण ने मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से सीता का हरण किया था। जैन रामकथाकारों ने रावण का चरित्र ऊपर उठाने का प्रयास किया है। रावण में केवल एक दुर्बलता।

(शेष पृ० १४ पर)

भूले-बिसरे जैन भक्त कवि

□ डॉ० गंगाराम गर्ग

पिछले कई वर्षों से शोधकों एवं साहित्य-रसिकों के प्रयत्न से हिन्दी का अप्रकाशित जैन साहित्य चर्चित हुआ है; फिर भी कई काव्य-कृतिया अभी तक प्रकाश की किरणें नहीं देख पाई हैं। 'हितकर', 'सेढू', 'गंगा' और 'मरकत' रीतिकालीन जैन भक्तिकाव्य-परम्परा के ऐसे ही अज्ञात कवि हैं—

'हितकर' (हेतराम) :

दिगम्बर जैन मन्दिर (बड़ा) दीग के एक गुटके मे रागमाला के क्रम से अन्य कवियो के साथ भैरू, विलास, आसावरी, सारंग, धनाश्री, कल्याण, ईभन आदि राग-रागनियों में 'हितकर' छाप से कई पद मिलते है। इसी गुटके के अन्त में चौबीस म्हाराजन की बधाई 'हेतराम' के नाम से पृष्ठ ९८ से १०३ तक अंकित है। शायद हेत-राम का ही अपर नाम 'हितकर' हो। 'चौबीस म्हाराजन की बधाई' मे तीर्थंकरो के जन्मोत्सव, जन्म स्नान, वाद्य व नृत्य का वर्णन है। इसके एक दो पदो मे 'हितकर' की छाप भी प्राप्त होती है—

ए री आनन्द है घर घर है द्वार।
समुद्विजे राजा घरां री, हेली पुत्र भयो सुकुमार।
जा के जनम उछाह को री, आयो इन्द्र सहित परिवार।
जाचक जन कौं मोद सौ हेली, दीनो द्रव्य अपार।
नामकरन सब नें रह्यो री, हेली हितकारी सुखकार॥

ढूंढारी भाषा का पर्याप्त पुट 'हेतराम' या 'हितकर' के जयपुर क्षेत्र से सम्बद्ध होने को प्रमाणित करता है। अपने आराध्य से जन्म-मरण का सकट मिटवाने की यह प्रार्थना बड़ी दैन्यपूर्ण है—

म्हे तो थाका सूं, या ही अरज करां छां हो जिनराज।
जामन मरन महा दुख संकट, मेट गरीब नेवाज।
म्हे थांका ते म्हांका साहब, थांकै म्हांकी लाज।
का विधि सौं भव उदधि पार हों, 'हितकरि' करिस्यौ काज।

राग सारग 'तिताल' में लिखित एक अन्य पद में 'हितकर' का आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण भाव भी दृष्टिगत होता है—

अरज करां छां जिनराज।
तारण तिरण सुन्यौ मोहि तार्‌यौ, थांनै म्हां की लाज।
भव भव भक्ति मिलौ प्रभु थांकी, याही बंध्या आज।
निज आतम ध्याउं शिव पाउ, हितकरि करिस्यां काजजी॥

वीतरागी नेमिनाथ का सामीप्य-लाभ पाने की राजुल की व्यग्रता का अनुभव सभी जैन भक्तों ने किया है। उसमें संत कवियो की विरह भावना जैसी मर्म स्पर्शिता विद्यमान है। 'हितकर' का यह पद कितना वेदनापूर्ण है—

तन की तपति जबहिं मिटि हैं मेरी,
नेम पिया कूं दृष्टि भर देखूंगी।
जब दरसन पाऊंगी उनको, जनम सुफल करि लेखुंगी।
अष्ट जाम ध्यान उनको रहत है, ना जानूं कब भेटूंगी।
'हितकरि' जो कोई आनि मिलावै, जिनके पाय सीस टेकूंगी।

प्राप्त पदो में से अधिकाश पदों का आकार छोटा होने के कारण उनमे भाव-गाम्भीर्य अधिक है। पावस ऋतु का एक मनोहर चित्र है—

चहुं ओर बदरिया बरसें अरी ए हेली री,
घरड़ घरड़ घन घरजै।
नेम प्रभू गिरनारि विराजै, देखन कूं जिय तरसै।
घुमड़ घुमड़ घनश्याम श्वेत रंग, बिजुरी चमकत दरसै।
राजुल कहैं 'हितकर' जिन देखूं जबही मम मन सरसै।

सेढूं :

भरतपुर के पंचायती दिगम्बर जैन मन्दिर में सेढूं द्वारा लिपीकृत दो काव्य नवलशाह का दो वर्द्धमान पुराण और रामचद का 'चतुर्विंशति जिन पूजा' उपलब्ध है। दोनो ग्रन्थों का लिपिकाल सवत् १८७७ एव संवत् १८८८ है। सुवाच्य अक्षरों में दोनो ग्रन्थो के लिखे होने के कारण

सेढ़ू का लिपि-कौशल प्रशंसनीय है। सेढ़ू ने एक कवित्त में जहां दीग के दो परोपकारी सेठ अभेराम व चेयन की प्रशंसा की है वहां दूसरे कवित्त में कामां के तेरापथी जैन मन्दिर की ख्याति भी अभिव्यक्त की है। इस तरह भरतपुर, कामां व दीग तीनों ही स्थान कवि के कार्यक्षेत्र प्रतीत होते हैं।

सेढ़ू के फुटकर १२ दोहे, कुछ कवित्तो के अतिरिक्त सारंग, सोरठ, गौरी, धनाश्री, काफी, ईमन और बसत रागो मे ६० पद प्राप्त होते हैं। सेढ़ू जिनेन्द्र के पूजा-अर्चन और नामस्मरण में बड़ी रुचि रखते हैं—

जिनराज देव मोहि भावै हो।
कोई कछु न कहो, क्यों भाई और न चित्त सुहावै हो।
जाको नाव लेत इक छिन मैं, कोट कलेस नसावै हो।
पूजत चरन कंवल नितता के, मन वांछित रिध पावै हो।
तीन काल मन वच तन पूजं, सेढ़ू तिन जस गावै हो॥

राग-द्वेष जन्य कष्टों से पीड़ित होकर 'सेढ़ू' भक्ति-भाव की ओर मुड़े है। जिनेन्द्र के आश्रय में उन्हें बड़ा विश्वास है—

कौन हमारो सहाइ, प्रभू बिन कौन हमारो सहाइ।
और कुदेव सकल हम देखे, हांहां करत बिहाइ।
निज दुख टालन कौ गम नाहीं, सो क्यों परं नसाय।
राग रोस कर पीड़ित अति हो, सेवग क्यों सुखदाय।
या तै संकलप विकलप छाड़, मन परतीत जुलाइ;
'सेढ़ू' यो भव भव सुखदाई, सेवो श्री जिनराइ॥

भक्तिकाव्य परम्परा के सभी भक्त कवियो के समान सेढ़ू को भी आराध्य के नाम-स्मरण में अपार शक्ति प्रतीत होती है, अत: वह मन, मर्म और वचन से उसमे निष्ठावान् है—

श्री जिन नाम अधार, मेरे श्री जिन नाम अधार।
आगम विकट दुख सागर मैं से, ये ही लेह उबार।
या पटंतर और नहि दूजो, यह हम नहचै धार।
या चित धर ते पशु पंषी भी, उतरे भव दधि पार।
नर भव जन्म सफल नहीं ता विन, और सब करनी छार।
'सेढ़ू' मन और वचन काय करि, सुमिरत क्यों न गवार।

गंगा:

गंगादास द्वारा लिपिकृत आदित्यवार कथा दिगम्बर जैन मन्दिर करौली मे उपलब्ध है। शायद इन्होंने 'गंगा' उपनाम से पद लिखे हों।

'गंगा' नाम से पूर्णतः अज्ञात जैन कवि के पंचायती दिगम्बर जैन मन्दिर भरतपुर के एक गुटके में ५० पद प्राप्त है। इन पदों मे भक्ति और राजुल विरह दोनों की प्रधानता है।

अपने आराधक के प्रति अगाध विश्वास 'गंगा' के कई पदों में दृष्टिगोचर होता है—

अजी मोहे बल नाथ तिहारो।
जगपति या संसार में, सब कार्य असारो।
जनम जरामृत आद तें, सुख को नहि पारो।
सरणागत प्रतिपाल जी, मम द्रष्टि निहारो।
लख चौरासी जोंन सौं, मोहि पार उतारो।
दीनानाथ सुनो यही, अरजी प्रति पालो।
'गंगा' चाहे सो करौ, हों दास तिहारो॥

'गगा' का आत्म निवेदन भी करुणापूर्ण है। अपने गरीब नवाज से उनका कहना है—

अरज सुनो महाराज दीन की, अरज सुनो महाराज।
भव्य भाव सें इन कर्म्मनि घेरो, राख लेहु महाराज।
गणधर तुव गुण पार न पावैं, चार ज्ञान के राज।
सो हम मंदमती नित हित कौं, विनती करत स्वकाज।
तुम पद सेवत पाप नसावत, पूजत विघन विलात।
'गंगा' भाग उदै अब पाये, अब सुनों गरीब निवाज।

भैरव, ईमन, परज, जगलो, सोहनी, विलावल, चर्चरी, जैजैवन्ती विनास, कान्हरो और षमावच आदि रागों में लिखित विभिन्न पदो मे कुछ पद राजुल विरह से सम्बन्धित भी मिलते हैं। नेमिनाथ के विरक्त होने पर राजुल भी मोक्ष सुख पाने का निश्चय कर लेती है—

कौंन भांति समझाउं, अब मैं कौन भाँति समझाउं
सिद्ध रमनी अटकै···टेक।
रथ फेरूं फेरूं गिर कौ अब, उन बिन क्यों सुख पाऊं।
मोकों त्याग राग अक्षय सुख, क्यों करमन बिरमाऊं।

दुख जारउ या जग के अब, अंतक की चोट बचाऊं।
या कारन प्रभु करत तपस्या, क्यों न मैं चरनन ध्याऊं।
यहै धार चित्त में राजुल, अब मैं पाप बहाऊं।
'गंगा' हाथ जोर कर भाषी, प्रभु मैं दीक्षा पाऊं।

मरकत :

इनका जन्म मध्य प्रदेश के ईसागढ़ में हुआ। ईशागढ़ में जन्मे अनेक पदों के रचयिता भागचंद और 'मरकत' को ठोस प्रमाणों के अभाव में एक नही माना जा सकता। 'मरकत विलास' की प्रशस्ति के अनुसार 'मरकत' ने अपनी युवावस्था बजरंग गढ में साधर्मियों के साथ पूजा, स्वाध्याय और तत्त्वचर्चा में व्यतीत की। 'मरकत' मंदसौर और शेरगढ़ भी रहे। इन्होंने अपना 'मरकत विलास' माघ कृष्ण सप्तमी संवत् १९७० को इन्दौर में पूर्ण किया। मध्य प्रदेश के कई स्थानों मे घूमते रहने से 'मरकत' का व्यवसाय राजकीय सेवा प्रतीत होता है।

चैत्र पूर्णमासी संवत् १९२३ वि० को अतिशय क्षेत्र बैनाड़ा तथा उसके बाद शान्तिनाथ मन्दिर झालरा पाटन जाने का उल्लेख मिलने के कारण कवि का सम्बन्ध राजस्थान से भी माना जा सकता है।

सोनी जी की नसियां अजमेर के शास्त्र भण्डार में संगृहीत 'मरकत विलास' के भक्तिपूर्ण पदों में से एक पद है—

सुनो जिनराज या अरजी, करो मो ऊपरै मरजी।
पड़ो संसार की धारा, न सूझै वार का पारा।
पुकारो दीन हुई हारा, करो भव सिन्धु से पारा। 'टेक'
करम मो दुख अति दीना, सुरस निज कर को हर लीना।
प्रभु मैं आयो तुम सरना, हरो मेरी जन्म अरु मरना।
तिरो नहिं जब तक संसारा, सेवा निज दीजै भव सारा।
हरो अज्ञान अंधियारा, करो रवि ज्ञान उजियारा।
करो प्रभु मोह का नासा, रतनत्रय कीजै परकासा।
अरज मेरी हृदय धारो, 'मरकत' का कारज यहै सारो।

भक्तिपूर्ण पदों के अतिरिक्त मरकत के ३२ दोहे तथा एक गद्य रचना द्रव्य संग्रह की वचनिका भी उपलब्ध है।

दीग, भरतपुर व अजमेर के शास्त्र भंडारो में प्राप्त 'हितकर', 'सेढ़ू', 'गंगा' और 'मरकत' के भक्तिपूर्ण पद जैन भक्ति स्तोतस्विनी के अगाध और विस्तृत प्रवाह के अभिव्यंजक हैं। □□

(पृ० ११ का शेषांश)

है सीता के प्रति आसक्ति। वह एक भक्त जो जैन धर्मावलम्बी है। जो नलकूबर की पत्नी उपरम्भा का प्रेम प्रस्ताव अस्वीकार करता है और केवली का उपदेश सुनकर यह धर्म प्रतिज्ञा करता है कि मैं विरक्त परनारी का स्पर्श नहीं करूंगा। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे वह सीता का राम के प्रति प्रेम देखकर सीता हरण पर हार्दिक पाश्चात्ताप करता है।

यहाँ रावण के चारित्र में हमे "मुंह मे राम बगल में छुरी" वाली उक्ति चरितार्थ होती है क्योंकि यहां हमें रावण का दोहरा चरित्र दिखाई पड़ता है। वह किसी कार्य को करने अथवा प्रण लेने से पूर्व उसके परिणाम तथा कुपरिणाम के विषय मे सोच लेता है। उसने जब नलकूबर की पत्नी उपरम्भा का प्रेम प्रस्ताव ठुकरा दिया था तब दोहरा चरित्र दिखाई देता है एक तरफ तो उसने उसकी विद्या प्राप्त करने की बात सोची कि विद्या प्राप्त कर उसको वापिस नलकूबर के पास भेजने की दूसरे रावण उसको चाहता नही था।

दूसरी बात रावण ने केवली भगवान के निकट यह प्रण लिया था कि जो स्त्री मुझे नही चाहेगी मैं उसका स्पर्श भी नही करूंगा। उसने यह सोचकर यह प्रण लिया था कि मुझे देखकर कौन स्त्री मुझे नही चाहेगी क्योंकि मैं तो इतना बलवान, सौन्दर्ययुक्त तथा बलवान हूं। मुझे अपनाना अस्वीकार ही नहीं कर सकती तथा मोहित हुए बिना नही रह सकती अर्थात् मुझे वह अवश्य ही चाहेगी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रावण के चरित्र में दोहरा चरित्र पाया जाता है। वह किसी कार्य को करने से पहले परिणाम के विषय में सोच लेता है। कहा जाता है कि प्रतिवासुदेव सदैव वासुदेव का विरोध करते हैं। वासुदेव अपने भाई बलदेव के साथ ही युद्ध करते हैं और प्रतिवासुदेव का वध करते हैं। बलदेव अपने भाई की मृत्यु के कारण शोकाकुल होकर जैन दीक्षा लेते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। राम, लक्ष्मण, रावण ये क्रमशः बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव कहे गये हैं। □□

दशलक्षण पर्व : क्या यह शास्त्र सम्मत है ?

☐ डॉ कपूरचन्द जैन, प्रवक्ता एवं अध्यक्ष

जैन समाज में प्रमुख रूप से मनाये जाने वाले पर्वों में दशलक्षण, रत्नत्रय, अष्टाह्निका, आदि की गणना होती है। ये पर्व शाश्वत पर्व हैं, यत: ये किसी व्यक्ति विशेष या घटना से सम्बन्धित नहीं है। ये आध्यात्मिक भावो से सम्बन्धित हैं और सदा से चले आ रहे हैं। अत: अनादि हैं तथा सर्वदा चलते रहेंगे। इनमे भी पर्यूषण या दशलक्षण पर्व ही सबसे प्रमुख हैं।

यह पर्व दि० जैन परम्परानुसार भाद्रपद शुक्ल पंचमी से चतुर्दशी पर्यन्त १० दिन मनाया जाता है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा मे भाद्रपद कृष्ण १२ या १३ से भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी या पचमी तक कुल ८ दिन मनाया जाता है[1] इसका अन्तिम दिन संवत्सरी कहलाता है।

इस पर्व के लिए 'पर्युषण' और 'दशलक्षण ये दो नाम प्रचलित हैं। दिगम्बर परम्परा मे 'दशलक्षण' और श्वेताम्बर परम्परा मे 'पर्यूषण' अधिक प्रयुक्त है। इनके अर्थ और पर्व के कारणो पर विचार ही प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

'दशलक्षण का अर्थ है 'दश लक्षणों या स्वरूपो वाला'। दि० जैन शास्त्रों में संवर के हेतुओं में तीसरा हेतु 'धर्म' कहा गया है उमास्वामी ने लिखा है—'स गुप्तिसमितिधर्मानुपेक्षापरिषहजयचारित्रैः'[2] अर्थात् वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह, जय और चारित्र से होता है। आगे गुप्ति, समिति बता कर धर्म का स्वरूप कहना चाहिए था पर सीधे उसके—उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौच सत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणिधर्मः[3] कहा गया है अर्थात् उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य धर्म है। यहां धर्म एक वचन है, स्पष्ट है कि ये सभी मिलकर धर्म हैं। दूसरे शब्दों में इतने रूपों वाला धर्म है।

यह तो धर्म का उल्लेख हुआ दशलक्षण पर्व का नही। पर्व को भाद्रपद मे मनाये जाने के कारण का उल्लेख जैन शास्त्रों में प्राप्त नही होता।

हां भाद्रपद शुक्ल पंचमी को पृथ्वी पर पुनर्मनुष्यावास होने का उल्लेख जैन शास्त्रो मे बहुधा मिलता है।

जैन दर्शन के अनुसार भरत और ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों का चक्र घूमता रहता है।[4] उत्सर्पिणी वृद्धि का और अवसर्पिणी ह्रास का सूचक है इन दोनों के छह छह भेद है। वर्तमान मे अवसर्पिणी का पंचम काल चल रहा है।

पंचम काल में एक एक हजार वर्ष पश्चात् इक्कीस कल्कि होते हैं जो मुनियों के पाणिपुट में रखे गये प्रथम ग्रास को भी कर रूप में मांगते हैं। अन्तिम जल मन्थन नाम का कल्कि होगा, उसी समय अन्तिम वीरांगद साधु, सर्वश्री आर्यिका, अग्गिल श्रावक तथा पंगुसेना श्राविका होगी तब पंचम काल के तीन वर्ष, ८ माह, १ पक्ष शेष रह जाने पर कल्कि ग्रास को कर रूप में लगा। अत: चारों तीन दिन के सन्यास पूर्वक कार्तिक वदी अमावस्या को स्वाति नक्षत्र में मृत्यु को प्राप्त होगे और उसी दिन आदि मध्य और अन्त मे क्रमशः धर्म राजा एवं अग्नि का नाश हो जायगा। इसके बाद मनुष्य मत्स्यादि का भक्षण करने वाले और नग्न होंगे।[5] यहां मरे हुए जीव नारकी और तिर्यंच होंगे तथा नरक और तिर्यंच गति से आये जीव ही यहां जन्म लेंगे।[6]

छठे काल के अन्त में संवर्तक वायु से पर्वत, भूमि, वृक्ष आदि नष्ट हो जाते हैं, जीव या तो मूर्छित हो जाते हैं या मर जाते हैं। कुछ जीव बिलों आदि में घुस जाते हैं। अन्त मे पवन, अति शीत, साररस, विष, अग्नि, धूल और धुआं इन सात की, सात सात दिन (४६ दिनों) वर्षा होती है जिससे प्रलय छा जाता है।[7]

उत्सर्पिणी के पहले काल मे जल, दूध, घी, अमृत रस आदि से भरे हुए मेघ एक एक सप्ताह बरसते है। यहा 'त्रिलोकसार' की निम्न गाथा विचारणीय है—

उस्सप्पणीयपढमे पुक्खरखीरघदमिदर सा मेघा।
सत्ताहं बरसंति य णग्गामतादि आहारा ॥[८]

इसका सीधा अर्थ है कि पुष्कर जल, क्षीर, दूध, घी, अमृत तथा रस वाले मेघ एक एक सप्ताह या सप्ताह भर बरसते है किन्तु व्याख्याकार माधवचन्द्र ने अपनी संस्कृत व्याख्या[९] तथा श्रद्धेय प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अपने लेख में सात रूप सप्ताह उक्त मेघों की वर्षा होने का उल्लेख किया है।[१०] प० जी ने इसी आधार पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से ४९ दिन मानकर भाद्रपद शुक्ल पचमी को पृथ्वी पर मनुष्यावास की बात कही है, जो समीचीन नही जान पड़ती।[११]

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ती मे ४ प्रकार के मेघों का ७-७ दिन बरसने का उल्लेख है[१२] इस प्रकार इस आधार पर जो भाद्रपद शुक्ल पचमी को मनुष्यावास की बात कही जाती है वह ठीक नही।

इस पर्व के लिए बहुतायत से प्रयुक्त होने वाला दूसरा शब्द 'पर्यूषण है। पर्यूषण शब्द परि उपसर्ग पूर्वक—उष् से ल्युट् (अन्) प्रत्यय करने पर बना है।[१३] उष् का अर्थ निवास करना है। अत पर्यूषण का अर्थ होगा—'परि समन्तात उष्यते स्थाप्येतेचम् यस्मिन् तत् 'पर्यूषणम्' डॉ० देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने परि उपसर्ग पूर्वक वस् से अन् प्रत्यय करके पर्यूषण की उत्पत्ति मानते हुए इसका अर्थ किया है आत्मा के समीप रहना।[१४]

पर यह पर्यूषण पर्व का उल्लेख नही पर्यूषण कल्प का उल्लेख है। पर्यूषण के लिए प्रयुक्त होने वाला मूल शब्द 'पज्जोसवण' है भगवती आराधना में साधु के दस कल्प बताते हुए कहा गया है—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंड किरियम्मे।
जेट्ठपडिक्कमण वि य मांस पज्जो सवणकप्पो ॥[१५]

इसी प्रकार आवश्यक निर्युक्ति-मलयगिरिवृत्ति आदि में भी उक्त दस कल्पों का उल्लेख कुछ शब्दों के हेरफेर के साथ मिलता है—

'आचेलक्कुद्देसिय, सिज्जायररायपिंड कि इकम्मे।
वयजेटटपडिक्कमणो मास पज्जोसवणकप्पे ॥

दोनों स्थानो पर अन्तिम कल्प 'पज्जो सवण' है जिसका सस्कृत रूपान्तर पर्यूषण प्रतीत होता। भगवती आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि ने 'पज्जोसवण' का अर्थ 'वर्षा काल के चार मासों में एक स्थान पर रहना' किया है। पं० आशाधर ने 'पज्जो' शब्द का ही उक्त अर्थ करते हुए 'सवणकप्पो' का अर्थ 'श्रमणों का कल्प' किया है।[१६]

पज्जोसवण कल्प को वर्षावास कहा गया है। इसके लिए पर्यूषण शब्द संस्कृत में व्यवहृत है और 'परियाय ववत्यवणा, पज्जोसमणा, पागइया, परिवसना, पज्जुसणा, वासवास, पढमसमो-सरण, ठवणा तथा जेट्ठोमाह इसके पर्यायवाची वताये गये हैं।[१७]

यद्यपि ये सभी नाम एकार्थक है तथापि व्युत्पत्ति भेद के आधार पर इनमे किंचित अर्थभेद भी है।[१८] किन्तु अर्षावास (वर्षाकाल के चार माह एक स्थान पर रहना) अर्थ सभी में निहित है। साधुओं को आषाढी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर पहुंच श्रावण कृष्ण पचमी मे वर्षावास आरम्भ करना चाहिए। उचित स्थानादि न मिलने पर श्रावण कृष्ण दशमी अन्यथा अमावश्या को, उतने पर भी उचित क्षेत्र न मिले तो पांच-पांच दिन बढाते हुए भाद्रपद शुक्ला पंचमी को अवश्य ही पर्यूषण कल्पारम्भ करना चाहिए। यदि उचित क्षेत्र न मिले तो वृक्ष के नीचे ही कल्पारम्भ करे। पर इस तिथि का उल्लंघन किसी भी दशा मे नही करना चाहिए। पंचमी दशमी या पन्द्रहवी इन पर्वों मे ही कल्पारम्भ करना चाहिए अपर्व मे नही।[१९]

इस प्रकार भाद्रपद शुक्ल पचमी से पर्यूषण कल्प का आरम्भ हो सकता है। पर पर्युषण पर्व का उल्लेख नही मिलता जो दस या आठ दिन मानाया जावे। यह कैसे आरम्भ हो गया? 'कल्पसूत्र' तथा 'समवायांग' में भ० महावीर द्वारा आषाढी पूर्णिमा से ५० दिन बाद संवत्सरी मनाने का उल्लेख है, पर जैन परम्परा तो महावीर से भी पूर्ववर्ती है।

प्रवक्ता एव अध्यक्ष संस्कृत विभाग,
श्री कुन्दकुन्द महाविद्यालय, खतौली (उ०प्र०)

(सन्दर्भ पृ० १६ पर)

पर्युषण और दशलक्षणधर्म

☐ पं० पद्मचन्द्र शास्त्री 'संपादक'

जैनों के सभी सम्प्रदायों में पर्युषण पर्व की विशेष महत्ता है। इस पर्व को सभी अपने-अपने ढंग से सोल्लास मनाते हैं। व्यवहारत: दिगम्बर श्रावकों में यह दश दिन और श्वेताम्बरों में आठ दिन मनाया जाता है। क्षमा आदि दश अंगो में धर्म का वर्णन करने से दिगम्बर इसे 'दशलक्षण धर्म' और श्वेताम्बर आठ दिन का मनाने से अष्टाह्निका (अठाई) कहते हैं।

पर्युषण के अर्थ का खुलासा करते हुए राजेन्द्र कोष में कहा है :—

"परीति सर्वत क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपसमना" अथवा "परि: सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यत: सप्त-दिनानि उत्कृष्टत: षण्मासान् (?) वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा।" अथवा "परिसामस्त्येन उषणा।"

—अभि० रा० भा० ५ पृ० २३५-२३६।

जिसमे क्रोधादि भावों को सर्वत: उपशमन किया जाता है अथवा जिसमे जघन्य रूप मे ७० दिन और उत्कृष्ट रूप से छह मास (?) एक क्षेत्र में किया जाता है, उसे पर्युषण कहा जाता है। अथवा पूर्ण रूप से वास करने का नाम पर्युषण है।

पज्जोसवण, परिवसणा, पजुसणा, वासावासो य (नि० चू० १०) ये सवशब्द एकार्थवाची है।

पर्युषण (पर्युपशमन) के व्युत्पत्तिपरक दो अर्थ निकलते हैं—(१) जिसमें क्रोधादि भावों का सर्वत: उपशमन किया जाय अथवा (२) जिसमें जघन्य रूप में ७० दिन और उत्कृष्ट रूप में चार मास पर्यन्त एक स्थान मे वास किया जाय। (ऊपर के उद्धरण मे जो छह मास का उल्लेख है वह विचारणीय है।)

प्रथम अर्थ का सम्बन्ध अभेदरूप से मुनि, श्रावक सभी पर लागू होता है, कोई भी कभी भी क्रोधादि के उपशमन (पर्युषण) को कर सकता है। पर, द्वितीय अर्थ में साधु की अपेक्षा ही मुख्य है, उसे चतुर्मास करना ही चाहिए। यदि कोई श्रावक चार मास की लम्बी अवधि तक एकत्र वास कर धर्म साधन करना चाहे तो उसके लिए भी रोक नही। पर, उसे चतुर्मास अनिवार्य नही है। अनिवार्यता का अभाव होने के कारण ही श्रावकों मे दिगम्बर दस और श्वेताम्बर आठ दिन की मर्यादित अवधि तक इसे मानते है और ऐसी ही परम्परा है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएँ ऐसा मानती है कि उत्कृष्ट पर्युषण चार मास का होता है। इसी हेतु इसे चतुर्मास नाम से कहा जाता है। दोनो ही सम्प्रदाय के साधु चार मास एक स्थान पर ही वास करते हुए तपस्याओ को करते है। यत:—उन दिनो (वर्षाऋतु) मे जीवोत्पत्ति विशेष होती है। और हिंसादि दोष की अधिक सम्भावना रहती है और साधु को हिंसादि पाप सर्वथा वर्ज्य है।—उसे महाव्रती कहा गया है।

"पज्जुसवणा कप्प का वर्णन दोनो सम्प्रदायो में है। दिगम्बरों के भगवती आराधना (मूलाराधना) में लिखा है :—

"पज्जोसमणकप्पो नाम दशम:। वर्षाकालस्य चतुर्षु-मासेषु एकत्रावस्थानं भ्रमण त्याग:। त्रिंशत्यधिकं दिवस-शत एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्ग। कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वाऽवस्थानम्।

पज्जोसवण नामक दसवां कल्प है। वर्षाकाल के चार मासों मे एकत्र ठहरना—अन्यत्र भ्रमण का त्याग करना, एक सौ बीस दिन एक स्थान पर ठहरना उत्सर्ग मार्ग है। कारण विशेष होने पर हीन वा अधिक दिन भी हो सकते हैं। भगवती आरा० (मूला रा०) आश्वास ४ पृ० ६१६।

श्वेताम्बरो में 'पर्यूषणाकल्प' के प्रसग में जीतकल्प सूत्र में लिखा है :—

'चाउम्मासुक्कोसे' सत्तरि राइंदिया जहण्णेणं ।
ठितमट्ठितगेमतरे, कारणे बच्चासितऽण्णयरे ।।—

—जीत क० २०६५ पृ० १७६

विवरण—'उत्कर्षतः पर्यूषणाकल्पश्चतुर्मासं यावद्भवति, अषाढ पूर्णिमायाः कार्तिकपूर्णिमां यावदित्यर्थः—अशिवादौ कारणे समुत्पन्ने एकतरस्मिन् मासकल्पे पर्युषणाकल्पे वा व्यत्यासितं विपर्यस्तमपि कुर्युः ।

—अभि० रा० भाग० ५ पृ० २४५

पर्यूषण कल्प के समय की उत्कृष्ट मर्यादा चतुर्मास (१२० दिन रात्रि) है। जघन्य मर्यादा भाद्रपदशुक्ला पंचमी से प्रारम्भ कर कार्तिक पूर्णिमा तक (सत्तर दिन) की है।—कारण विशेष होने पर विपर्यास भी हो सकता है—ऐसा उक्त कथन का भाव है।

इस प्रकार जैनो के सभी सम्प्रदायो मे पर्व के विषय में अर्थ भेद नहीं है और ना ही समय की उत्कृष्ट मर्यादा में ही भेद है। यदि भेद है तो इतना ही है कि (१) दि० श्रावक इस पर्व को धर्मपरक १० भेदों (उत्तम, क्षमा, मार्दवार्जव, शौच, सत्य, संयम, तपस्त्याग, अकिंचन्य, ब्रह्मचर्याणि धर्मः) की अपेक्षा मनाते है और प्रत्येक दिन एक धर्म का व्याख्यान करते हैं। जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रावक इसे आठ दिन मनाते है। वहा इन दिनों मे कही कल्पसूत्र की वाचना होती है और कही अन्तकृत सूत्रकृतांग की वाचना होती है। और पर्व को दिन की गणना आठ होने से 'अष्ट'—आह्निक (अष्टाह्निक अठाई) कहते हैं। साधुओ का पर्यूषण तो चार मास ही है।

दिगम्बरों में उक्त पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी से प्रारम्भ होता है और श्वेताम्बरो में पंचमी को पूर्ण होता है। दोनों सम्प्रदायों में दिनों का इतना अन्तर क्यो? ये शोध का विषय है। और यह प्रश्न कई बार उठा भी है। समझ वाले लोगों ने पारस्परिक सौहार्द वृद्धि हेतु ऐसे प्रयत्न भी किए हैं कि पर्यूषण मनाने की तिथियां दोनो मे एक ही हो। पर, वे असफल रहे हैं।

पर्यूषण के प्रसंग में और सामान्यतः भी, जब हम तप प्रोषध आदि के लिए विशिष्ट रूप से निश्चित तिथियों पर विचार करते हैं तब हमें विशेष निर्देश मिलता है कि—

"एवं पर्वसु सर्वसु चतुर्मास्यां च हायने ।
जन्मन्यपि यथाशक्ति स्व-स्व सत्कर्मणां कृति ।।"

धर्म स० ६९ पृ० २३८

—वर्ष के चतुर्मास के सर्व पर्वों मे और जीवन में भी यथाशक्ति स्व-स्व धार्मिक कृत्य करने चाहिए। (यह विशेषतः गृहस्थ धर्म है)। इसी श्लोक की व्याख्या में पर्वों के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

"तत्र पर्वाणि चैवमुचुः—

"अट्ठम्मि चउद्दसि पुण्णिमा य तहा मावसा हवइ पव्वं
मासंमि पव्व छक्क, तिन्नि अ पव्वाई पक्खंमि ।।"

"चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णमासी त्ति सूत्रप्रामाण्यात्, महानिशीथेतु ज्ञान पचम्यपि पर्वत्वेन विश्रुता। अट्ठमी, चउद्दसीसुं नाण पंचमीसु उववासं न करेइ पच्छित्तमित्यादिवचनात्। एषु पर्वसु कृत्यानि यथा—पौषधकरणं प्रति पर्व तत्करणाशक्तौ तु अष्टम्मादिषु नियमेन। यदागमः,—

'सव्वेसु कालपव्वेसु, पसत्थो जिणमए हवइ जोगो।
अट्ठमि चउद्दसीसु अ नियमेण हवइ पोसहिओ ।।'

—धर्म स० (व्याख्या) ६६

—पर्व इस प्रकार कहे गये हैं—अष्टमी चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावश्या, ये मास के ६ पर्व हैं और पक्ष के ३ पर्व हैं। इसमे 'चउद्दसट्ठमद्दिट्ठपुण्णिमासु' यह सूत्र प्रमाण है। महानिशीथ में ज्ञान पंचमी को भी पर्व प्रसिद्ध किया है। अष्टमी, चतुर्दशी और ज्ञान पचमी को उपवास न करने पर प्रायश्चित का विधान है।—इन पर्वों के कृत्यों मे प्रोषध करना चाहिए। यदि प्रति पर्व में उपवास की शक्ति न हो तो अष्टमी, चतुर्दशी को नियम से करना चाहिए। आगम में भी कहा है—'जिनमत में सर्व निश्चित पर्वों में योग को प्रशस्त कहा है और अष्टमी, चतुर्दशी के प्रोषध को नियमतः करना बतलाया है।

उक्त प्रसंग के अनुसार जब हम दिगम्बरों में देखते हैं तब ज्ञात होता है कि उनके पर्व पंचमी से प्रारम्भ होकर (रत्नत्रय सहित) मासान्त तक चलते हैं, और उनमें आगम विहित उक्त सर्व (पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा)

पर्व आ जाते हैं।' जब कि श्वेताम्बरों में प्रचलित पर्व दिनों में अष्टमी का दिन छूट जाता है—उसकी पूर्ति होनी चाहिए। बिना पूर्ति हुए आगम की आज्ञा 'नियमेण हवइ पोसहिओ' का उल्लंघन ही होता है। वैसे भी इसमे किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि पर्यूषण काल मे अधिक से अधिक प्रोषध की तिथियो का समावेश रहे। यह समावेश और जैनियों के विभिन्न पन्थों की पूर्व तिथियों में एकरूपता भी, तभी सम्भव हो सकती है जब पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी से ही प्रारम्भ माने जायँ।

कल्पसूत्र के पर्यूषण समाचारी में लिखा है—'समणे भगवं महावीरे वीसाणं सवीसइराए मासे वइक्कते वासा-वासं पज्जोसेवइ।' इस 'पज्जोसेवइ' पद का अर्थ अभिधान राजेन्द्र पृ० २३६ भा० ५ में 'पर्यूषणामाकार्षीत्' किया है। अर्थात् 'पर्यूषण' करते थे। और दूसरी ओर कल्पसूत्र नवम क्षण मे श्री विजयगणि ने इस पद की टीका करते हुए इसकी पुष्टि की है (देखें पृ० २६८)—

'तेनार्थेन तेन कारणेन हे शिष्याः ? एवमुच्यते, वर्षाणां विंशति रात्रियुक्ते मासे अतिक्रान्ते पर्यूषणमकार्षीत्।' दूसरी ओर पर्यूषणाकल्प चूर्णि मे 'अन्नया पज्जोसवणादि-वसे आगए अज्जकालगेण सालिवाहणे भणिओ भद्दवजुण्ह-पंचमीए पज्जोसवणा'—(पज्जोसविज्जइ) उल्लेख भी है।
—अभि० पृ० २३८

उक्त उद्धरणो मे स्पष्ट है कि भ० महावीर पर्यूषणा करते थे और वह दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी था। इस प्रकार पंचमी का दिन निश्चित होने पर भी 'पंचमीए' पद की विभक्ति में सन्देह की गुंजाइश रह जाती है कि पर्यूषणा पचमी मे होती थी अथवा पंचमी से होती थी। क्योंकि व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'पंचमीए' रूप तीसरी पचमी और सातवी तीनों ही विभक्ति का हो सकता है।

यदि ऐसा माना जाय कि केवल पंचमी मे ही पर्यूषण है तो पर्यूषण को ७-८ या कम-अधिक दिन मनाने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, और ना ही अष्टमी के प्रोषध की अनिवार्यता सिद्ध होती है जबकि अष्टमी को नियम से प्रोषध होना चाहिए। हां, पंचमी से पर्यूषण हो तो आगे के दिनो मे आठ या दस दिनों की गणना को पूरा किया जा सकता है। सम्भवतः इसीलिए कोषकार ने 'भाद्रपद शुक्ल पंचम्यां अनतरं' पृ० २५३ और 'भाद्रपद शुक्ला पंचम्या कार्तिक पूर्णिमां यावदित्यर्थः' पृ० २५४ मे लिख दिया है। यहां पंचमी विभक्ति की स्वीकृति से स्पष्ट होता है कि 'पचमीए' का अर्थ 'पचमी से' होना चाहिए। इस अर्थ की स्वीकृति से अष्टमी के प्रोषध के नियम की पूर्ति भी हो जाती है। क्योंकि पर्व मे अष्टमी के दिन का समावेश इसी रीति में शक्य है। 'अनन्तर' से तो सन्देह को स्थान ही नही रह जाता कि पंचमी से पर्यूषण शुरू होता है और पर्यूषण के जघन्य काल ७० दिन की पूर्ति भी इसी भांति होती है।

दिगम्बर जैनो मे कार्तिक फाल्गुन और आषाढ मे अन्त के आठ दिनो में (अष्टमी से पूर्णिमा) अष्टाह्निका पर्व माने हैं ऐसी मान्यता है कि देवगण नन्दीश्वर द्वीप मे इन दिनो अकृत्रिम जिन मन्दिरों में बिम्बों के दर्शन-पूजन को जाते हैं। देवो के नन्दीश्वर द्वीप जाने की मान्यता श्वेताम्बरों में भी है। श्वेताम्बरो की अष्टाह्निका की पर्व तिथिया चैत्र सुदी ८ से १५ तक तथा असोज सुदी ८ से १५ तक हैं। तीसरी तिथि जो (सम्भवतः) भाद्र वदी १३ से सुदी ५ तक प्रचलित है, होगी। यह तीसरी तिथि सुदी ८ से प्रारम्भ क्यो नहीं? यह विचारणीय ही है—जबकि दो बार की तिथियां अष्टमी से शुरू हैं।

हो सकता है—तीर्थंकर महावीर के द्वारा वर्षा ऋतु के ५० दिन बाद पर्यूषण मनाने से ही यह तिथि परिवर्तन हुआ हो। पर यदि ५० दिन के भीतर किसी भी दिन शुरू करने की बात है तब इस अष्टाह्निका को पंचमी के पूर्व से शुरू न कर पचमी से ही शुरू करना युक्ति सगत है। ऐसा करने से 'सवीसराए मासे वइक्कते (बीतने पर)' की बात भी रह जाती है और 'सत्तरिराइंदिया जहण्णेणं' की बात भी रह जाती है। साथ ही पर्व की तिथियां (पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी) भी अष्टाह्निका मे समाविष्ट रह जाती हैं जो कि प्रोषध के लिए अनिवार्य है।

एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि जैनो मे पर्व सम्बन्धी तिथि काल का निश्चय सूर्योदय काल से ही करना आगम सम्मत है। जो लोग इसके विपरीत अन्य

कोई प्रक्रिया अपनाते हो उन्हे भी आगम के वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए—

'चाउम्मास अवरिसे, पक्खि अ पचमीट्ठमीसु नायव्वा।
ताओ तिहीओ जासि, उदेइ सूरो न अण्णाउ ॥१
पूआ पच्चक्खाणं पडिकमण तइय निअन गहण च।
जीए उदेइ सूरो तीइ तिहीए उ कायव्व ॥२॥'

—धर्मस० पृ० २३६

वर्ष के चतुर्मास में चतुर्दशी पंचमी और अष्टमी को उन्ही दिनों में जानना चाहिए जिनमें सूर्योदय हो, अन्य प्रकार नहीं। पूजा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और नियम निर्धारण उसी तिथि मे करना चाहिए जिसमें सूर्योदय हो।

□□

१. मुनियो का वर्षावास चतुर्मास लगने से लेकर ५० दिन बीतने तक कभी भी प्रारम्भ हो सकता है अर्थात् अषाढ़ शुक्ला १४ से लेकर भाद्रपद शुक्ला ५ तक किसी भी दिन शुरू हो सकता है।

—जैन-आचार (मेहता) पृ० १८७

(पृ० १६ का शेषांश)

संदर्भ-सूची :

१. जैन दर्शन मनन और मीमांसा : मुनि नथमल चुरू। १९७७ पृ० १३४
२. तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वामी, वाराणसी ६/२
३. वही ६/६
४. वही ३/२७
५. त्रिलोकसार : नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्री महावीर जी वी० नि० स० २५०१, गाथा ८५-८६।
६. वही गाथा ८६३
७. वही गाथा ८६४-८६७
८. वही गाथा ८६८
९. 'उदकक्षीरघृतमृतारसान् सप्त सप्ताह वर्षन्ति…' वही गाथा ८६८ की व्याख्या।
१०. सन्मतिवाणी : इन्दौर मे पं० जी का लेख, 'पर्युषण : श्रमणकल्प, 'श्रावक सकल्प'।
११. वही।
१२. तिलोय पण्णत्ती : यतिवृषम, सोलापुर ४/१५८६-१५६३।
१३. संस्कृत हिन्दी कोष : आप्टे, दिल्ली १९७७, पृ० ५९५
१४. मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रथ : व्यावर, १९६८ पृ० २९०।
१५. भगवती आराधना : शिवकोटि, कलकत्ता १९७६, गाथा ४२१।
१६. सम्मतिवाणी : प० कैलाशचन्द जी का लेख।
१७. मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रंथ : पृ० २९१।
१८. वही पृ० २९१।
१९. "आषाढपुण्णिमाए ठियाण जाति……… अप्पव्वे णवट्टति" कल्पसूत्रचूर्णि : सम्पा० मुनि पुण्यविजयजी पृ० ८९।

संस्कृत के पूर्वमध्यकालीन जैनकवि जटासिंहनन्दि : परिचय एवं काल-निर्णय

□ डॉ० कमल कुमारी, आरा

किसी भी व्यक्ति के कार्यों का वर्णन वैशिष्ट्य एवं उसके गुणों का संकीर्तन तो सुलभ है किन्तु स्वयं मे उन प्रेरक तत्त्वों को समाहित करना दुर्लभ-सा प्रतीत होता है :—

गुणानां व विशालानां सत्काराणां च नित्यश ।
कर्तारः सुलभाः लोके विज्ञातारस्तु दुर्लभाः ॥

मैंने अधिकांशतः कवियो के रचनात्मक कार्यों का अध्ययन किया तथा उसके माध्यम से ज्ञान-विज्ञान की बातों को स्वय में तथा अन्य लोगों मे प्रसारित प्रचारित करने का प्रयास किया किन्तु किसी भी कवि की वर्णन शैली एवं वर्ण्यविषय ने मुझे उतना प्रभावित नही किया जितना जैन कवि जटासिंहनन्दि ने। इस कवि की निष्काम सेवा ने बरबस मुझे उसके कर्तृत्व एव व्यक्तित्व को उद्भासित करने के लिए उत्प्रेरित कर दिया है।

सस्कृत के जैन साहित्य के इतिहास के अध्ययन प्रसग मे ही नही विश्वसाहित्य के अध्ययन प्रसंग मे भी महाकवि जटासिंहनन्दि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। दक्षिण भारतीय जैन कवि समन्तभद्र, देवनन्दि पूज्यपाद, नागपर्व, पुलकरिकेसोम, सदाक्षरदेव, आदि की प्रमुखता के साथ-साथ महाकवि जटासिहनन्दि की प्रमुखता अपने आप मे अद्वितीय एवं अलौकिक है। इस कवि की एकमात्र रचना वराङ्गचरितम् ही अद्यावधि उपलब्ध है। मेरे अध्ययन का स्रोत डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सपादित ग्रन्थ है। सर्वप्रथम तो कवि की जीवन वृत्ति ने ही मुझ पर अमिट छाप छोड़ी, क्योकि उस कृति के आद्योपान्त अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने आत्मख्याति से दूर रहकर शुद्ध साधक-साधु वृत्ति से एकान्त-साहित्य-साधना की है तथा अपने ग्रन्थ मे उसने ऐसा कोई भी साक्ष्य प्रस्तुत न किया है, जिससे अगली पीढ़ी ग्रन्थकार का नाम भी जान सके—उस महापुरुष की यह निरपेक्ष-वृत्ति किसी भी साहित्यिक रसिक को सहज श्रद्धापूर्वक आकर्षित कर सकती है। कलापक्ष एवं भावपक्ष की दृष्टि से तो उक्त कृति उत्कृष्ट कोटि की है ही, समकालीन भारतीय संस्कृति, इतिहास एवं भूगोल की दृष्टि से भी वह एक प्रामाणिक कृति है।

वैसे प्राच्य-शास्त्रागारो मे भारतीय विद्या की अमूल्य निधि भरी पड़ी है। १७-१८वीं सदी से प्राच्य-भारती के देश-विदेश के सुधी विद्वानों का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और उनके प्रयासो से अनेक ग्रन्थरत्नो का उद्धार हुआ, किन्तु जितना साहित्य अभी प्रकाश मे आया है उसका सहस्रगुणा भाग अद्यावधि अन्धकाराछन्नावस्था मे ही है और वह उद्धारको की प्रतीक्षा कर रहा है। जटासिहनन्दि के सही उद्धारक डा० ए० एन० उपाध्ये ही हैं जिनकी पैनी दृष्टि ने आज वैसे महाकाव को जिसकी रचना को लोग भ्रमवश रविषेण की समझ बैठे थे, ढूंढ निकाला।

वि० स० १९८५ तक इस कवि के विषय मे किसी को कोई भी जानकारी नही थी। सर्वप्रथम पं० नाथूराम जी प्रेमी ने जब आचार्य रविषेण कृत पद्मचरितम् का प्रकाशन किया तथा उसकी भूमिका मे जिनसेन (प्रथम) कृत हरिवंशपुराण की प्रशस्ति के पूर्वाचार्य स्मरण-प्रसंग मे प्राप्त वराङ्गचरित का उल्लेख किया, तो साहित्य-जगत् मे प्रसन्नता की एक लहर उत्पन्न हो गई, किन्तु प्रेमी जी ने उक्त व० च० को भ्रमवश रविषेण कृत बतलाया। डा० उपाध्ये ने एतद्विषयक गहरी छान-बीन की तथा प्रेमी जी के उक्त मत का मात्र खण्डन ही नही किया,

अपितु घोर परिश्रम के बाद उसकी कुछ ताडपत्रीय हस्त-प्रतियों को उपलब्ध कर अन्तर्बाह्य साक्ष्यो के आधार पर यह सिद्ध किया कि व० च० का कर्ता जटा अथवा जडिय, जडिल या जटिल अथवा जटासिंहनन्दि था।

अद्यावधि प्राप्त साक्ष्यों में व० च० ग्रन्थ एवं इसके ग्रन्थकार का सर्वप्रथम एक साथ उल्लेख उद्योतन सूरि (वि० सं० ८३५) रचित—"कुवलयमालाकहा" मे उपलब्ध होता है, जिसमें व० च० के कर्ता जडिय का वर्णन है। अपभ्रंश कवियों मे धवल (११वी सदी) एवं धनपाल (वि० सं० १४४४) ने व० च० को जडिय कृत न मानकर जडिलमुनि कृत कहा है। कन्नड़ कवि चामुण्डराय (वि० सं० १०३१–१०४१), नयसेन (वि० स० ११६६), जन्म (वि० सं० १२९२) एवं महाबल (वि० स० १३११) ने व० च० के कर्ता को जटासिंहनन्दि मुनि के नाम से स्मरण किया है। इतना ही नही आचार्य जिनसेन द्वितीय (लगभग वि० सं० ८९५), कन्नड़ कवि पम्प (वि० सं० ९२०) एव पार्श्वपंडित (वि० सं० १२९२) ने वराङ्गचरित के कर्ता को आचार्य जटाचार्य के नाम से स्मरण किया है।

इन सभी साक्ष्यो से स्पष्ट है कि एक ही कवि को विविध नामो से स्मरण करने की परम्परा कोई नवीन नहीं है। इसका अभ्यास प्राचीनकाल से ही रहा है। कभी-कभी तो ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकारो के अपर नामो मे शब्द अथवा वर्ण्यसाम्य भी दृष्टिगत नही होता। इसका कारण यह है कि कवि अथवा काव्य का जो विशिष्ट गुण लोक को सर्वाधिक प्रभावित एव चमत्कृत कर देता है, उसी के आधार पर लोक मे उसका नाम प्रचलित हो जाता है। उदाहरणार्थ महाकवि कालिदास का अपरनाम 'दीपशिखा', रावणवध का अपरनाम 'भट्टिकाव्य', भारवि का अपरनाम 'आतपत्र' आदि प्रसिद्ध हैं। इस आलोक मे यदि व० च० के कर्ता के नाम का अध्ययन किया जाय तो जटासिंहनन्दि का मूल नाम सिंहनन्दि रहा होगा, किन्तु जटिल जटाजूटधारी होने से ही उन्हे आचार्य जटा, जडिय, जटिल जैसे नामों से भी अभिहित कर दिया गया होगा।

काल निर्णय :—

जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है कि जटिल अथवा जटासिंहनन्दि ने अपने व० च० में स्वविषयक किसी भी प्रकार की सूचना नही दी है, अत: उसके काल को निर्णय करने मे अन्तर्साक्ष्यो के अभाव मे अनेक कठिनाइया है। अत: इस स्थिति मे बाह्य साक्ष्यो का अवलम्बन लेकर ही कुछ विचार किया जा सकता है। इसके लिए निम्न साधन सामग्री का अध्ययन आवश्यक है :—

(१) परवर्ती कवियो द्वारा जटिल अथवा जटासिंहनन्दि का स्मरण।

(२) दक्षिण भारत स्थित कोप्पल-ग्राम मे प्राप्त शिलालेख एवं

(३) व० च० में वर्णित सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक सामग्री एव अन्य वर्णनों का पूर्ववर्ती आचार्यों एवं महाकवियो द्वारा वर्णित सामग्री के साथ तुलनात्मक अध्ययन।

उत्तरावधि :—

(क) व० च० एव उसके कर्ता जटिल अथवा जटासिंहनन्दि का उल्लेख करने वाले कवियों मे उद्योतनसूरि का नाम सर्वप्रथम है। उन्होंने अपनी कुवलयमालाकहा मे पूर्ववर्ती कवियों के स्मरण प्रसंग मे पद्मचरित के कर्ता रविषेण के पूर्व जडिय अथवा जटिल का नामोल्लेख किया है।[१] इस आधार पर प्रतीत होता है कि जडिय अथवा जटासिंहनन्दि रविषेण के पूर्ववर्ती कवि है। रविषेण का समय वि० स० ८३४ निश्चितप्राय ही है।[२]

(ख) उद्योतनसूरि के उक्त उल्लेख के अतिरिक्त भी नवी सदी से तेरहवी सदी तक के पूर्वोक्त संस्कृत-प्राकृत, अपभ्रंश एवं कन्नड कवियों ने भी व० च० एवं उसके कर्ता का उल्लेख जितने आदर एव श्रद्धा के साथ किया है उससे यह स्पष्ट है कि जटिल अथवा जटासिंहनन्दि अपनी काव्य कला से दक्षिण भारत के साथ-साथ उत्तर भारत को प्रभावित कर पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे और सम्भवत: उसी से प्रभावित होकर उद्योतनसूरि ने उनका उल्लेख किया होगा। कवि-काल मे यातायात के साधनों एवं सुदूरवर्ती स्थानो तक बिस्तृत कवि-कीर्ति को ध्यान मे रखते हुए यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि जटासिंहनन्दि एवं उद्योतनसूरि के मध्य पर्याप्त समय का अन्तर होना चाहिए।

(ग) कोप्पल ग्राम में प्राप्त शिलालेख, जिसकी चर्चा पूर्व में ही की जा चुकी है, उसमे जटासिंहनन्दि का स्पष्ट उल्लेख है।[१] पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उसे ईसा की १०वी सदी का शिलालेख है किन्तु प्रो० उपाध्ये ने विविध तर्कों के आधार से उसे जटासिंहनन्दि के स्वर्गारोहण के सौ-दो सौ वर्षों के बाद उत्कीर्ण किये जाने का निर्णय किया है। उपाध्ये के तर्कों का चूंकि अभी तक खण्डन नही किया जा चुका है इससे प्रतीत होता है कि विद्वानों को उनका निर्णय मान्य है और इस प्रकार इस शिलालेख के अनुसार जटासिंहनन्दि का समय वि० स० ८३५ के पूर्व ही सम्भव है, बाद में नही।

इस प्रकार उक्त तीनो तथ्यों के आधार पर जटासिंहनन्दि की उत्तरावधि वि० सं० ८३५ सिद्ध होती है।

पूर्वावधि :—

(घ) कवि के जीवन अथवा रचनाकाल की पूर्वावधि के निश्चय के लिए भी कोई ठोस प्रमाण नही मिल सके है, क्योंकि कवि ने स्वय ही न तो अपने किसी गुरु का उल्लेख किया है और न ही किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थकार, राजा, महाराजा, समकालीन नगरसेठ अथवा अपने किसी आश्रयदाता का ही उल्लेख किया है। इस कारण पूर्वावधि के निर्धारण मे अनेक कठिनाइयाँ है, फिर भी कुछ ऐसे साधन है, जिनके आधार पर पूर्वावधिविषयक कुछ अनुमान किये जा सकते है। ऐसे साधनो में सर्वप्रथम व०च० में वर्णित सैद्धान्तिक, आचारात्मक एव दार्शनिक विषयो को लिया जा सकता है।

जटासिंहनन्दि ने व० च० मे सैद्धान्तिक दृष्टि से जहाँ आचार्य उमास्वाति रचित रचनाओं का आश्रय ग्रहण किया है,[२] वही समन्तभद्र के स्वयम्भू स्तोत्र के कुछ श्लोको का कुछ अनुकरण भी किया है।[३] इसी प्रकार व० च० के कुछ दार्शनिक वर्णन प्रसंग सिद्धसेनकृत सन्मति प्रकरण के तुलनीय हैं।[४] साथ ही सामयिक पाठ आदि की व्याख्या संस्कृत के "सामयिक पाठ" नामक ग्रन्थ के सदृश है।[५] कुछ विद्वानों के अनुसार संस्कृत का सामयिक पाठ पांचवीं सदी के आचार्य "पूज्यपाद" कृत है।[६] इन समकक्षताओं को देखकर यह अनुमान तो किया जा सकता है कि जटासिंहनन्दि के समक्ष पूर्वोक्त उमास्वाति, समन्तभद्र, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद एव सिद्धसेन कृत रचनाएँ अवश्य रही होंगी किन्तु दुर्भाग्य यह है कि उक्त आचार्यों का समय भी अद्यावधि विवादास्पद ही बना हुआ है।[९] फिर भी उक्त आचार्यों में से सिद्धसेन, जिनके 'सन्मति प्रकरण' के अनेक स्थल व० च० के वर्णनो से अधिक मेल खाते हैं, उक्त सभी आचार्यों मे परवर्ती सिद्ध होते है। प्रो० उपाध्ये प्रभृति विद्वानो ने उनका समय ईसा की सातवी सदी का अनुमान किया है।[१०]

(ङ) व० च० का महाकवि भारविकृत किरातर्जुनीयम् के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से विदित होता है कि किरातर्जुनीयम् के स्थापत्य का व० च० पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। किरातर्जुनीयम् के छन्द वैविध्य ने तो उसे प्रभावित किया ही है, साथ ही युद्ध एव वस्तु-वर्णन भी उसके समकक्ष हैं। महाकवि भारवि का समय वि० सं० की सातवी सदी का पूर्वार्ध लगभग निश्चित ही है।[११]

(च) आचार्य जिनसेन-द्वितीय ने सिद्धसेन, समन्तभद्र, यशोभद्र, प्रेमचन्द्र और शिवकोटि के बाद जटाचार्य का स्मरण किया है।[१२] आचार्य जिनसेन का समय पूर्व में बतलाया ही जा चुका है।

इस प्रकार उक्त सन्मति प्रकरण (सिद्धसेन) एवं किरार्जुनीयम् (भारवि) के व० च० के पड़े हुए प्रभाव के लक्ष्य कर तथा जिनसेन द्वितीय के पूर्वाचार्य स्मरणक्रम पर दृष्टिपात करने से यही प्रतीत होता है कि जटासिंहनन्दि विक्रम की सातवी सदी के पूर्व नही हो सकता और इस प्रकार उसकी पूर्वावधि विक्रम की सातवी सदी सिद्ध होती है।

निष्कर्ष :—

उक्त सभी तथ्यो के आधार पर व० च० के रचयिता का समय विक्रम की सातवी सदी से नहीं सदी के मध्य सिद्ध होता है। उद्योतनसूरि के उल्लेखानुसार जटासिंहनन्दि विक्रम की नवीं सदी के पूर्वार्ध का सिद्ध होता है, किन्तु उद्योतनसूरि के काल तक व० च० की जिस प्रकार की सर्वत्र ख्याति फैल चुकी है, यदि उसकी कालावधि

(शेष पृ० २९ पर)

विचारार्थ :—

नये प्रकाशन पर साधुवाद

□ श्री मुन्नालाल जैन, 'प्रभाकर'

वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित 'परम आध्यात्म तरंगिणी' को देखा बहुत सुन्दर ग्रन्थ है इसके साथ इसकी प्रस्तावना भी देखी बहुत अच्छी लिखी है। संस्था ने अप्राप्य टीका को प्रकाश मे लाकर पुण्य का कार्य किया है। प्रस्तावना की बीजभूत परमात्मा, धर्म तथा वस्तु आदि की परिभाषाये पढ़ी तो कुछ समझने मे बड़ी कठिनाई पड़ी क्योकि वे परिभाषाये आगम में कही गई परिभषाओ से मेल खाती नही दिखी और न कहीं आगम प्रमाण ही दिखे। परिभाषाएँ किस अपेक्षा से दी है यह खुलासा नहीं है? उदाहरण के तौर पर कुछ परिभाषायें जैसे—

(१) परमाध्यात्मतरगिणी की प्रस्तावना पृष्ठ १० पर जीव बीज भूत परमात्मा की परिभाषा इस प्रकार की है—'यद्यपि संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था से ही पुरुषार्थ चालू हो सकता है—यह जीव बीज भूत परमात्मा है वट के बीजों की तरह वट वृक्ष बनने की शक्ति को तरह परमात्मा बनने की शक्ति इसमें है जिसको अपने पुरुषार्थ से इसे व्यक्त करना है।' इसका कोई आगम प्रमाण नही दिया, जबकि आगम मे मात्र संज्ञी पंचेंद्रिय मे ही नही प्रत्येक जीव में परमात्मा बनने की शक्ति कही है चाहे वह निगोद में हो चाहे किसी भी पर्याय में।

प्राचीन आचार्यों ने जो सैद्धान्तिक परिभाषाएं लिखी हैं उनको हम यदि बदलेगे तो जो भाव आचार्यों का है वह नहीं आ सकेगा। आचार्यों ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है कि हम उसमे से एक भी शब्द घटा बढा नही सकते यदि ऐसा करेंगे तो सिद्धान्त का घात हो जायगा, भाव बदल जायगा अथवा कोई न कोई दोष आ जायगा जो किसी भी वस्तु के लक्षण मे नही होना चाहिए। वे दोष निम्न लिखित हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव। प्रस्तावना में जीव बीज भूत परमात्मा की जो उपर्युक्त परिभाषा है उसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोनों दोष पाये जाते हैं जैसे यदि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को ही परमात्मा बीज भूत माना जायगा तब असैनी उसमे बाहर हो जायेंगे और—

सब जीवों में परमात्मा बनने की शक्ति का अभाव मानना पड़ेगा और लक्षण के जीव के एक देश मे रहने से अव्याप्ति दोष आयेगा जबकि आगम में परमात्मा बनने की शक्ति मात्र संज्ञी जीव में ही नही अपितु प्रत्येक जीव में है अर्थात् (२) अतिव्याप्ति दूषण ये है कि अभव्य सज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जो मुनि व्रत धारण करके नवमें ग्रीवक तक पहुंच जाता है परन्तु वह सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र को प्राप्त नही कर सकता और न परमात्मा बन सकता जबकि उपर्युक्त लक्षण के अनुसार वह भी शक्ति व्यक्त कर सकता है। छहढाला मे कहा है—'मुनि व्रत धार अनन्त बार ग्रीवक लो उपजायो। पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥' (जैसा कि प्रस्तावना मे-देकर खुलाहा किया है) यदि सज्ञी पचेन्द्रिय जीव को ही बीज भूत परमात्मा मानेंगे तो अभव्य को भी मोक्ष मानने का प्रसंग आयेगा परन्तु आगम में कहा है अभव्य कभी भी मोक्ष प्राप्त नही कर सकता क्योंकि अभव्य मे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र प्रगट करने की योग्यता नही। अभव्य की परिभाषा मे कहा है कि जिस शक्ति के निमित्त से आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र प्रगट होने की योग्यता न हो उसे अभव्यत्व गुण कहते हैं।

वट के बीजों की तरह वट वृक्ष बनने की शक्ति सज्ञी पचेन्द्रिय व अभव्य जीव मे शक्ति होते हुए भी पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र को प्रगट करने की योग्यता (अभव्य सज्ञी पंचेन्द्रिय) मे नहीं है जिसके बिना तीन काल मे भी (कभी) परमात्मा नही बन सकता ये अतिव्याप्ति दोष आ गया। सारांश यह निकला प्रत्येक

जीव में शक्ति होते हुए भी अभव्यत्व गुण के होने से बहुत तो सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय जीव पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त नही कर सकते जो मोक्ष अर्थात् परमात्मा बनने का मुख्य कारण है। वैसे चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सभी गुण-स्थानवर्ती जीव परमात्मा बनने की योग्यता रखते हैं किन्तु मुख्य कारण सम्यग्दर्शन है जिसके बिना परमात्मा बन ही नही सकता। इसके सिवाय क्षपक श्रेणी मांडने वाला साधु अवश्य ही थोड़े ही काल मे परमात्मा बन जायगा इसलिए अभव्य सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीव मे सच्चा पुरुषार्थ करके परमात्मा बनने की योग्यता नहीं है इसलिए ऐसा कहना चाहिए था कि परमात्मा बनने की शक्ति तो प्रत्येक जीव मे है न कि संज्ञी पचेन्द्रिय जीव में परन्तु उस शक्ति को व्यक्त करने की योग्यता प्रत्येक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मे नही है वे ही सज्ञी पचेन्द्रिय जीव व्यक्त कर सकते है जिनमे भव्यत्व गुण है अभव्यत्व गुण वाले सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीव भी नही कर सकते। आगम में सर्वत्र परमात्मा बनने का उपदेश दिया है वहां (भव्य जीवो) को सबोधन किया है। अभव्य जीवों को कहीं संबोधन नही किया क्योकि उनमे परमात्मा बनने के पुरुषार्थ करने की योग्यता ही नहीं। अब यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि फिर इस जीव को सुख की प्राप्ति कैसे हो? इसको जानने के लिए हमे पहले सुख की तथा दुःख की परिभाषा समझनी होगी। उसके लिए प० दौलतराम जी ने कहा है—'आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिए।' अर्थात् दुःख का स्वरूप आकुलता है तथा आकुलता का अभाव ही सुख है, इसके अतिरिक्त सुख नाम की कोई वस्तु नही है। सुख तो जीव का स्वभाव है लेकिन मोह कर्म का सम्बन्ध जीव के साथ अनादि काल से चला आ रहा है जिसके निमित्त से इस जोव के अनेक प्रकार के विकृत परिणाम होते है तथा अनेक प्रकार की पर पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छाये उत्पन्न होती हैं और जब तक वे इच्छाये पूर्ण नही होती तब तक यह जीव दुःखी रहता है जब कभी पुण्य के उदय से कोई इच्छा पूर्ण भी हो जाती है तब यह जीव सुख का अनुभव करता है परन्तु वह क्षणिक है क्यो कि वे इच्छायें अनन्त है एक के बाद एक उत्पन्न होती ही रहती हैं। इसका उत्पन्न होना बन्द जब होता है तब इनकी उत्पत्ति का कारण कर्म का अभाव हो जाता है तब यह जीव हमेशा के लिए सुखी हो जाता है। कर्म के अभाव बिना संसार में कोई भी जीव परम सुखी नही हो सकता उस सुख की प्राप्ति धर्म के अर्थात् अपने स्वरूप के आश्रय से होती है। इस धर्म का आविष्कार नही होता जैसे परमाध्यात्म तरगिणी पृष्ठ १० पर कहा है—'जीव का दुःख कैसे दूर हो इसके लिए जिस विज्ञान का आविष्कार हुआ उसी का नाम धर्म है।' धर्म की यह परिभाषा कही नहीं बतायी। कुन्दकुन्दाचार्य ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है 'वस्तु स्वभावो धर्मं' अर्थात् वस्तु का जो स्वभाव है वही उस वस्तु का धर्म है जीव नामा वस्तु का धर्म चेतनत्व जाननपना है पुद्गल का धर्म रूप, रस, गध तथा स्पर्श है और उस धर्म का आविष्कार नही होता वह तो उसमे स्वतः होता है वह धर्म (गुण) वस्तु के आश्रय बिना नही होता जैसा मोक्ष शास्त्र मे भी कहा है द्रव्याश्रया न गुणाः' गुण अर्थात् गुणद्रव्य के बिना नही होते। यदि धर्म (गुण) का आविष्कार मानेगे तो धर्म के आविष्कार से पहिले कोई वस्तु ही न होगी अर्थात् ससार शून्य हो जायगा जबकि आगम में छै द्रव्यो के समूह को ससार कहा है और संसार में ऐसा कोई भी द्रव्य नही जिसका कोई न कोई धर्म नही धर्म अवश्य होता है धर्म का आविष्कार नही होता। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है उष्णता के बिना अग्नि का अभाव होता है इन छै द्रव्यो में धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्य हमेशा से शुद्ध है बाकी दो द्रव्य जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यो का अनादि से एक क्षेत्रावगाह सबन्ध चला आ रहा है इसी लिए इन दो द्रव्यो को संयोग संबन्ध के कारण अशुद्ध कहा है दोनो का सयोग सबन्ध होने पर भी दोनो का अस्तित्व भिन्न-२ है एक द्रव्य का गुण कहो, स्वभाव कहो या धर्म कहो दूसरे द्रव्य के धर्म रूप नही परिणमता क्योकि प्रत्येक द्रव्य में अगुरु लघु गुण विद्यमान है जिसके कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप, एक गुण दूसरे गुण रूप नही परिणमता और न गुणों में कमी बेसी होती ऐसा हर जगह आगम मेंकहा है।

सभी ६ द्रव्यों में पांच द्रव्य तो सुखी दुःखी होते नही

क्योंकि उनमें चेतना (गुण) धर्म नहीं है जिसके कारण सुख दुःख का अनुभव नही होता और न उनमे अनुभव करने की शक्ति है और न योग्यता। केवल एक जीव द्रव्य ही ऐसा है जिसको सुख दुःख का अनुभव होता है क्योंकि अकेले जीव मे ही चेतना गुण है जिसके कारण वह सुख दुःख का अनुभव करता है और उस सुख दुःख अनुभव करने का .रण पर द्रव्य का सयोग तथा उसका उदय है, जिसकी कर्म संज्ञा है वह कर्म आठ प्रकार का है जिसमे मोह कर्म दो प्रकार का है एक दर्शन मोह दूसरा चारित्र मोह दर्शनमोह के कारण से परद्रव्यो को आपा तथा अपना मानता है तथा शरीर जो जीव से भिन्न परपदार्थ है उसको भी आपा मानता है और जो ये चित-पिंड है उसको आपा नही मानता। स्त्री, पुत्र, मकान, धन आदि परपदार्थों को अपने मानता है तथा जो जाननपना इसका अपना स्वभाव (धर्म) है उसको अपना नही मानता उसी चारित्रमोह के उदय के कारण पर पदार्थों के परिणमन में इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है जिसको राग-द्वेष कहते है यह राग द्वेष इस जीव की विकारी पर्याये है जो चारित्रमोह के उदय से उत्पन्न होती और विनशती रहती हैं इसकी स्थिति एक समय की होती है एक समय के पश्चात् दूसरी पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है और पूर्व पर्याय विनश जाती है ये विकारी पर्याये अशुद्ध जीव मे होती है। अशुद्ध जीव कर्म के सम्बन्ध के कारण से है न कि राग-द्वेष के कारण ये तो विकारी पर्याये है जो कर्म का सम्बन्ध हटने पर स्वय ही इनकी उत्पत्ति रुक जाती है। ये राग-द्वेष द्रव्य (वस्तु) नही है जो किसी के पास कम और किसी के पास ज्यादा हो ये तो पर्याये हैं और इन (पर्यायो का) कभी भी अभाव नही किया जा सकता हा पर्यायों के कारण का अभाव होता है और इन रागद्वेष पर्यायो का कारण चारित्रमोह है तथा उस चारित्रमोह का कारण कषायो के अनुसार परणति है कहा भी है—'आतम के अहित विषय कषाय इनमें मेरी परणति न जाय।' इस परिणति का कारण इच्छा है और उस इच्छा का कारण विपरीत आशय है जो दर्शनमोह के कारण से होता है जिसके कारण आने पर (चितपिंड) को आपा न मान कर शरीर को आपा मानता है तथा अपने ज्ञायक (जानन पन) भाव को अपना न मानकर शरीर, धन, स्त्री, पुत्र आदि को अपने मानता है इसका कारण दर्शन मोह है ऐसा छै ढाले में भी कहा है तथा आगम में अन्य जगह भी कहा है परन्तु परमाध्यात्म तरगिणी पृष्ठ ११ पर 'रागद्वेष (पर्याय) को दुःख कहा है जो आगम में कहीं नहीं कहा।' आगम मे तो दुःख का लक्षण आकुलता बताया है, आकुलता का कारण इच्छा — इच्छा का कारण विपरीत आशय (मिथ्यादर्शन) कहा है और उस मिथ्यात्व के अभाव का कारण तत्त्व विचार में उपयोग को लगाना है जिसके निमित्त से दर्शन मोह का अभाव होता है ऐसे निमित्त नैमेत्तिक संबध बन रहा है जब यह जीव अपने उपयोग को सब तरफ से हटा कर सात तत्वो के स्वरूप के विचार में लगाता है जिससे दर्शन मोह धीरे-धीरे गलित होता रहता है तथा गलित होते होते क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम दशा को प्राप्त हो जाता है तब इसकी विपरीत मान्यता शरीर को आपा और पर पदार्थों का अपना मानना मिट जाता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है और सम्यग्दर्शन के होते ही जो ज्ञान है वही सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के होने पर आपे (चितपिंड) को आपा मानने लगता है अभी भी चारित्र मोह बाकी रह जाता है जिसके कारण राग-द्वेष उत्पन्न होते है जिनका अभाव अपने स्वरूप का आश्रय लेने से होता है अर्थात् अपने उपयोग को अपनी आत्मा के स्वरूप के जानने मे लगाने से होता है और चारित्रमोह के अभाव होने से राग-द्वेष की उत्पत्ति रुक जाती है ऐसा आगम मे कहा है परन्तु अध्यात्म तरगिणी पृ० ११ पर दु.ख की परिभाषा आकुलता न कह कर राग-द्वेष कहा है जो आत्मा की विकृत अवस्था (इष्टानिष्ट कल्पना है) जिसके कारण इच्छाये उत्पन्न होती है और इन इच्छाओ के पूर्ण न होने से आकुलता होती है वह आकुलता ही दुःख का स्वरूप है।

पृष्ठ १३ पर लिखा है—'राग-द्वेष शरीर में अर्थात् पर मे अपनापना मानने से होता है' यह मानना भी (मिथ्यादृष्टी) जीव की पर्याय है सो मिथ्यादर्शन के उदय

के कारण से होती हैं। यहां याद रखना चाहिए कि अपना पना मानना तथा राग-द्वेष ये सब पर्यायें है और पर्याय की उत्पत्ति का कारण पर्याय नही होती पर्यायो की उत्पत्ति के कारणभिन्न-भिन्न है। पर मे अपनापना मानना श्रद्धा गुण की अशुद्ध पर्याय है और राग-द्वेष चारित्र गुण की बिकारी पर्याय है। ये पर्यायें गुणो से पृथक नही की जा सकती। यदि पर्यायों का अभाव माना जायगा तो गुणो का भी अभाव हो जायगा क्योंकि पर्याये गुणो की अवस्थाये है और गुणो की कोई न कोई अवस्था हमेशा रहती है और गुणो के समुदाय का नाम ही द्रव्य है गुणों के अभाव मे द्रव्य के अभाव होने का प्रसग आ जायगा। क्यों जमा घटा दो पृथक्-२ पदार्थों मे होता है एक ही द्रव्य के गुण और पर्यायों मे नही होता जैसे पृ० ११ मे कहा है—'जीवात्मा–रागद्वेष=परमात्मा।' जो आगम के विरुद्ध है आगम मे तो द्रव्य का लक्षण सत कहा है और उस सत को उत्पाद, व्ययध्रौव्य युक्त सत् कहा है अर्थात् द्रव्य की अवस्थाये उत्पन्न होती रहती है और विनशती रहती है। ये पर्यायें दो प्रकार की होती है शुद्ध और अशुद्ध शुद्ध पर्यायो में द्रव्य स्वय निमित्त होता है और अशुद्ध पर्यायो मे परद्रव्य-कर्म कारण होता है तथा कारण के विना कार्य नही होता—(अशुद्ध पर्यायो) की उत्पत्ति नही होती। कर्म के अभाव होने से जीवात्मा परमात्मा कहलाने लगता है मोक्षशास्त्र मे भी कहा है—'ससारिणो मुक्ताश्च' अर्थात् जीव दो प्रकार के है ससारी और मुक्त। कर्म सहित जीव ससारी है और कर्म रहित मुक्त (परमात्मा) इसलिए जीवात्मा और परमात्मा की परिभाषा जो इस प्रस्तावना में की है वह आगम के विरुद्ध है।

पचाध्यायी में राग-द्वेष के विषय मे श्लोक न० ८८३ में भी राग-द्वेष विकारी पर्यायों को औदयिक भाव कहा है जो पर-द्रव्य, मोह कर्म के कारण से उत्पन्न होती है।

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदायिको यतः,
वाकाच्चारित्रमोहस्य, दृड्मोहस्याथ नान्यथा।८८३

इनकी उत्पत्ति मोह कर्म के उदय से होती है और मोह कर्म के पृथक हो जाने पर राग-द्वेष (अशुद्ध पर्यायो) की उत्पत्ति रुक जाती और शुद्ध पर्यायों की उत्पत्ति होने लगती है जिनका कारण स्वय ज्ञान गुण है।

श्लोक ८८६ मे भी कहा है जिस समय ज्ञान होता है उस समय ज्ञान ही होता है राग-द्वेष नही होते क्यो एक साथ दो पर्यायें नही होती ज्ञान पर्याय का कारण ज्ञान गुण है तथा रागद्वेष पर्यायों का कारण कर्म है। प्रस्तावना मे वस्तु की परिभाषा में पृ० १५ पर कहा है—वस्तु= सामान्य+विशेष। सामान्य को वस्तु की मौलिकता और विशेष को पर्याय कहा है जिससे भाव होता है कि द्रव्य पृथक है और पर्याय पृथक् जो कि आगम मे 'गुण, पर्ययवद द्रव्य' वाले मोक्ष शास्त्र के लक्षण से मेल नही खाता। आगम के अनुसार सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तु के स्वरूप का वर्णन करने वाली शैलिया है वस्तु के सक्षेप मे वर्णन करने वाली सामान्य शैली है और विस्तार से वर्णन करने वाली विशेष शैली है या सामान्य और विशेष दो प्रकार के प्रत्येक द्रव्य मे गुण होते है जो गुण प्रत्येक द्रव्य मे पाये जाते हैं उन्हे सामान्य गुण कहते है और जो गुण एक ही द्रव्य मे पाया जाता है दूसरे मे नही जिसके कारण से द्रव्यो के भिन्नता की पहिचान होती है ऐसा कथन सर्वत्र आता है परन्तु सामान्य को वस्तु की मौलिकता तथा पर्याय को विशेष कहा हो ऐसा कही देखने मे नही आया। इसी प्रकार से सभी जगह की गई अपनी परिभाषायें आगम से मेल नही खाती और न कहीं आगम प्रमाण ही दिया है। यदि सभी का स्पष्टीकरण दे देते तो पाठको को पूरी जानकारी हो जाती।

उक्त कुछ प्रसग ऐसे हैं जो अविचारक पाठकों को विपरीत दिशा दिखाने मे भी सहायक हो सकते है। हमारी राय मे तो ऐसे मौलिक ग्रन्थ को प्रस्तावना की आवश्यकता ही नही थी। आशा है सस्था और प्रस्तावना लेखक दोनों हमारे निवेदन स्वीकार कर आगामी सस्करण में दोषों का परिहार करेगे। बड़ी खुशी है कि संस्था का ध्यान प्राचीन ग्रन्थो के प्रकाशनो पर है। यदि अपना कुछ न दिया जाय तो प्राचीन सभी ग्रन्थ मौलिक हैं—ग्रन्थ प्रकाशन के लिए साधुवाद!

सम्पादकीय—इस लेख का समाधान पेज २८ पर देखें।

श्री मुन्नालाल की शंकाओं का समाधान

□ श्री बाबूलाल जैन

श्री मुन्नालाल जी ने परमाध्यात्मतरंगिणी की प्रस्तावना के कई विषयों को आगमविरुद्ध बताया है। उनका स्पष्टीकरण किया जाता है :—

१. पेज ६ से जो विषय चला आ रहा है वहा कहा है कि प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा होने की सम्भावना है। पेज १० पर यह कहा है कि जीव बीजभूत परमात्मा है परन्तु उसका पुरुषार्थ सज्ञी पचेन्द्रिय अवस्था से चालू होता है। उस विषय का आगे-पीछे का वर्णन लेकर विचार करना चाहिए, मात्र बीच की एक लाइन लेने से तो अर्थ का अनर्थ होगा ही। हमारा तात्पर्य भी जीव मात्र से ही है।

२. अभव्य में भी पारिणामिक भाव है वह चैतन्यपना है। अभव्य पारिणामिक भाव की निज रूप श्रद्धा नही करेगा अत: अभव्य है। वह बीजभूत तो है परन्तु उगने की शक्ति की व्यक्तता नही है अर्थात् अभव्य के सच्चा पुरुषार्थ नही होगा। समयसार गाथा २७३—२७४ में कहा है—अभव्य व्यवहार चारित्र का पालन करता है तथापि सम्यक्चारित्र को प्राप्त नही करता अत: अज्ञानी है। इसी प्रकार ज्ञान की श्रद्धा न करने से शास्त्र पढ़ने के गुण का अभाव है। गाथा २७५ के भावार्थ में प० जयचन्द जी लिखते है कि "आत्मा के भेद ज्ञान होने की योग्यता न होने से।" अभव्य को व्यवहार नय के पक्ष का सूक्ष्म केवलीगम्य आशय रह जाता है जो मात्र सर्वज्ञ जानते है। इससे मालूम होता है कि बीजभूत होते हुए भी उसकी व्यक्तता नही होती। जिस जीव के सच्चा पुरुषार्थ होगा उसी के व्यक्तता होगी। देखो द्रव्यसंग्रह गाथा १४ की टीका।

३. मुन्नालाल जी का कहना है कि जीवात्मा—रागद्वेष=परमात्मा यह गलत है। श्री वैरिस्टर चम्पतराय जी ने "की ऑफ नालेज" मे लिखा है—Man—Passion = God, God + Passion = Man अर्थात् मनुष्य—विषयकषाय = परमात्मा। प० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग सातवें अध्याय मे पेज २५८ श्री मुसद्दीलाल जैन ट्रस्ट से छपा हुआ है, लिखा है कि रागादि मिटाने का श्रद्धान होय सो ही श्रद्धान सम्यक्दर्शन है, रागादि मिटावने का ज्ञान सो सम्यक्ज्ञान और रागादि मिटै सो ही आचरण सम्यक्चारित्र है ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है। भगवान कुन्दकुन्द ने 'चारित्रं खलु धम्मो' कहा है और मोह क्षोभ से रहित परिणाम सो चारित्र है। मोह-क्षोभ के द्वारा राग का ही अभाव बताया है अत: रागादि का अभाव धर्म है। १२वें गुण स्थान के शुरू मे मोह का अर्थात् रागादि का अभाव होने पर यथाख्यात चारित्र होता है और अनत सुख होता है यह आत्मा १२वे गुणस्थान के अत मे अरहत परमात्मा हो जाता है।

४. आपने लिखा अज्ञान से राग-द्वेष नही होते। ऐसा नही है राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण जीव की अज्ञानता है—जो अपने स्वभाव को न जानकर शरीरादि मे अपनापना मानने से हुई है। मिथ्यात्व के अभाव बिना राग-द्वेष का अभाव नही हो सकता। कलश २१७ समयसार की टीका मे कहा है कि राग-द्वेष का द्वन्द तब तक उदय को प्राप्त होता है जब तक यह ज्ञान ज्ञानरूप नही··· इसलिए यह ज्ञान अज्ञान भाव को दूर करके ज्ञानरूप हो······।

५. वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। यहां पर आपने सामान्य का अर्थ किया है कि जो गुण सब मे पाया जावे वह सामान्य गुण और जो किसी खास द्रव्य मे पाया जावे वह विशेष गुण होता है। यहां पर गुण का कथन नही किया है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होती है। सामान्य को विषय करने वाली द्रव्यार्थिक दृष्टि है और विशेष को विषय करने वाली पर्यायार्थिक

दृष्टि है अतः वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक कहो अथवा सामान्य विशेषात्मक कहो एक ही बात है। यह तो जैन धर्म का प्राण है। वस्तु को ऐसा समझे बिना तो जैनधर्म का रहस्य समझ मे भी नहीं आ सकता। कई उदाहरण देकर इसको साबित किया गया है। यही तो इस प्रस्तावना का मुख्य विषय है। समयसार कलश १ कीटीका मे प० जयचन्द जी लिखते है कि "तातें द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनो नय मे प्रयोजन के वशतें शुद्ध द्रव्यार्थिक को मुख्य करके निश्चय कहै है।" कलश ४ का भावार्थ—"द्रव्य को मुख्य करी अनुभव करावै सो द्रव्यार्थिक, पर्याय को मुख्य-करी अनुभव करावे सो पर्यायार्थिक है।" वस्तु ,सामान्य बिशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक है। ऐसा ज्ञान है वह सम्यक्त्व का साधक है : देखो माइल्लधवल नयचक्र गाथा २४० पृ. १२६। वस्तु का सामान्य स्वरूप शुद्ध निश्चयनय का विषय है वह ही वस्तु की मौलिकता है।

६. आपने लिखा इच्छा से आकुलता होती है, आकुलता है वह दु:ख है। सो इच्छा तो राग का ही भेद है। आप ही लिख रहे है आत्मा के अहित विषय कषाय और आप ही कह रहे हैं कषाय से दु:ख नही होता इच्छा से आकुलता होती है आकुलता से दु ख होता है। जिसके राग ही नही रहा उसके इच्छा कहा से होगी। राग मे सभी विकार गर्भित हो जाते है।

७. आपने लिखा धर्म का आविष्कार नही होता। यह ठीक है परन्तु वहा यह नहीं लिखा है कि धर्म का आविष्कार किया पर वहां लिखा है धर्म के विज्ञान का आविष्कार किया। धर्म के विज्ञान का अर्थ है कि धर्म किसे कहते है, धर्म क्या है इसकी जानकारी प्रगट करने का तरीका धर्म के विज्ञान का आविष्कार है। जैसे अणु के विज्ञान का आविष्कार किया का अर्थ यह नही है अणु को बनाया परन्तु यह अर्थ है कि जानकारी प्रगट की।

८. आपने जगह-जगह लिखा है जीव कर्म की वजह से दु:खी है, कर्म की वजह से अशुद्ध है सो यह कथन व्यवहार नय से है। अशुद्ध निश्चय नय से जीव अपने रागादि भावो की वजह से अशुद्ध है और रागादि की वजह से दु:खी है।

आपके लेख का जवाब ज्यादा विस्तार से नहीं दिया है। अध्यात्म का बहुत बारीकी से चिंतवन मनन करने से तत्त्व की लड़ी सुलझती है। इस बात की खुशी है कि आपने प्रस्तावना पढ़ी और उस पर विचार किया इसलिए आपका आभार है। अगर जिज्ञासु दृष्टि से पढ़ी होती तो ये सब प्रश्न खडे ही न होते। प्रस्तावना क्योंकि कोई ग्रन्थ नही था इसलिए ग्रन्थो के प्रमाण नही दिये गये।

(पृ० २३ का शेषांश)

पर विचार किया जाय, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उद्योतनसूरि के ३०-४० वर्ष पूर्व वह अपनी रचना कर चुका होगा। इस प्रकार हमारा अनुमान है कि जटासिंह-नन्दि का काल विक्रम की आठवी शताब्दि के आसपास होना चाहिए।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग म० म०
महिला महाविद्यालय, आरा

सन्दर्भ-सूची

१. कुवलयमालाकहा—पृ० ४ प० १।
२. पद्मचरितम्—प्राक्कथन पृ० १।
३. व० च० हिन्दी प्रस्तावना—पृ० ६।
४. तुलनार्थ—देखें वराङ्ग सर्ग ४, कर्म वर्णन-तत्त्वार्थ-८वां अध्याय व० च० सर्ग ५-१० लोकस्व-रूप तत्त्वार्थ ३-४ अध्याय व० च० सर्ग २६ द्रव्यगुणपर्यायनिर्देश-तत्त्वार्थ-५वां अध्याय, व० च० सर्ग ३१ तपवर्णन-तत्त्वार्थ ९वां अध्याय।
५. तुलनार्थ—देखे, व०च० सर्ग २६/८२-८३ और स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक १०२-३।
६. तुलनार्थ—देखे, व० च० सर्ग २६/५२, ५३, ५४, ५५, ५७, ५८, ६०, ६३, ६४, ६५, ६६, ७०, ७१ एवं ७२ तथा सन्मति प्रकरण—१/६, ६, ११, १२, १७, १८, २१, २२-२५, ५१-५२ तथा ३-४७, ५४-५५।
७. तुलनार्थ—देखे, व० १५/१२२ तथा 'सामयिक पाठ' मे सामयिक शब्द की व्याख्या।
८ व० च० प्रस्तावना—पृ० ६५। ९-१०. वही।
११. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा—३/२६४।
१२. हरिवंश पुराण—१/३०/३५।

ग्राम पगारा की जैन प्रतिमाएँ

☐ श्री नरेशकुमार पाठक

पगारा मध्य प्रदेश के धार जिले मे तहसील मनावर के अन्तर्गत एक छोटा-सा ग्राम है। यह इन्दौर से लगभग १०० कि० मी० की दूरी पर अवस्थित है। इन्दौर से बस द्वारा धामनोद, धरमपुरी से होते हुए, पगारा पहुचा जा सकता है। धरमपुरी से यह लगभग ८ कि०मी० उत्तर-पश्चिम मे अवस्थित है। इस गांव में स्थित टीले का उत्खनन मध्यप्रदेश पुरातत्व एव सग्रहालय विभाग द्वारा १९८१-८२ मे कराया गया, जिसमे शुगकाल से लेकर मुगल काल तक के अवशेष प्राप्त हुए। पगारा ग्राम एव टीले के आसपास कई जैन प्रतिमाएँ रखी हुई है। जिनका विवरण निम्नलिखित है :—

जैन शासन देवी पद्मावती :—

हनुमान मन्दिर से प्राप्त चतुर्भुजी देवी पद्मावती सव्य ललितासन मे बैठी हुई निर्मित है। देवी की भुजाओ मे दक्षिणाधः क्रम से अक्षमाला सनालपद्म, सनालपद्म एव बायी नीचे की भुजा भग्न है। नीचे देवी के वाहन हृश का अंकन है। दोनो पार्श्व मे परिचारिका प्रतिमा बनी हुई है। वितान मे पद्मासन मे जैन तीर्थंकर प्रतिमा अकित है। देवी करड मुकुट, चक्र कुण्डल, उरोजो को स्पर्श करता हुआ हार, केयूर, बलय, मेखला, नूपुर से अलकृत है।

लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाएं—हनुमान मदिर के सामने से प्राप्त प्रथम प्रतिमा मे पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे तीर्थंकर अकित है। वक्ष पर श्रीवत्स का आलेखन है। बायें पार्श्व मे सिर विहीन परिचारिका का त्रिभग मुद्रा मे अकन है। मूर्ति का सिर व पादपीठ भग्न है।

दूसरी प्रतिमा में भी तीर्थंकर पद्मासन मे अंकित है। बावडी से प्राप्त तीर्थंकर का ऊर्ध्व भाग ही शेष है। प्रतिमा कुन्तलित केश राशि से युक्त सिरके पीछे प्रभा-मण्डल है, वितान मे त्रिछत्र एवं चार पद्मासन मे बैठी हुई जिन प्रतिमाओं का अकन है।

जैन प्रतिमा पाद पीठ :—जैन प्रतिमा पादपीठ से सम्बन्धित शिल्पखण्ड तीन हनुमान मन्दिर से और एक-एक बावड़ी एवं गणपति मन्दिर मे प्राप्त हुए है। इन पादपीठों के मध्य मे धर्मचक्र दोनो पार्श्व में हाथी एव सिह आकृतियो का आलेखन है।

जैन प्रतिमा वितान :—जैन प्रतिमा वितान से सम्बन्धित शिल्प कृतियों मे ६ बावड़ी से तीन हनुमान मन्दिर एक-एक टीले एव गणपति मन्दिर से प्राप्त हुए है। इन पर त्रिछत्र, दुन्दभिक, अभिषेक करते हुए हाथी, विद्याधर युगल, कायोत्सर्ग तथा पद्मासन मे जिन प्रतिमा एव मकर व्यालो का आलेखन है।

जैन शिल्प खण्ड :—जैन प्रतिमा शिल्प खण्ड से सम्बन्धित तीन कलाकृतियां बावड़ी से प्राप्त हुई है। प्रथम जैन प्रतिमा का दायां भाग है, जिसमे एक कायोत्सर्ग एव एक पद्मासन मे तीर्थंकर प्रतिमा अकित है। दायें पार्श्व मे चामरधारी एवं मकर व्याल का अंकन है।

द्वितीय मे दो जिन प्रतिमा एवं दायी ओर एक चावरधारी का शिल्पांकन है।

तृतीय पर पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में जिन प्रतिमाओं का आलेखन है।

केन्द्रीय संग्रहालय, गूजरी महल,
ग्वालियर (म०प्र०)

(पृ० ३२ का शेषांश)

नश्वर मान-प्रतिष्ठा, अभिनन्दन आदि से बचना चाहिए। हमारा मूल चिन्तन 'आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय' होना चाहिए। पर क्या करे? आज तो हमारा साधु भी रट लगा रहा है '**कि मन अभी भरा नही।**' उनके भी अभिनन्दर ग्रथ तैयार हो रहे है। यह समाज का दुर्भाग्य है जिसे वह सौभाग्य समझकर प्रभूत धन खर्च कर पोष रहा है! काश, यही धन जरूरत-मन्दो के काम आता।

—सम्पादक

जरा-सोचिए !

कि–दिल अभी भरा नहीं !

हमने कही पढ़ा है—"जोगी जोग जुगति क्या करता पहिले मन को अपने मार।" यह प्रसंग शुद्धात्मपद की प्राप्ति के प्रति उद्यत किसी उस योगी को लक्ष्य कर कहा गया है जो बाहर से तो ध्यानमुद्रा मे बैठा हो और जिसका मन इधर-उधर डोल रहा हो। भला, जिसका मन संसार की विडम्बनाओ में घूम रहा हो, वह ध्यान कैसे करेगा—आत्मकल्याण कैसे करेगा ? शास्त्रो मे भेद-विज्ञान को आत्मकल्याण का मार्ग कहा गया है और वह भेद-विज्ञान शास्त्रज्ञान द्वारा होता है। आज के समय मे तो ऐसा देखा जा रहा है कि जिन्होने जीवन भर शास्त्रों को पढ़ा उनमें कोई ही भेद-विज्ञान के पाठ का अनुसरण करते हो वरना, प्रायः शास्त्रो मे अपना जीवन बिताने की बात करने वाले अधिकांश जन तो भेद-विज्ञान के स्थान पर, धन, जायदाद आदि पर कुण्डली मारने—पर-परिग्रह के संग्रह करने मे लगे है—फिर वह परिग्रह ख्याति, पूजा, सन्मान प्रतिष्ठा अभिनन्दन ग्रन्थ आदि के सग्रह-विकल्परूपो मे ही क्यो न हो ?

हमने कितने ही विद्वानो को कहते सुना है कि—क्या करें ? समाज की दशा दिनो-दिन बिगड रही है लोगो को हम चाहे जितनी बार लम्बे-२ भाषण दें, शास्त्र की गद्दी से शास्त्र सुनाएँ, चर्चाएँ करें उन पर कोई असर ही नही होता। ऐसे ही प्रसंग मे हमने एक विद्वान से पूछा कि पडित जी, आप लोगो को कितने समय पर्यन्त धार्मिक चर्चाएँ सुनाते है ? घण्टे, दो घण्टे, चार घण्टे आदि। आपने तो अपना जीवन ही धार्मिक ग्रन्थों के पढने मे लगा दिया फिर भी आप स्वयम् कितने धर्म-मार्ग पर चले ? यह सोचिए।

आश्चर्य है कि हम कुछ काल चर्चा सुनने वालों से तो अपेक्षा करें कि वे धर्म-मार्ग पर चलें परन्तु चर्चा मे जीवन बिताने पर भी हम अपने धर्म-निर्वाह को न देखें। और परिग्रह समेटते हुए यही रटते रहे कि—'दिल अभी भरा नहीं।'

पहिले हमे अपने को देखना होगा—हमें शुद्ध धार्मिक रूप मे ढलना होगा—वीतराग धर्म की वीतरागता की ओर बढना होगा, चाहे वह बढना क्रमशः ही क्यो न हो ? लोग चाहे जो कहें, पर हमारी दृष्टि तो ऐसी बनी है कि जैनधर्म का मूल उद्देश्य, वीतरागता की ओर बढ़ाना मात्र है—शेष व्रत-नियम, आदान-प्रदान, क्रियाकाण्ड आदि तो साधन हैं जो प्रायः अन्य सभी धर्मों में भी हीनाधिक मात्रा मे है। इस सभी प्रक्रिया पर चिर स्वाध्यायियो व विद्वानो का ध्यान जाना चाहिए।

हम आश्चर्यचकित रह जाते है जब वर्तमान ज्ञानियो तक में आपाधापी की होड देखते है—उनमे 'अहं' को पुष्ट करने की प्रवृत्ति देखते है। यहा समालोचनार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ आते रहते है और अभी भी हमे दो अभिनदन ग्रन्थ समालोचनार्थ मिले है। हम नही समझते कि अभिनन्दन ग्रन्थों की यह परम्परा कब से पड़ी ? कैसे पड़ी ? और क्यो पडी ? हमारे चौबीस तीर्थंकर, गणधर आदि अनेक प्राचीन आचार्य हुए, पर किन्ही का कोई अभिनंदन ग्रन्थ हमारे देखने मे नही आया - यदि हो तो देखें। लोग कहेगे उनके जीवनचरित्र तो उपलब्ध है वे ही उनके अभिनन्दन ग्रन्थ है। पर, स्मरण रखना चाहिए कि सभी चरित्रों मे सभी के गुण और दोष दोनो का वर्णन है—यदि गुण है तो गुणरूप मे वर्णित और दोष है तो दोषरूप मे वर्णित। उक्त परिप्रेक्ष्य में वर्तमान अभिनन्दन ग्रन्थो को चरित्र ग्रन्थ तो कह नही सकते उनमे तो गुणो की ही भरमार रहती है। ऐसे मे प्रश्न होता है कि क्या अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्राप्तकर्ता सभीजन दोषो से सर्वथा अछूते हुए या हैं ? यदि हां, तो अभिनन्दन-ग्रन्थों को उचित कहा जा सकता है। पर हम समझते है कि एक भी अभिनन्दन ग्रन्थ प्राप्तकर्ता ऐसा न होगा जो ताल ठोक कर कह

सके कि मुझमें एक भी दोष का आश्रय नहीं था या नही है। और जब दोष है तो अभिनन्दन के नाम से ग्रन्थ प्रकाशन और उसके आदान-प्रदान का तुक ही कहा? क्या इसीलिए कि—'कि दिल अभी भरा नहीं।'

ये तो गृहीता की यश लिप्सा और प्रदाताओं की चापलूसी-लत ही हुई जो आंख मीचकर अभिनन्दन ग्रंथ छापे जांय। और कहावत भी चरितार्थ हुई कि 'अन्धा बांटे रेवड़ी घर ही घर को देय।' —शायद यह भी सत्य हो कि अभिनन्दनो के प्रकाशन पक्ष-व्यामोह और गुटबन्दी के परिणाम है। 'तू मेरा कर मैं तेरे लिए साधन जुटाऊँगा आदि।'

प्रश्न यह भी है कि क्या इन ऐसे ग्रन्थो से कोई धार्मिक लाभ भी होता है? बहुत से लेख तो कई अभिनन्दन ग्रन्थो मे ऐसे होते है जो इससे पहिले भी अन्यत्र अल्प-व्यय मे छप चुके होते है। यह भी जरूरी नही कि सभी लेख प्रामाणिक पुरुषों के लिखे और प्रामाणिक ही हो—सभी की अपनी-अपनी मान्यताये होती हैं—सर्वज्ञ या गणधर तथा पूर्वाचार्यों की नहीं। अनेक लेख विवादस्थ भी होते है। सर्वज्ञ ध्वनि दे गए, गणधर गूथ गए और पूर्वाचार्यों ने उनकी व्याख्याएं दीं और वे ही प्रामाणिक हैं। आम आदमियों के लेख प्रामाणिकता की कोटि मे नही आते।

हमे स्मरण है कि हमने एक मन्दिर जी मे एक सज्जन को एक अभिनन्दन ग्रन्थ का वाचन शास्त्र रूप मे करते और श्रोताओ को सुनते देखा। वाचन के अन्त मे 'मिथ्यातम नाशवे कू' स्तुति भी हुई और लोगों ने ग्रन्थ को साष्टांग नमस्कार भी किया। गोया, ग्रन्थ कोई अभिनन्दन ग्रन्थ न होकर आगम या जिनवाणी हो। ऐसी स्थिति मे अभिनन्दन ग्रन्थों के कारण 'कदाचित् भविष्य मे जिनवाणी का क्या रूप बन जायगा: इसे भी बड़ी गहराई से सोचना होगा? इतना ही नही हम तो बार बार नए ग्रंथो, टीकाओ, विशेषार्थ और भावार्थों के लिखे जाने का भी बराबर विरोध करते रहे है और वह इसीलिए कि आचार्यों के मूल ग्रन्थो को आगम माना जाने का चलन लोप न हो जाय और पडित वाणी ही भविष्य में जिन वाणी न बन बैठे, जैसा आज हो चुका है। क्या, लेखक गण पूर्वाचार्यों से अधिक बुद्धिमान हैं जो नए-२ ग्रन्थादि रचकर धर्म-प्रचार में लगे है? या आचार्यों के ग्रन्थों की मनमानी यद्वा-तद्वा व्याख्याएँ कर रहे है? यदि प्रचार ही करना है तो आचार्य वाक्यों का प्रचार कीजिए। उनके शब्दार्थ ही मौखिक समझाइए, ताकि आगम सुरक्षित रह सके। पर, करें क्या? कुछ लोग लेखन को व्यवसाय बनाये है वे पैसे के लिए लिखते है, कुछ यश-ख्याति मे डूबे है—'गर तू नही तेरा तो सदा नाम रहेगा।' जबकि अनन्तो तीर्थंकरो, चक्रवर्तियो आदि के नाम भी मिट गए। सभी जानते है कि दिग्विजय के बाद चक्रवर्ती तक को अपना नाम लिखने के लिए एक अन्य नाम मिटाना पड़ता है और पूर्वकाल के किसी दिग्विजयी को मिट जाना पड़ता है।

यदि गहराई मे न जांय और मोटा-२ विचार ही करें—तो निष्कर्ष ऐसा भी निकलता है कि एक अभिनन्दन ग्रन्थ मे पचास हजार की राशि का व्यय होना तो साधारण सी बात है और इतनी राशि एकत्रित करना, किसी चन्दा व्यवसायी को महा सरल है। रास्ते चलता साधारण आदमी भी इतनी राशि वसूल कर सकता है। हां, उसमें लोगो को तनिक उछालना देने के गट्स चाहिए। सो यहां तो बड़े-२ महारथी इस कार्य को करते हैं। उन्हे इतनी बड़ी राशि के अप-व्यय की चिंता नही। हमे तो दया आती है उन निष्काम सेवी अभिनन्दन गृहीताओ पर जो अपने गुणगान हेतु जनता का इतना प्रभूत द्रव्य व्यय करा कर भी अपने को निष्काम सेवी कहलाना चाहते हैं। कितनी ही शुभकामनाएँ ग्रन्थ मे छप जाती है, सामूहिक गुणगान भी हो जाते है फिर भी वे समालोचना के द्वारा प्रशंसा के भूखे रह जाते है। सच ही है कि उनका—'दिल अभी भरा नहीं।'

हम स्मरण करा दे कि हमने पूर्व मे ऐसे लोगों के अभिनंदन ग्रथ और अभिनन्दन होते भी देखे है, जिनके धर्म और समाज के प्रति बे-जोड़ उपकार रहे, फिर भी जिन्हें अन्तिम दिन दुःख मे ही निकालने पड़े। अभिनन्दनों ने उनका कोई साथ न दिया—अन्य वैभव के साथ वे भी यही धरे रह गये। हमारे तीर्थंकर-महापुरुषो की लीक सही रही और हमें भी उसी पर चलना चाहिए—झूठी,

(शेष पृ० ३० पर)

आगमों से चुने : ज्ञान-कण

संकलयिता—श्री शान्तिलाल जैन, कागजी

१. तत्त्व तो सात हैं—१. बंध और बंध के कारण, २. (आस्रव), ३. मोक्ष और मोक्ष के कारण, ४. संवर, ५. निर्जरा, ६. जीव और ७. अजीव ।

२. सत्य पाया जाता है बनाया नहीं जाता ।

३. शुद्ध दार्शनिक का नारा होता है सत्य सो मेरा, कुदार्शनिक का हो हल्ला होता है मेरा सो सत्य ।

४. सुख तो अन्तरङ्ग में रागादिक दोष के अभाव मे है ।

५ राग दूर करने की चेष्टा करना रागादि की निवृत्ति नहीं करना । राग में जो कार्य हो उसमे हर्ष-विषाद न करना ही उसके विनाश का कारण है । —वर्णी जी

६. भेदविज्ञान का अनुभव हो, चाहे कषाय का अनुभव हो, बंध का कारण अन्तरङ्ग अभिप्राय है । —वर्णी जी

७. जिस समय अविरत सम्यग्दृष्टि विषयानुभव करता है उस समय तथा जिस समय वह स्वात्मानुभव करता है उन दोनों अवस्थाओ में चतुर्थ गुणस्थान ही तो रहता है । —वर्णी जी

८. इस तरफ कुछ नही है और दूसरी तरफ भी कुछ नही है तथा जहा-जहा मैं जाता हूं वहा वहां भी कुछ नहीं है । विचार करके देखता हूं तो यह संसार भी कुछ नही है । स्वकीय आत्मज्ञान से बढ़कर कोई नही है ।

—अमृतचद्र सूरि

९. मिथ्यात्व की अनुत्पत्ति का नाम ही तो सम्यग्दर्शन है और अज्ञान की अनुत्पत्ति का नाम सम्यग्ज्ञान तथा रागा-की अनुत्पत्ति यथाख्यातचारित्र और योगानुत्पत्ति ही परम यथाख्यात चारित्र है । वर्णी जी

१०. घट के घात से दीपक का घात नही होता ।

११. आत्मा में मोक्ष है स्थान मे मोक्ष नहीं ।

१२. परपदार्थ व्यग्रता का कारण नहीं, हमारी मोह दृष्टि व्यग्रता का कारण है

१३. एक वस्तु का अन्य वस्तु से तादात्म्य नही । पदार्थ की कथा छोड़ो । एक गुण का अन्य गुण और एक पर्याय का अन्य पर्याय के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं । —वर्णी जी

१४. पर के द्वारा की गई स्तुति-निन्दा पर हर्ष-विषाद करना, अपने सिद्धान्त पर अविश्वास करने के तुल्य है ।

१५. यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः । अहमेव मयोपास्यः नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥

जो परमात्मा है वही मैं हूं और जो मैं हूं सो परमात्मा है । अतः मैं अपने द्वारा ही उपास्य हूं, अन्य कोई नहीं ऐसी ही वस्तु मर्यादा है ।

१६. अनन्त वीर्य उत्पन्न हो जाने पर भी जब तक मनुष्यायु कर्म की स्थिति शेष है उस समय तक अघातिया कर्मों का क्षय नही हो सकता है ।

१७. अन्तिम तीर्थंकर श्री १००८ महावीर स्वामी के तीर्थ काल मे (१) नमि (२) मतङ्ग (३) सोमिल (४) रामपुत्र (५) सुदर्शन (६) यमलोक (७) वलिक (८) विष्कम्बिल (६) पालम्बष्ट (१०) पुत्र । इन दस मुनीश्वरों ने तीव्र उपसर्ग सहन कर केवलज्ञान प्राप्त किया । —द्वादशांग का आठवां अङ्ग

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४३ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९९०

इस अंक में—

क्रम	विषय		पृ०
१.	सीख		१
२.	कन्नड़ के जैन साहित्यकार—श्री राजमल जैन		२
३.	भट्टाकलककृत लघीयस्त्रय : एक दार्शनिक अध्ययन —श्री हेमन्त कुमार जैन		१०
४.	नीति काव्य की अचर्चित कृति : मनमोदन पचशती डा० गगाराम गर्ग		१४
५.	भ० पार्श्वनाथ के उपसर्ग का सही रूप —क्षु० श्री चितसागर जी महाराज		१६
६.	युवाचार्य के निबध पर अभिमत —श्री सुभाष जैन		१८
७.	सस्कृत के जैन सन्देश काव्य—कु० कल्पना जैन		२१
८.	क्यों करते है लोग सस्थाओं को बदनाम ? —श्री सुभाष जैन		२५
९	राज्य सग्रहालय धुबेला की सर्वतोभद्रिका मूर्तियां —श्री नरेश कुमार पाठक		२७
१०.	आत्मोपलब्धि का मार्ग : अपरिग्रह —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सम्पादक		२८
११.	जरा सोचिए—सपादक		३१
१२.	मूर्च्छा से मूर्च्छित को आत्मबोध कहाँ —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	आवरण	२

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

'मूर्च्छा' से मूर्च्छित को आत्मबोध कहाँ ?

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली

संवर-निर्जरा के आगमोक्त कारणों—अंतरंग-बहिरंग साधनों को जीवन में उतारना चारित्र की सरल परिभाषा है—'संसार कारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानबतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्-चारित्रम्।'

तत्त्वचर्चा का प्रयोजन स्व-कल्याण से है और स्व-कल्याण (मोक्ष) संवर-निर्जरा पूर्वक ही होता है। फलतः बाह्य तथा अन्तरंग में संवर-निर्जरा के कारणभूत 'गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परीषहजय और चारित्र तथा तप को अपनाए बिना सभी चर्चाएँ अधूरी हैं—वे निष्फल भी हो सकती हैं।

आत्मा के स्वरूप गुण-पर्यायादि की चर्चा करना उसको देखना-दिखाना नही है। आत्मानुभव की बात येनकेन प्रकारेण कदाचित् कथंचित् उसके गुणपर्यायादि चिंतन में भले ही मानी जा सके। स्मरण रहे—चर्चा करना और चिंतन दोनों पृथक् हैं। चर्चा सर्वथा बाह्य है और चिंतन कथंचित् अंतरग। जहाँ तक आत्मा के गुण-पर्यायों के चिंतन की बात है, वह चिंतन भी अपरिग्रही (चारित्री) मन के ही हो सकता है। और हम भी अपरिग्रह की ओर बढ़ने को प्रमुखता देते हैं। पर, कई लोग है कि अपरिग्रह के नाम से बिदकते है और भोग भोगते हुए, चर्चा मात्र से मोक्ष मानते हैं। जब कि आगम में स्पष्ट लिखा है—

'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग.।' और 'संयतस्यैवागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्त्व यौगपद्यात्मज्ञान-यौगपद्यं सिध्यति।' —प्रवच० ३।८०

तत्त्वचर्चा के संबंध मे कुछ लोग ऐसी एकांगी मिथ्याधारणा बना बैठे है कि सर्वार्थसिद्धि के देव संयमपालन के बिना, भोग भोगते हुए ३३ सागर आयुपर्यन्त तत्त्वचर्चा करते है और तत्त्वचर्चा के कारण ही वे आगामी भव में मोक्ष पा जाते है, आदि। फलतः—इस मान्यता के लोग मात्र चर्चा मे मोक्ष के स्वप्न देखने लगे हैं—उन्हें परिग्रह-त्याग अर्थात् चारित्र की बात काटनी जैसी है। पर, स्मरण रखना चाहिए कि जैन मान्यता अपरिग्रह पर टिकी हुई है और सर्वार्थसिद्धि विमान की प्राप्ति और वहाँ से चयकर अगले भव में मोक्ष जाना दोनों ही चारित्र (अपरिग्रह की ओर बढ़ने) के कारण से ही है। यदि संयम-विहीन चर्चा से ही मोक्ष होता तो वे देव सर्वार्थसिद्धि से सीधे ही मोक्ष चले जाते होते। उन्हें अगला भव और उसमें दैगम्बरी दीक्षा रूप संयम (चारित्र) धारण करने की आवश्यकता नही पड़ती। सभी तीर्थंकर भी संयम-मार्ग से ही मोक्ष गए है।

हमारी दृष्टि से भोगोपभोग की सामग्री (परिग्रह) बढ़ाते हुए कोरी बाह्य-चर्चा करना और बाह्य-वेश लेकर परिग्रह का संग्रह करना दोनों ही चितनीय है।

अपरिग्रह की ओर बढ़ने के पक्षधर होने से हम परिग्रह को कृश कराने वाली तत्त्वचर्चा के पोषक हैं—विरोधी नही। और इसीलिए तत्त्वचर्चा व उसके प्रचार-प्रसार के बहाने श्रावकों और त्यागियों द्वारा भोगोपभोग सामग्रीरूप-धनादि परिग्रह का बढ़ाया जाना, संस्थाओं-मठों-भवनों आदि का स्वामित्व प्राप्त करना-कराना आदि हमारी मान्यता के विरुद्ध है—कोई इसे माने या न माने।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते है। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

ओम् अर्हम्

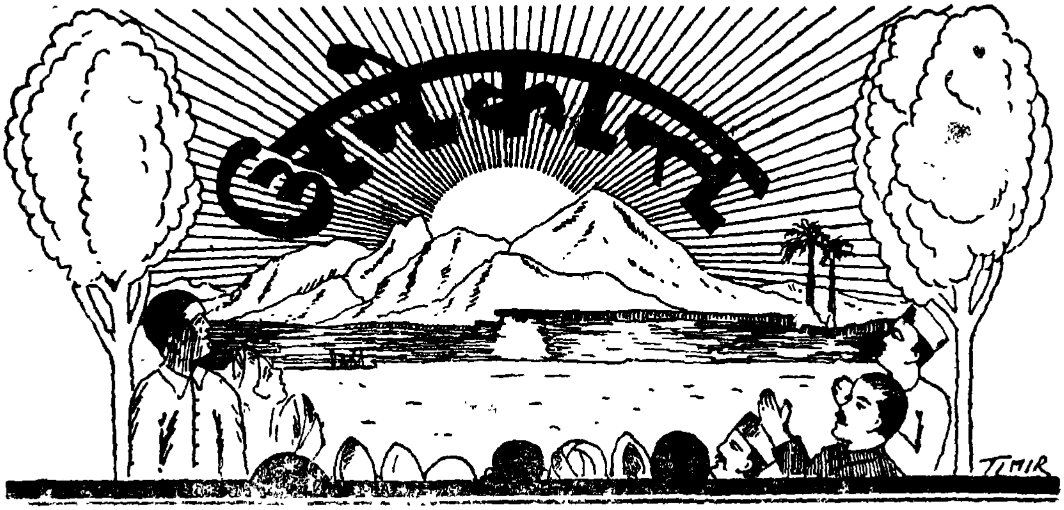

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४३ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जुलाई-सितम्बर
वीर-निर्वाण सवत् २५१७, वि० सं० २०४७ | १९९०

सीख

मानत क्यों नहिं रे, हे नर सीख सयानी ।
भयो अचेत मोह-मद पीकें, अपनी सुध विसरानी ॥टेक॥

दुखी अनादि कुबोध अवृत तें, फिर तिन सौं रति ठानी ।
ज्ञान सुधा निज भाव न चाख्यो, पर-परनति मति सानी ॥२॥

भव असारता लख्यो न क्यों जहँ, नृप ह्वै कृमि विट थानी ।
सधन निधन नृप दास स्वजन रिपु, दुखिया हरि से प्रानी ॥३॥

देह येह गद-गेह नेह इस, हैं बहु विपति निसानी ।
जड़ मलीन छिनछीन करमकृत, बंधन शिव सुख हानी ॥४॥

चाह ज्वलन ईंधन-विधि-वन-घन, आकुलता कुल खानी ।
ज्ञान-सुधासर-सोखन रवि ये, विषय अमितु मृतु दानी ॥५॥

यों लखि भव तन भोग विरचिकरि, निज हित सुन जिन वानी ।
तज सब राग 'दौल' अब अवसर, यह जिनचन्द्र बखानी ॥६॥

कन्नड़ के जैन साहित्यकार

□ श्री राजमल जैन, जनकपुरी, दिल्ली

भारत का राजनैतिक और दार्शनिक साहित्य विशेषकर जैन साहित्य एवं दर्शन इस बात का साक्षी है कि जैन तीर्थंकरों एवं आचार्यों ने स्थानीय लोकभाषा को अपने उपदेशों एवं सिद्धान्त ग्रन्थो के लिए मुक्त भाव से प्रयुक्त किया। यही कारण है कि प्राकृत जैन का समानार्थी-सी बन गई है।

दक्षिण भारत में भी विशेषकर कर्नाटक में महावीर स्वामी के समय मे भी जैनधर्म का प्रचार था। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के कर्नाटक मे जैन मुनि के रूप मे श्रवण बेलगोल में तपस्या करने और स्वर्ग गमन के कारण भी वहाँ जैनधर्म का खूब प्रचार हुआ होगा। उस उदेश के जैन लेखकों, कवियो ने उसी देश की भाषा कन्नड़ मे अपूर्व महत्व की रचनाएँ की और प्राकृत भाषा एव संस्कृत में भी ग्रथो की रचना की।

जैन युग या स्वर्णकाल (आरंभ से ११६० ई० तक)

कन्नड़ भाषा के साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ जैन कवियो या लेखकों से होता है। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् ई० पी० राइस ने अपने कन्नड़ साहित्य के इतिहास मे आरम्भ से लेकर ११६० ई० तक के युग को 'जैन युग' नाम दिया है। इसी कोटि के विद्वान् आर. नरसिंहाचार्य ने अपनी रचना 'कविचरिते' (कवियो का इतिहास) मे ईसा की पाँचवी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के कन्नड साहित्य के इस युग को जैन युग कहा है। 'कर्नाटक और उसका साहित्य' के लेखक श्री एन. एस. दक्षिणामूर्ति ने भी लिखा है—"१. आरम्भकाल अथवा स्वर्ण युग (५वी शताब्दी से १२वी शताब्दी तक)—अन्यत्र यह दिखाया गया है कि कन्नड साहित्य का आरम्भ स्थूल रूप से ५वी शताब्दी माना जा सकता है। ५वी से ९वी शताब्दी तक का साहित्य किस रूप मे था, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। ९वी शताब्दी में पंप जैसे महाकवि के आविर्भाव से यह साहित्य अत्यन्त पुष्ट हुआ। इसी काल मे रन्न, पोन्न, नागचन्द्र इत्यादि श्रेष्ठ कवि उत्पन्न हुए। इस काल का साहित्य अनेक दृष्टियो से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस काल को स्वर्ण युग कहना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। अन्य विद्वानों ने भी इसको स्वर्ण-युग नाम से अभिहित किया है।" कुछ लेखक इस युग को आरम्भ काल और पप (जैन कवि) युग मे विभाजित कर देते हैं।

जैन युग के बाद कन्नड़ साहित्य मे वीर शैव युग या बसव युग का प्रारम्भ हुआ ऐसा माना जाता है जो कि ११६० ई० से १५०० ई० या १६०० ई० तक माना जाता है। (बसव वीरशैवमत या लिंगायत मत के प्रवर्तक थे)।

उपर्युक्त काल के बाद १५वी सदी से १९वी सदी तक की कालावधि वैष्णव युग का ब्राह्मण युग या कुमार-व्यास युग कहलाती है। इसके भी बाद का वर्तमान काल आधुनिक युग निर्दिष्ट किया जाता है।

ऊपर जो जैनेतर या आधुनिक युग आदि दिए गए हैं, उनमे जैनो की लेखनी रुकी नही। वे भी अपनी लेखनी से कन्नड साहित्य को समृद्ध करते रहे।

भाषा की प्राचीनता की दृष्टि से जैन युग प्राचीन कन्नड़ (हलगन्नड़) काल है। उसमे नौवी शताब्दी से पहले ग्रथ-रचना उपलब्ध नही होती। अशोक के प्राकृत शिलालेखों के बाद प्राचीन कन्नड़ मे शिलालेख पाए जाते है। सबसे प्राचीन शिलालेख हल्मिडि शिलालेख (पांचवी सदी) कहलाता है। उसके बाद छठी सातवी सदी के **श्रवणबेलगोल** के शिलालेख आते हैं। इनके विषय मे श्री र० श्री मुगलि ने लिखा है—"**श्रवणबेलगोला से प्राप्त अनेक प्राचीन शिलालेखों में साहित्य-सस्कार स्पष्ट है।** उनमे जैसे वीररस जगमगा रहा है। वैसे ही शांतरस की

बूंदें भी झलक रही हैं।" इसी जैन तीर्थ के एक शिला-लेख से ज्ञात होता है कि श्रीवर्धदेव नामक कवि ने लगभग ६५० ई० में 'चूड़ामणि' नामक काव्य-कृति का सृजन किया था किन्तु यह रचना अभी उपलब्ध नहीं हुई है।

कन्नड़ भाषा का सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रथम हृद्यात्मक ग्रन्थ **"कविराजमार्ग" है। जैन धर्मानुयायी** राष्ट्रकूट **नरेश नृपतुंग** अथवा **अमोघवर्ष** (८१४–८७७ ई०) द्वारा यह रचित बताया जाता है। संस्कृत कवि दण्डी के अलंकार ग्रन्थ 'काव्यादर्श' को एक मानक ग्रन्थ मानकर इसकी रचना की गई है। यह मुख्यतः अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ है जो आज भी आदर के साथ पढ़ा जाता है। किंतु जहाँ दण्डी ने केवल आठ ही रस (कविता मे) बताए है वहाँ नृपतुंग ने "**शांतरस**" को भी एक रस माना है। यह निश्चय ही **जैनधर्म** का प्रभाव है। इस ग्रन्थ से कर्नाटक की एक हजार वर्ष प्राचीन भाषा और संस्कृति का सम्यक् ज्ञान होता है। कुछ विद्वान् नरेश नृपतुंग के स्थान पर 'श्रीविजय' को इसका रचयिता मानते है। किन्तु वे भी एक जैन कवि माने गए हैं। प्रसगवश यह भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के गुरु 'आदिपुराण' के रचयिता आचार्य जिनसेन द्वितीय थे। इसमें कर्नाटक को "सुन्दर देश" और कन्नड़ को "मधुमय कन्नड़" कहा गया है और कर्नाटक की सीमा कावेरी से गोदावरी तक बतलाई गई है।

जैनधर्म से संबधित पारिभाषिक शब्दो जैसे वीतराग श्रुत तथा आगम के अन्तः साक्ष्य के आधार पर भी 'कविराजमार्ग' एक जैन कृति सिद्ध होती है।

'**वड्डाराधने**' कन्नड़ भाषा की सबसे प्राचीन गद्य-रचना है। इस कृति के नाम का अर्थ है 'बृहद् आराधना' श्री नरसिंहाचार्य के अनुसार इसका एक नाम 'उपसर्ग केवलियों की कथा' भी है। इसमें सम्मिलित १९ कथाओं में उन घटनाओ का रोचक, सजीव एव सरस वर्णन है जिनके कारण कथाओं के नायकों को वैराग्य उत्पन्न हुआ। इसमें जैनधर्म के अनुसार तप, व्रत और सल्लेखना आदि का आश्रय लेकर अपनी नियति बदलने वाले महापुरुषों का जीवन गाथाएँ हैं। सुकुमार स्वामी चन्द्रगुप्त पूर्वभवी नदिमित्र आदि के जीवन चित्रित हैं। लेखक आचार्य शिवकोटि हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना आ० हरिषेण के 'कथाकोष' के आधार पर तथा कथाओं के उसी क्रम मे की है। उन्होंने प्राकृत गाथायें भी दी हैं, इस भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। किन्तु उनकी यह गद्य रचना कन्नड़ साहित्य की सबसे प्राचीन रचना मानी जाती है। कुछ विद्वान् इसका रचना काल ८२० ई० मानते हैं तो अधिकाश ९२० ई० इसका समय मानते हैं।

कन्नड़ के तीन रत्न

कन्नड़ साहित्य मे तीन महाकवियो **पंप, पोन्न और रन्न** को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। वे तीनो इस भाषा के तीन रत्न कहलाते है।

आदिकवि पंप—दसवी शताब्दी के कन्नड़ महाकवि पंप का मूल निवास-स्थान वेंगी मे हुआ था। उनका जन्म ब्राह्मण कुल मे हुआ था। उनके पितामह वैदिक धर्मानुयायी थे किन्तु उनके पिता ने ब्राह्मण रहते हुए भी जैन-धर्म स्वीकार कर लिया था क्योंकि वह उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ था। स्वयं पंप ने इस तथ्य का उल्लेख गर्व पूर्वक किया है। पंप ने वैदिक और जैन धाराओं को मिलाने का प्रयत्न अपनी लेखनी से किया। जैनधर्म की पुष्टि के लिए उन्होने कन्नड़ मे '**आदिपुराण**' नामक श्रेष्ठ काव्य-कृति की सृष्टि की। इसके लिए उन्होंने जिनसेनाचार्य (द्वितीय) की संस्कृत रचना 'आदिपुराण' से कथानक लिया था। समालोचकों के अनुसार जिनसेनाचार्य में जहाँ पुराणत्व अधिक है वहां पंप में काव्यत्व अधिक है। आदिपुराण मे महाकवि पंप ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पूर्वभवों तथा **भरत-बाहुबलि** आख्यान का निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से किया है। किन्तु इन आख्यानों के कारण उनका पुराण समरस नही हो गया है। श्री मुगलि के शब्दों मे "आदिपुराण मे कई ऐसे स्थल हैं जो संस्कृत काव्यों में सामान्यतः नहीं देखे जाते" तथा "अपने इस पुराण के द्वारा, उन्होने यह सूचित किया प्रतीत होता है कि जैन तत्वों में विश्वधर्म के तत्व निहित हैं।"

पंप ने आदिपुराण की रचना ९४१ ई० में लगभग चालीस वर्ष की अवस्था मे की थी। वह रचना इतनी प्रौढ़ बनी कि उन्हें आदिकवि का स्थान दिया गई।

कन्नड़ भाषा में उन्होंने चंपू शैली का अर्थात् गद्य और पद्य मिश्रित रचना का प्रारम्भ किया। उनकी इस चंपू शैली का परिवर्ती कवियो ने भी अनुकरण किया और इन सबका का काल "पंपयुग' कहलाया। वैसे भी आदि-पुराण की गणना कन्नड़ के उत्तम ग्रन्थो में आज भी की जाती है।

पंप केवल धार्मिक कवि ही नहीं थे। उन्होंने आश्रय-दाता राष्ट्रकूटों के सामंत चालुक्य नरेश की वीरता एवं गुणों का कथन करने के लिए एक लौकिक काव्य '**विक्रमार्जुनविजय**' अथवा 'पप भारत' की रचना की। इसमें उन्होने यह दर्शाया है कि अरिकेसरी अर्जुन के समान ही वीर हैं। उन्होंने अपनी सामग्री महाभारत से ली है किंतु उसकी पृष्ठभूमि लेकर 'समस्त भारत' कहने की घोषणा करके भी सक्षेप में महाभारत कहते हुए अरिकेसरी को अर्जुन से अभिन्न बताया है। कथा में परिवर्तन भी उन्होने किया है जैसे—द्रौपदी को केवल अर्जुन की ही पत्नी बताना आदि। श्री मुगलि ने उनकी रचना का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि—"**व्यास का भारत पम्प की प्रतिमारूपी पारस पत्थर के स्पर्श से सोना हो गया है, एक सरस विश्व बन गया है।**"

उपर्युक्त दोनों रचनाएँ पम्प ने एक ही वर्ष में सृजित की थी जो कि उन्हे अमरता प्रदान कर गईं।

पंप केवल शब्द वीर ही नही थे, वे शस्त्रवीर थे। उन्होंने अपने 'पप भारत' मे लिखा है—पंप सारी पृथ्वी को कंपित कर देने चतुरंग बल के लिए भयंकर थे, वे युद्ध में कभी भयभीत नही होने वाले थे। ललित अलंकरण से युक्त रहते थे, मन्मथ के समान रूप वाले तथा अपगत पाप (पाप रहित) थे।" उन्हें **कन्नड़ का कालिदास** और '**सत्कवि पंप**', 'साहित्य सम्राट्' कहा जाता है।

पंप को अपनी भूमि से भी अपूर्व प्रेम था। कर्नाटक के बनवासी प्रदेश में भ्रमर या कोकिल के रूप में जन्म को भी वे देह धारण की सफलता मानते थे।

कन्नड़ मे पपयुग के तीन रत्नों मे से दूसरे रत्न हैं **पोन्न**। ये भी वेंगी के ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे और जैनधर्म अंगीकार करने के बाद कर्नाटक आ गए थे। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय (अकालवर्ष)(६३६–६६८ ई०) के ये राजकवि थे। इन्होंने तीन ग्रंथों की रचना की है—१. शांतिपुराण (सोलहवें तीर्थंकर) का जीवन-चरित्र, २. जिनाक्षरमाला। (जिनेन्द्रदेव की स्तुति) और ३. भुवनैकरामाभ्युदय (राम कथा)। एक और संस्कृत रचना। 'गतप्रत्यागत' भी इन्ही की रचना बताई जाती है। अंतिम दो ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है।

पोन्न की उपलब्ध कन्नड़ रचना 'शांतिपुराण' है जो कि चंपू शैली में लिखित है। कवि के मूल स्थान पुंगनूर मे नागमय्य नामक एक जैन ब्राह्मण थे। उनके दो पुत्र मल्लपट्य और पुन्यमट्य थे जो कि बाद में तैलप नामक नरेश के सेनापति बन गए थे। उन्होंने अपने गुरू जिनचन्द्रदेव के निर्वाण के उपलक्ष्य मे पोन्न से शांतिपुराण लिखवाया था। मल्लपट्य की सुपुत्री 'दानचिंतामणि' अत्तिमब्बे ने शांतिपुराण की ताडपत्रों पर एक हजार प्रतियाँ लिखवाकर सोने एवं रत्नों की जिन प्रतिमाओं सहित कर्नाटक के मन्दिरों को भेंट की थी। इस महिला ने लक्कुंडि में अनेक जिनालय भी बनवाए थे।

पोन्न ने जैन धर्मशास्त्र और काव्यशास्त्र का प्रौढ़ समन्वय अपने शातिपुराण को 'पुराणचूड़ामणि' कहा है।

पोन्न कन्नड़ और सस्कृत दोनों मे रचना करते थे। अकालवर्ष ने उन्हें इसी कारण '**उभयकवि चक्रवर्ती**' की उपाधि से विभूषित किया था। जो भी हो, वे प्राचीन कन्नड़ साहित्य के तीन रत्नों मे गिने जाते हैं।

रन्न—कन्नड़ के पपयुगीन तीसरे कवि-रत्न हैं। वास्तव मे इनका नाम रन्न ही 'रत्न' का बिगड़ा रूप (अपभ्रंश) जान पड़ता है। ये आधुनिक उत्तरी कर्नाटक के बीजापुर जिले के मुधोल (प्राचीन नाम मुदुवाललु) नामक स्थान पर मनिहार कुल मे हुआ था। किन्तु इनकी शिक्षा सुदूर दक्षिण कर्नाटक मे श्रवणवेलगोल में हुई थी और बंकापुर में निवास करने वाले आचार्य अजितसेन इनके गुरू थे। गोमटेश्वर महामूर्ति (श्रवणवेलगोल) की प्रतिष्ठापना करने वाले वीर सेनानी एवं जिनभक्त चामुंडराय ने इन्हें आश्रय दिया था। चालुक्य नरेश सत्याश्रय (अपर नाम इरिवबेडग) के भी ये आश्रित थे। और कवि रत्न, कवि चक्रवर्ती, कवि तिलक आदि उपाधियों से विभूषित किया था।

रन्न की दो प्रमुख रचनाएँ हैं—१. अजितपुराण और २. गदायुद्ध या साहस भीम विजय। अजितपुराण में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का जीवन रसपूर्ण काव्यशैली में वर्णित है। कवि ने सगर चक्रवर्ती और उनके पुत्रों की कथा मोहक एवं विलक्षण प्रतिभापूर्वक गुंफित की है। इस पुराण की रचना रन्न ने ९९३ ई० के लगभग की होगी ऐसा विद्वानों का अनुमान है। इसकी एक विशेषता यह है कि कवि ने तीर्थंकर के अनेक भवों का वर्णन न कर केवल एक ही भव का वर्णन किया है। राजा विमल-वाहन का वैराग्य प्रकरण और तीर्थंकर के पांचों कल्याणकों के रसमधुर निरूपण में कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इसी प्रकार चक्रवर्ती सगर और उनके साठ हजार पुत्रों के प्रसंग एवं इस कथानक द्वारा मृत्यु की अनिवार्यता सम्बन्धी चित्रण भी सबल बन पड़ा है।

कवितिलक रन्न ने बड़े आत्मविश्वास के साथ अपने पुराण को "पुराणतिलक" कहा है।

लौकिक काव्य के रूप मे रन्न ने 'गदायुद्ध' की सृष्टि पंप के भारत से प्रेरणा लेकर की होगी। महाभारत की इस कथा को माध्यम बनाकर कवि ने यह जताया है कि उसके आश्रयदाता नरेश सत्याश्रय भी उसी प्रकार पराक्रमी है और शत्रुओं का नाश करने में उसी प्रकार सक्षम है जिस प्रकार कि भीम ने अपनी गदा से दुर्योधन का अन्त किया था। कवि ने अपनी इस रचना को 'कृतिरत्न' कहा है। इस काव्य की यह विशेषता है कि इसे नाटक के रूप में मंचित किया जा सकता है।

अजित पुराण में कवि ने कहा है—"कवियों में रत्न-त्रय—पंप, पोन्न और रत्न (रन्न) ये तीनों प्रसिद्ध हैं। ये तीनों 'जिनसमयदीपक' (जैन सिद्धांत के प्रकाशक) हैं। इनकी बराबरी कौन कर सकता है?" कन्नड़ साहित्य के इतिहास लेखकों ने भी इस मूल्यांकन को मान लिया है। रन्न ने यह भी दावा किया है कि 'वाग्देवी' (सरस्वती) के भण्डार की मुहर उन्होने तोड़ी और जिस प्रकार मणिधारी सर्प के फण पर स्थित मणि की परीक्षा करने का सामर्थ्य किसी में नहीं होता उसी प्रकार उनकी रचनाओं का मूल्यांकन कौन कर सकता है।

चामुण्डराय—समरधुरंधर, मंत्री, सेनापति और प्रखर जिनभक्त चामुण्डराय ने जहाँ श्रवणबेलगोल में ५८ फीट ८ इंच ऊँची गोमटेश्वर महामूर्ति की स्थापना कर संसार को एक आश्चर्य-वस्तु प्रदान की वहीं शस्त्र के साथ शास्त्र के भी ज्ञाताके रूप मे **'त्रिशष्टि लक्षण महापुराण'** दूसरा नाम 'चाउण्डरायपुराण' (हिन्दी मे प्रचलित चामुण्डराय नाम) की कन्नड़ में गद्य-ग्रन्थ के रूप में रचना कर कन्नड़ भाषा के इतिहास में अमरता एवं कीर्ति प्राप्त की है। इसमें उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों सहित जैन मान्यता के ६३ श्रेष्ठ पुरुषों (शलाका पुरुषों) का जीवन-चरित्र लिखा है जिसका आधार स्पष्टतः जिनसेनाचार्य का आदिपुराण और गुणभद्राचार्य का उत्तरपुराण प्रतीत होता है। शस्त्रशूर चामुण्डराय ने प्रत्येक चरित्र का मंगल-स्मरण आरम्भ मे एक पद्य देकर किया है और शेष चरित्र कन्नड़ मे लिखा है। इसका रचनाकाल ९७८ ई० माना जाता है। चामुण्डराय ने 'चरित्रसार' नामक संस्कृत ग्रंथ भी लिखा है जिसमे उन्होंने ध्यान, परीषह, अणुव्रत आदि जैन सिद्धांतों का विवेचन किया है। इनकी लेखन-शैली सरल और रोचक है। उनमें अद्भुत संक्षेपण शक्ति है।

चामुण्डराय द्वारा लिखित पुराण की प्रसिद्धि गद्य के कारण है। वड्डाराधने की खोज से पहले यह पुराण प्राचीन गद्य का सबसे पुराना ग्रंथ माना जाता था। फिर भी, प्राचीन कन्नड़ के बोलचाल के स्वरूप को जानने के लिए यह आज भी एक महत्वपूर्ण कन्नड़-ग्रन्थ है। श्री मुगलि के शब्दों मे—"पांच-छै शताब्दियों से कन्नड़ मे विकसित होते हुए कथागद्य और शास्त्रगद्य के सम्मिश्रण में 'चामुंड-राय पुराण' विशिष्ट है।"

कन्नड़ साहित्य मे नागवर्म नाम के अनेक कवि या लेखक हुए है। इनमें नागवर्म (प्रथम) अपनी लौकिक कृतियों के लिए सुविख्यात हैं। इनके पिता ब्राह्मण थे किंतु ये जैनधर्म का पालन करने लगे थे। इन्होंने अपने गुरू का नाम अजितसेनाचार्य बताया है। गोमटेश्वर महामूर्ति के प्रतिष्ठापक चामुंडराय का भी इन्हें संरक्षण प्राप्त था। इनके दो ग्रंथ हैं—१. छंदोम्बुधि जिसमें कन्नड़ भाषा के छंदों की शृंगार से ओतप्रोत विवेचना है तथा २. कर्नाटक कादम्बरी। इसकी रचना बाणभट्ट की कादम्बरी को समक्ष

रखकर की गई है किंतु उसमे कवि ने यथोचित परिवर्तन कर उसे एक स्वतंत्र रचना बना दिया है। बाणभट्ट ने जहाँ केवल गद्य का आश्रय लिया है वहाँ नागवर्म ने गद्य और पद्य दोनों का। इनका समय ९९० ई० माना जाता है।

दुर्गसिंह की रचना 'पंचतंत्र' है। कन्नड़ में अनूदित। लिखित यह रचना विष्णु शर्मा के संस्कृत पचतत्र का अनुवाद नही है बल्कि गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से चुनी गई कथाओं के आधार पर **वसुनागभट्ट** द्वारा रचित 'पचतंत्र' का कन्नड़ रूपांतर है। वसुनागभट्ट का पचतंत्र 'जावा' तीन रूपों मे प्रचलित था—दो पद्यात्मक और एक गद्यात्मक। उसमे जैनधर्म के तत्व रहे होगे तभी दुर्गसिंह के पंचतत्र मे जैनधर्म के सिद्धांत और पारिभाषिक शब्द पाए जाते है। उनका पचतत्र गद्य-पद्य मिश्रित है। दुर्गसिंह ब्राह्मण थे। उनका समय १०३० ई० माना जाता है। विद्वानों की राय है कि जैनधर्म के कर्नाटक मे उन दिनों प्रभाव के कारण दुर्गसिंह ने वसुनागभट्ट के ग्रंथ को अपना आधार बनाया।

कन्नड़ में ज्योतिष ग्रंथ के अभाव की पूर्ति करने की दृष्टिसे 'विप्रकुलोतम' **श्रीधराचार्य** ने 'जातक तिलक'नामक पुस्तक लिखी। इस रचना के अन्तिम पद्य से ज्ञात होता है कि इन्होंने **'चंद्रप्रभचरित'** का भी सृजन किया था जो उपलब्ध नही हो सका है। इसका समर्थन १२६० ई० की कृति 'नागकुमारचरित' से भी होता है।

उमास्वाति के प्रसिद्ध 'तत्वार्थसूत्र' (संस्कृत) की कन्नड़ मे वृत्ति के लेखक है 'दिवाकरनन्दि' इन्होने उसकी रचना १०६२ ई० के लगभग की होगी ऐसा अनुमान है। अपने ग्रंथ के प्रारम्भ मे उन्होने प्रतिज्ञा की है कि वे मंदबुद्धि जनों के हित के लिए तत्वार्थसूत्र मूल का अर्थ कन्नड़ मे कहेंगे।

'सुकुमारचरिते' नामक गद्य-पद्य मिश्रित (चपू) काव्य के रचयिता 'शांतिनाथ' ने सुकुमार की कथा प्रभावोत्पादक कन्नड़ मे लिखी है। उसका रचनाकाल या कवि का समय १०६८ ई० निर्धारित किया गया है। यह भी एक उत्कृष्ट कृति मानी गई है।

नागचंद्र या अभिनव पम्प—इनके जीवन के विषय में विशेष जानकारी नही है। किंतु उनकी कृति **'पम्परामायण'** (दूसरा नाम रामचन्द्र चरित पुराण) ने इन्हे कन्नड़ साहित्य में अमर बना दिया है। अभिनव या श्रेष्ठ पम्प या दूसरे पम्प नाम इन्होने स्वय अपने को ही दिया था किंतु अब वे इसी नाम से विख्यात हैं। जैन 'पउमचरिउ या (पदमपुराण) के आधार पर लिखित रामायण एक सरस काव्य है। उसमे जैन मान्यताएं यथा हनुमान विद्याधर जातीय तथा वानर वंशीय थे। सुग्रीव, बालि आदि की ध्वजाओं पर वानर (बंदर) का निशान था; रावण के दस मुँह नही थे अपितु जन्म के समय दर्पण में उसके दस मुँह दिखाई दिये थे (दर्पण मे एक ही छवि दसियों, सैकड़ों छवियो के रूप में आज भी देखी जा जा सकती है। इत्यादि, इस रामायण का प्रमुख रस शांत रस है और जीवन का अतिम लक्ष्य मुक्ति इसके पात्रों के जीवन मे प्रतिलक्षित होता है। पम्प रामायण में रावण भी मानवोचित गुणो से हीन नहीं है। यह रामायण संभवत: कन्नड भाषा मे पहली रामायण है। कन्नड में परवर्ती काल में जैन परम्परानुसार अन्य कथाएं भी लिखी गईं। यथा षट्पदी की 'कुमुदेन्दु रामायण (लगभग १२७५ ई०), चन्द्रशेखर और पद्मनाभ (१५००-१७५० ई०) कृत 'रामचद्र चरित' तथा देवचन्द्र की गद्य-रचना 'रामकथावतार' (लगभग १७९७ ई०) सक्षेप मे यह कथा 'चामुंडराय पुराण' (९७८ ई०) नयसेन के 'धर्मामृत' (१११२ ई०) तथा नागराज के 'पुण्याश्रव' (१३३१ ई०) एवं अन्य कृतियों में भी पाई जाती हैं। इस प्रकार **कन्नड में जैन रामायण कथा की धारा भी सबल रूप से प्रवाहित रही है।**

अभिनव पम्प की दूसरी रचना **'मल्लिनाथ पुराण'** है। इसमें उन्नीसवें तीर्थंकर के जीवन का काव्यमय वर्णन है। इसकी कथा छोटी है किंतु शांत रस के प्रवाह के कारण "वह एक उच्चकोटि की कृति है।....वह महाकाव्य के सत्व से युक्त सत्यकाव्य है।" (श्री मुगलि)। कन्नड साहित्य के इतिहासके लेखक श्री मोगलि ने इसके सम्बन्ध में भी द० रा० बेन्द्रे ने यह मत उद्धृत किया है, "जिन (तीर्थंकर) के अलावा बाकी सब काम-रति की शृंगार-सृष्टि है, शांत रस के द्वारा ही सच्चे सौंदर्य आनंद और

प्रीति की प्राप्ति होती है—यही नागचंद्र का सौंदर्य-सूत्र है; मल्लिनाथ पुराण महाकाव्य के सौंदर्य युक्त है।" उसका वैराग्य प्रकरण काफी हृदयस्पर्शी बन पड़ा है।

श्री अभिनव पम्प के जीवन-तथ्य अधिक नहीं मिलते। लगता है उनका जन्म विजयपुर (आधुनिक बीजापुर) मे हुआ था। वे काफी सम्पन्न व्यक्ति थे। वहीं उन्होने 'मल्लिनाथ जिनालय' बनवाया था। उनका नाम व पद्य उनके श्रवणबेलगोल आदि अनेक स्थानों के शिलालेखो में पाए जाते हैं। उनकी उपाधियाँ साहित्य विद्याधर, भारती कर्णपूर आदि थी। ये होयसल नरेश विष्णुवर्धन (११०४-११४१ ई०) के दरबार मे भी कवि के रूप मे रहे थे। (विष्णुवर्धन के जैन होने के लिए देखिए 'हलेबिड' प्रकरण)।

कवयित्री कंति—कहा जाता है कि ये नागचद्र की समकालीन थी। अभिनव पम्प यदि आधी पंक्ति बोलते तो वे पंक्ति पूरी कर दिया करती थीं। उनकी समस्या-पूर्ति पद्यात्मक रचनाएँ दतकथा का विषय बन गई है। यह भी कहा जाता है कि नागचंद्र ने प्रण किया कि वे 'कंति' (जैन भिक्षुणी या भक्त-महिला के लिए प्रयुक्त शब्द की राहत के अनुसार) से अपनी प्रशसा करवा लेगे। उन्होंने मृत होने का ढोंग रचा और भिक्षुणी ने उनकी प्रशसा मे पद्य रच दिए थे। जो भी हो, **जैन-भिक्षुणी** की समस्या-पूर्ति का भी कन्नड़ में स्थान है। यह प्रथम कवयित्री **'अभिनव वाग्देवी'** की उपाधि से भी विभूषित थीं ऐसा पता चलता है।

मुनि नयसेन ने कन्नड़ भाषा में **'धर्मामृत'** की रचना की है। इस कृति के १४ आश्वास हैं और उनमे १४ गुणव्रतो के सरल विवेचन के साथ ही चौदह महापुरुषों की कथायें निबद्ध हैं जिन्होंने इनका पालन कर ऐसे सिद्धि प्राप्त की। मुनि ने अपनी आम्नाय परम्परा के अनुसार अपनी मुनि-पूर्व अवस्था का परिचय नही दिया है। फिर भी यह ज्ञात होता है कि ने धारवाड़ जिले के मुलुगुन्द नामक स्थान के निवासी थे और आचार्य नयसेन उनके गुरु थे जो कि आचार्य जिनसेन, गुणभद्र आदि की परंपरा के थे।

धर्मामृत रचना करते समय कवि ने यह संकल्प किया कि वे साधारण जनों की समझ में जैन-दर्शन आ सके, इसलिए ठेठ कन्नड़ में लिखेंगे और अपनी कृति में संस्कृत के कठिन शब्दो का प्रयोग नही करेंगे क्योकि जिन्हें सस्कृत प्रिय है, वे सस्कृत में लिखे। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे संस्कृत के विरोधी थे। वे विरोधी थे कठिन सस्कृत शब्दो वाली कन्नड़ के। ऐसी भाषा को वे घी और तेल का मिश्रण समझते थे। उन्होने अपने युग की कन्नड़ का आश्रय सामान्य जनों के हित के लिए लिया। इस प्रकार वे प्राचीन कन्नड़ की भी अपेक्षा समकालीन कन्नड़ के पक्षधर ठहरते हैं। वे जनवादी कथालेखक के रूप में कन्नड़ साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उन्होंने कन्नड़ कहावतों और मुहावरों का कुशल प्रयोग किया है। सरल, सरस, चुभती, हास्यपूर्ण शैली के लिए कन्नड़ लेखकों मे वे एक विशेष स्थान रखते हैं। धर्मामृत का रचना-काल १११२ ई० माना जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि इन्होने एक व्याकरण भी लिखा था जो अभी उपलब्ध नही हो सका है।

गणितज्ञ और कवि राजादित्य ने गणित सम्बन्धी छः ग्रंथो की रचना कन्नड़ में की है। ये हैं—१. व्यवहार गणित जिसमे सहजत्रयराशि, सहजनवराशि आदि का विधान है। २. क्षेत्रगणित, ३. व्यवहाररत्न, ४. **जैनगणित सूत्रटीकोदाहरण** में प्रश्न देकर उत्तर पाने का विधान बतलाया गया है। ५. चित्रपुहुम ग्रथ टीका और सूत्र रूप में हैं। तथा ६. लीलावती (पद्य) मेंगणित की समस्यायें उदाहरण सहित समझाई गई है। इनकी रचनाएं पद्य में सरल शैली मे होने पर भी इन्होने सूत्रों एव उदाहरणों का सफल प्रयोग किया है। ये ११२० ई० में विष्णुवर्धन के दरबार मे थे ऐसा अनुमान किया जाता है।

गो (गाय) की व्याधियों, उनसे संबंधित औषधियों, मंत्रों आदि का विवेचन **कीर्तिवर्म** ने अपने ग्रंथ **'गोवैद्य'** में किया है। इनका समय ११२५ ई० अनुमानित है। इनके पिता चालुक्य नरेश त्रैलोक्यमल थे। उनकी जैन रानी से इनका जन्म अनुमानित किया जाता है। उन्होने अपनी उपाधियों में **'सम्यक्त्वरत्नाकर'** भी गिनाई है।

ब्रह्मशिव—का जन्म पोट्टयागेरे में हुआ था। वे शैव थे किन्तु बाद में उन्होंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। इनका रचनाकाल ११२५ ई० के लगभग माना जाता है। इनके दो ग्रंथ हैं—१. समयपरीक्षे और २. त्रैलोक्यचूड़ामणि स्तोत्र। इन्हें कवि 'चक्रवर्ती' की उपाधि भी राज-सम्मान के रूप में प्राप्त थी।

'धर्मपरीक्षे' में कवि ने कन्नड़ भाषा में शैव, वैष्णव आदि मत-मतान्तरों की चर्चा कर उनके दोष दिखाकर जैनधर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। किंतु यह ग्रथ इस समय एक महत्वपूर्ण ग्रथ है। श्री मुगलि के अनुसार यह ग्रंथ कन्नड़ मे एक अपूर्व धर्म चर्चा और विडम्बना का काव्य है और इसमें अपनी सीमा में सरल तत्कालीन जगत् के जीवन का चित्र दिया गया है। इसकी विडम्बना कई बार कटु हो गई है, उसमे साम्प्रदायिक पक्षपात और असहिष्णुता बहुत है। किन्तु उसमें साधारण जनों के मिथ्या विश्वास और आचारों का ब्योरेवार वर्णन है। इस प्रकार वह सामाजिक और धार्मिक जीवन के अध्ययन के लिए एक आम गुटका है। "इस रचना से ही जान पड़ता है कि कर्नाटक मे उस समय एक ही परिवार के लोग विभिन्न धर्मों का पालन करते थे। कवि के एक पद्य का आशय है। 'पत्नी महेश्वरी' अर्थात् (शैव), पति जैन और हाय! पुत्र तो मार्तण्ड भक्त (सौर सम्प्रदाय) के हैं।"

'त्रैलोक्य चूड़ामणि स्तोत्र' का दूसरा नाम छत्तीस-रत्नमाले भी है। इसमे कवि ने ३६ छन्दो मे जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए अन्य मतो का खण्डन किया है।

कर्णपार्य—का समय सामान्यत: ११४० ई० माना जाता है। ये भी जैन थे। इन्होने अपनी कन्नड रचना **'नेमिनाथ पुराण'** मे तीर्थंकर नेमिनाथ की जीवन-गाथा काव्य-शैली में वर्णित की है। इस पुराण का प्रधान रस शांत ही है किंतु प्रसंगानुसार उसमे श्रृंगार, करुणा, बीभत्स एव रौद्र रसो की सयोजना भी है। कवि को उपमा विशेष रूप से प्रिय है। संस्कृत कहावतो आदि का प्रयोग करके भी कवि ने अपने पुराण को आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है। इस पुराण मे कौरव-पाडव, बलदेव-वासुदेव आदि के प्रसग भी वर्णित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि कवि ने नेमिनाथ का जीवन तो जैन मान्यता के अनुसार चित्रित किया है किंतु कौरव-पांडव आदि प्रसंगों में वैदिक (भागवत) परम्परा की सामग्री भी ले ली है।

कवि ने अपने गुरू कल्याणकीर्ति 'साश्चर्यचारित्र-चक्रवर्ती' के रूप में उल्लिखित किया है। ग्रंथ से ज्ञात होता है कि तत्कालीन शासक विजयादित्य का मंत्री लक्ष्म अथवा लक्ष्मण कवि कर्णचार्य का आश्रयदाता था। इन्हें 'सम्यक्त्वरत्नाकर', परमजिनमतक्षीरवाराशिचंद्र, गांभीर्य-रत्नाकर आदि उपाधियां प्राप्त थी।

नागवर्म द्वितीय (लगभग ११४५ ई०) जैन ब्राह्मण थे। ये कवि और आचार्य दोनों रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्हें कविकण्ठाभरण कविकर्णपूर आदि उपाधियां प्राप्त थीं। ये चालुक्य शासक के कटकोपाध्याय (सेना में शिक्षक) और कवि जन्म के गुरू थे। इनका एक ग्रंथ जिनपुराण भी था जो उपलब्ध नहीं हुआ है। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रथ **'काव्यावलोकन'** है जो कि अलकार शास्त्र से संबंधित है। प० के० भुजबली शास्त्री के अनुसार यह ग्रंथ नृपतुंग के कविराजमार्ग से अधिक परिपूर्ण है। "इसके 'शब्दस्मृति प्रकरण' में कन्नड़ व्याकरण का लालित्यपूर्ण निरूपण है।" व्याकरण सम्बन्धी इनका दूसरा ग्रंथ कर्णाटक **'भाषाभूषण'** है। यह सस्कृत में है और इसका प्रयोजन संस्कृत के विद्वानों को कन्नड भाषा का परिचय कराना है। इसी प्रकार उन्होंने कन्नड़ काव्यों मे प्रयुक्त संस्कृत शब्दों को समझने के लिए संस्कृत-कन्नड़ कोश की रचना की जिसका नाम 'अभिधानवस्तुकोश' है। छदोविचिति नामक इनकी एक रचना अनुपलब्ध है।

वैद्यक ग्रंथ 'कल्याणकारक' के रचयिता 'सोमनाथ' का समय ११४० या ११४५ ई० अनुमानित किया जाता है। उपर्युक्त ग्रंथ आचार्य पूज्यपाद के इसी नाम के सस्कृत ग्रंथ का कन्नड़ अनुवाद है। उसमे उक्त आचार्य की चिकित्सा पद्धति मे मधु, मद्य और मांस निषिद्ध बताया गया है तथा ग्रंथ के प्रारम्भ मे चद्रप्रभु और अनेक गुरुओं की स्तुति की गई है।

चम्पू शैली में लिखित 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रंथ के रचयिता 'वृत्तविलास' है जिनका समय ११६० ई० के

लगभग अनुमानित किया जाता है। आचार्य अमितगति की रचना 'धर्मपरीक्षा' को वृत्तविलास ने कन्नड़ मे रूपांतरित किया है। इसका विषय उपहासात्मक धर्म-कथाएं हैं जो कि सुगम और आकर्षक ढंग से कही गई हैं। शैली सरल होने पर भी एक समय कन्नड़भाषियों को जब यह ग्रंथ कठिन लगा तो श्रावकों की प्रार्थना पर तथा श्रवणबेलगोल के भट्टारक चारुकीर्ति के आदेश पर चद्रसागर जी ने शा. श. १७७० में सरल कन्नड़ में इसको पुनः प्रस्तुत किया।

जैन युग की विशेषताएँ—कन्नड़ साहित्य के आरम्भ काल से लेकर ११६० ई० तक की कालावधि को जैन युग कहने का कारण यह है कि उसके बहुसख्य रचनाकार जैनधर्म के अनुयायी थे। जो मुट्ठी भर ब्राह्मण लेखक थे, वे अधिकांशत: सस्कृत मे रचना करते थे। (२) जैन युग या (स्वर्णयुग) मे धार्मिक, लौकिक और ऐतिहासिक रचनाओ की अधिकता होते हुए भी अनेक विषयों से संबंधित रचनाएं जैन लेखकों की लेखनी से प्रसूत हुईं। इनमें व्याकरण, अलकारशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष आदि प्रमुख थे। (३) जैन युग मे एक नई रचना-शैली का प्रादुर्भाव हुआ। इसे चम्पू शैली या गद्य और पद्य मिश्रित शैली कहते हैं। इसका श्रेय महाकवि पप युग को है। उनका अनुकरण पश्चाद्वर्ती कवियो ने खूब किया। इस कारण यह युग 'चपू युग या पप युग' भी कहा जाता है। (४) इस युग में सस्कृत के विरोध का स्वर मुखरित हुआ और कन्नड़ भाषा को उत्तरोत्तर साहित्य की भाषा का दर्जा मिला जिसका श्रेय जैन लेखको को है। उसके तीन महान् जैन लेखक (पप, पोन्न तथा रन्न) कन्नड़ साहित्य के रत्नत्रय कहे जाते हैं।

बारहवी सदी का अत आते-आते कर्नाटक मे जैनधर्म को आघातो का सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी क्षति तमिलनाडु के शैवधर्मी चोल राजाओं के आक्रमणो के कारण हुई। इसी प्रकार रामानुजाचार्य के मत-प्रचार के कारण भी जंनधर्म को धक्का लगा। जैनधर्मी गग राजाओ के पतन के कारण राज्याश्रय भी नही रहा। अत: १२वीं-तेरहवी सदीके विपुल जैन साहित्य नहीं रचा गया। परवर्ती काल में वैष्णव, शैव भक्ति साहित्य की प्रधानता रही।

वीर शैव काल से जैन लेखक

इस युग का वीरशैव साहित्य 'वचन' के रूप में है। इस शब्द से स्वाभाविक रूप से कही गई बात से लिया जाता है। इस साहित्य के प्रमुख प्रेरक थे श्री बसव। इन्होंने जो मत चलाया वह वीरशैवमत कहलाया। जैन राजधानी कल्याणी से इन्होंने अपना मत राजा विज्जल के मत्री के पद पर रहते हुए एवं बाद मे किया। उनके मत पर जैनधर्म का प्रभाव था। इस तथ्य को आज भी स्वीकारा जाता है। पूना-हैदराबाद सड़क-मार्ग से जो मार्ग बसवकल्याण (कल्याणी का आजकल का नाम) की ओर मुड़ता है वहाँ तिराहे पर एक पट्ट पर यह लिखा है कि श्री बसव ने अपने मत मे भगवान महावीर की अहिंसा और सत्य का अपने उपदेशो मे समावेश किया था। यह पट्ट पर्यटकों के स्वागत के लिए लगाया गया है। श्री बसव ही नहीं, परवर्ती लिंगायत (वीर शैव) वचनकारो पर भी जैनधर्म का प्रभाव देखा जा सकता है। श्री मुगलि ने अपने इतिहास मे श्री सिम्मलिगे चन्नय्या का वचन इस प्रकार उद्धृत किया है। "एक आदमी जंगल मे जा रहा था, उसे चारो दिशाओं में बाघ, दावाग्नि, राक्षसी और जगली हाथी पीछा करते हुए दिखाई दिए। उन्हे देखकर डर के मारे उसे यह नही सूझा कि किधर जाय। उसे एक सूखा कुआ दिखाई दिया। उसके भीतर झांकने पर वहाँ एक सांप देखकर वह उसमें कूद नही सका और चूहे की काटी हुई एक लता को पकड़कर रुक गया। एक मधु-उसको काट रही थी, तभी शहद की एक बूद उसके मुख में टपकी। उसका माधुर्य अनुभव करता हुआ वह अपना सारा दु:ख भूलकर जीभ से उस शहद का मजा लेता रहा। यह ससार का सुख भी इसी के समान है।" इस प्रकारका चित्र आज भी अनेक जैन मन्दिरों मे देखा जा सकता है।

उपर्युक्त युग मे कुछ जैन लेखक पप युग या जैन युग की चपू-शैली मे रचना करते रहे जो कि मार्ग-शैली कहलाती थी किंतु कुछ जैन लेखको ने नवीन शैली को भी अपनाया जो कि देसी शैली कहलाई। इसी प्रकार के उदाहरण ब्राह्मण लेखको के भी मिलते है। इस युग मे प्राचीन 'कंद' वृत्त के स्थान पर कन्नड़ मे 'रगवे', त्रिपदी और षट्पदी नामक छदो का प्रयोग बढ़ा जिनका जैन लेखको ने भी व्यवहार किया। (क्रमश:)

भट्टाकलंककृत लघीयस्त्रय : एक दार्शनिक अध्ययन

□ हेमन्त कुमार जैन, वाराणसी

भट्टाकलंक जैन न्याय और दर्शन के एक व्यवस्थापक आचार्य हैं। पूर्व परम्परा से प्राप्त जिस चिन्तन की दार्शनिक दृष्टि से अदम्य तार्किक समन्तभद्र और सिद्धसेन जैसे महान् आचार्यों ने नींव के रूप में प्रतिष्ठापना की थी, उसी नींव के ऊपर सकलतार्किकचक्रचूड़ामणि भट्टाकलंक ने जैन न्याय और तर्कशास्त्र का अभेद्य और चिरस्थायी प्रसाद खड़ा किया है। उन्होंने अपने समकालीन विकसित दर्शनान्तरीय विचारधाराओं के गहन अध्ययन पूर्वक अपने ग्रन्थों में उनकी विस्तृत समीक्षा करके सर्वप्रथम प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता आदि सभी पदार्थों का संस्कृत भाषा मे अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण तार्किक शैली से उपस्थित किया और सूत्र शैली में अत्यन्त गूढ़ ऐसे ग्रन्थों का सृजन किया, जो कभी उस समय जैन परम्परा मे चल रही थी। बाद में भट्ट अकलंक के इन ग्रन्थों पर प्रभाचंद्र, अनन्तवीर्य, वादिराज, अभयचंद्र जैसे आचार्यों ने बृहद् भाष्य ग्रंथ लिख डाले। अकलक ने प्रमाण-परिभाषा, उसके फल, विषय, मुख्य प्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाणान्तर्गत अनुमानादि, जय पराजय व्यवस्था, वाद कथा आदि को परिभाषित करके जैन न्याय को इतना व्यवस्थित और समृद्ध कर दिया था कि उनके बाद आज तक किसी को नवीन चिन्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी। ऐसे महान् दार्शनिक की कृतियो मे से एक कृति 'लघीयस्त्रय' के दार्शनिक विवेचन के रूप में लिखा गया यह शोध-प्रबन्ध मेरा एक प्रथम एव लघु प्रयत्न है। इसमे लघीयस्त्रय के दार्शनिक पक्षों को स्पष्ट करने वाले आठ अध्याय रखे गये हैं। जिसका अध्याय क्रम से सक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

अकलक का कृतित्व एव व्यक्तित्व इतना महान् था कि लोग उनके नाम को जिन का पर्याय समझने लगे थे। नि:सन्देह इनकी कृतियो, शिलालेखो, ग्रन्थान्त सन्दर्भों, कथाओ आदि से उनके विराट व्यक्तित्व का पता चलता है। महान् शास्त्रार्थी और वाद-विजेता के रूप मे चतुर्दिक उनकी ऐसी ख्याति थी कि विपक्षी मृत्यु तक को वरण कर लेते थे। यही कारण है कि वे जैन वाङ्मय में सकलतार्किकचक्रचूडामणि, तर्कभूवल्लभ, महर्द्धिक, तर्कशास्त्रवादीसिंह, समदर्शी आदि विशेषणो से जाने जाते हैं।

प्रथम अध्याय के परिच्छेद प्रथम मे उनके व्यक्तित्व से सम्बन्धित इन्हीं विशेषताओं पर, शिलालेख आदि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर प्रकाश डाला गया है। जीवनवृत्त से सम्बन्धित "लघुहव्व" सन्दर्भ जो कि क्षेपक के रूप में प्रतीत होता है, उसकी अन्यत्र कहीं पुष्टि नही होती, कथाओं मे भी उनका जीवनवृत्त प्राप्त होता है, पर इसकी अन्य किसी भी सन्दर्भ से प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। इसी तारतम्य में समीक्षक विद्वानों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर अकलंक के समय पर किये गये विचारो का पुनरीक्षण किया गया है। वह इसलिए आवश्यक हुआ कि कई विद्वानो ने अकलक का समय बाद का निर्धारित करके उनका सम्बन्ध गुरू शिष्य के रूप मे समन्तभद्र से जोड़कर जैन दर्शन के इतिहास मे भ्रममूलक निष्कर्ष निकाले है, जो बिल्कुल निराधार है। इसका समाधान विभिन्न समयों में लिखे गये आचार्यों द्वारा अपने ग्रंथो मे अकलक के नाम से एव अकलक की कृतियो के अन्तरग परीक्षण से हो जाता है। समय निर्धारण मे "लघुहव्व" नाम कथाओ मे आए "शुभतुंग" का प्रसग आदि समीक्षको के प्रधान सहायक रहे। जिनकी ऐतिहासिक राजाओ के समय से संगति बैठाकर सभी ने समय निर्धारण के प्रयत्न किये। सम्पूर्ण तथ्यो के अवलोकन के बाद यह सत्य प्रतीत होता है कि अकलक का समय आठवी शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिए। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के प्रथमपरिच्छेद मे अकलक के जीवनवृत्त और

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसी की पी-एच.डी. उपाधि हेतु स्वीकृत १९८९, अप्रकाशित।

समय का, मूल सामग्री से मिलान कर पुनरीक्षण किया गया है।

बीसवीं शताब्दी के महान् समालोचक विद्वान स्व० डा० महेन्द्र कुमार जैन ने अकलक की कृतियों का अतरग एवं बहिरंग रूप से गहन आलोडन किया है। यह ही नही, उन्होंने अगाध परिश्रमपूर्वक टीका ग्रंथों से न्यायविनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय जैसे ग्रथो को खोजकर उनका स्वयं सम्पादन किया और गवेषणापूर्ण उनकी भूमिकायें लिखी। लघीयस्त्रय आदि सग्रह के रूप मे समवेत रूप से अकलंक के तीन ग्रंथों का भी सम्पादन किया और विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी। हम समझते है उनके बाद वैसे सम्पादन का दिगम्बर परम्परा मे बिलकुल ही अभाव हो गया। यह भी हम कह सकते है कि उनके बाद सस्कृत मे लिखे गये अकलक के ग्रथो का अर्थ न समझने वाले विद्वानों के लिए स्व० डा० जैन की कृतियां एवं विभिन्न ग्रथों मे लिखी गयी भूमिकाये अकलक, जैनन्याय एवं दर्शन का हार्द समझने के लिए पर्याप्त हैं। प्रथम अध्याय के प्रस्तुत इस द्वितीय परिच्छेद मे अकलक के ग्रंथो का सक्षिप्त परिचय स्व० डा० जैन के अध्ययन के आधार पर तैयार किया गया है। इसमें हमने यहाँ कोशिश की है कि उन कृतियों का वास्तविक परिमाण एव कृतित्व का प्रमाण और अन्तरग परिचय सक्षिप्त रूप में सामने आ जाये। इस अध्ययन मे हमने देखा कि उनकी उपलब्ध कृतिया मात्र छः ही प्राप्त होती है। जिनका नामकरण अकलक के परवर्ती आचार्यों के द्वारा किया गया जान पडता है, क्योंकि उन ग्रन्थों का नाम अकलंक का दिया हुआ है, ऐसी सूचना उनके ग्रथो से प्राप्त नहीं होती।

उनकी सम्पूर्ण कृतियां भाष्य और स्वतंत्र इन दो रूपों में प्राप्त होती है। कुछ स्वतंत्र कृतियां उनकी ऐसी हैं, जिन पर उन्होंने स्वय वृत्ति या भाष्य लिखा है। उनकी उपलब्ध कृतिया इस प्रकार हैं—

१. तत्त्वार्थवार्तिक (वार्तिक एवं उस पर भाष्य)।
२. अष्टशती (आप्तमीमांसालकार, भाष्य)।
३. लघीयस्त्रय (सवृत्ति)।
४. न्यायविनिश्चय (सवृत्ति)।
५. सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति)।
६. प्रमाण संग्रह।

इन कृतियों के अतिरिक्त स्वरूप संबोधन आदि और भी कृतियां हैं, जो उपलब्ध परन्तु विवादग्रस्त मानी जाती हैं। अनुपलब्ध एवं विवादग्रस्त कृतियां बृहत्त्रय और न्यायचूलिका मानी जाती हैं। प्रस्तुत परिच्छेद में उपर्युक्त सभी कृतियों का अन्तरंग एव बहिरग परिचय संक्षेप मे दिया गया है।

मेरा शोध का विषय "भट्टाकलककृत लघीयस्त्रय : एक दार्शनिक विवेचन" होने के कारण परिच्छेद तृतीय मे लघीयस्त्रय का विशेष परिचय दिया गया है। इसमे इसके वास्तविक परिमाण निर्धारित करने के साथ 'लघीयस्त्रय' के रूप मे ग्रथ के नाम पर विशेष ऊहापोह पूर्वक विचार किया गया है। अन्तरंग विषय-वस्तु के परिचय के अन्तर्गत प्रवेश और परिच्छेद के क्रम से प्रमाण, नय और प्रवचन के सम्बन्ध में उनके विचारो को रखा गया है।

"प्रमाणमीमांसा की आगमिक परम्परा ज्ञानमीमांसा" नामक द्वितीय अध्याय के परिच्छेद प्रथम मे तीर्थंकरो से लेकर अकलक तक प्रमाण के आध्यात्मिक रस की चर्चा की गयी है। इसमें हम पाते हैं कि किस प्रकार प्रमाण के अभाव में ज्ञान से उसका कार्य किया जाता था। वस्तुत. परम्परागत सम्यक् और मिथ्या के रूप मे ज्ञान का वर्गीकरण एक तरह से प्रमाण और प्रमाणाभास के पूर्वरूप की सूचना देता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप मे, परम्परा से चले आये ज्ञान के इन दो भेदों को आधार मानकर ज्ञानो का किस प्रकार प्रमाणों मे वर्गीकरण हुआ। इसका वर्णन प्रस्तुत अध्याय के द्वितीय परिच्छेद मे किया गया है। जिसमें बताया गया है कि परम्परागत प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों के आधार पर बाद के दार्शनिको द्वारा उन्हें स्पष्टरूप मे प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया। आत्मसापेक्ष प्रत्यक्ष और इन्द्रिय एवं अतिन्द्रिय सापेक्ष परोक्ष के रूप में विभाजित उस ज्ञान गंगा की धारारूपी परम्परा कुन्दकुन्द तक अनवरत रूप से प्रवाहित होती रही, परन्तु ज्ञान को प्रमाण रूप मे स्वीकृति देने वाले उमास्वामी और उनके बाद के आचार्यों द्वारा अनिन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान को आत्मसापेक्ष ज्ञान के

साथ संयुक्त कर लिया गया, बाद में यही प्रमाणों के वर्गीकरण का मुख्य आधार बन गया।

तत्पश्चात् प्रमाण की परिभाषाए गढ़ी गयी और अकलक तक आते-आते ज्ञान को प्रमाण मानकर उन्होने उसमे अनधिगतार्थ, अविसंवादी और व्यवसायात्मक जैसे पदों का समावेश कर प्रमाण की अकाट्य परिभाषा दी। "प्रमाणमीमांसा" प्रस्तुत तृतीय अध्याय के परिच्छद प्रथम में इसका ऐतिहासिक सन्दर्भ मे मूल्यांकन किया गया है। इसी अध्याय के द्वितीय परिच्छेद मे दर्शनान्तर सम्मत प्रमुख प्रमाण परिभाषाओं की समीक्षा करके परिच्छेद तृतीय मे प्रमाण के भेदों का भी विवेचन किया गया है।

"प्रत्यक्ष प्रमाण" नामक चतुर्थ अध्याय में मुख्य-प्रत्यक्ष और साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के रूप में दो परिच्छेद रखे गये हैं। जिसमे सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप बिशदता का समालोचनात्मक दृष्टि से आकलन करते हुए उनके भेदों की चर्चा की गयी है। तत्पश्चात् मुख्य प्रत्यक्ष का स्वरूप एवं अतीन्द्रिय ज्ञान-केवलज्ञान के प्रतिपादनपूर्वक विभिन्न उक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि सुनिश्चित रूप से सर्वज्ञ के अस्तित्व मे बाधक प्रमाणों का अभाव होने से वह स्वयं ही सिद्ध हैं। "मुख्य प्रत्यक्ष" नामक इस परिच्छेद मे उपर्युक्त चर्चा के साथ अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानो के सक्षिप्त स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है।

"साव्यवहारिक प्रत्यक्ष" नामक इस अध्याय के द्वितीय परिच्छेद मे इसके स्वरूप और अवान्तर भेदो की चर्चा की गयी है। इसमे यह बताया गया है कि परम्परा से परोक्ष के रूप में स्वीकृत मतिज्ञान मे किस प्रकार शब्द-योजना से पहले प्रत्यक्षत्व है। इसकी एवं इसके भेदों की सांव्यवहारिक के भेद इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समीक्षा की गयी है।

"परोक्ष प्रमाण की परिभाषा एव भेद" नामक पंचम अध्याय के प्रथम परिच्छेद मे ऐतिहासिक विनेचनपूर्वक यह दिखाया गया है कि शब्दयोजना होने पर स्मृति, सज्ञा, चिन्ता आदि परोक्ष क्यो हो जाते है। तत्पश्चात् द्वितीय परिच्छेद मे स्मरण, प्रत्याभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन परोक्ष के पांच भेदो की विस्तृत समीक्षा की गयी है। जिसमे इनके स्वरूप एवं अवान्तर भेदों के निरूपण के साथ दर्शनान्तरीय मतों की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है। इसमें इन प्रमाणों के मानने का आधार इनका स्वातंत्र्य आदि विषयो पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है। अनुमान (प्रत्यभिज्ञान) प्रमाण के अन्तर्गत उसका स्वरूप, व्याप्ति का स्वरूप, एकलक्षण का स्वरूप, हेतु का स्वरूप एवं उसके भेदादि का तुलनात्मक दृष्टि से विमर्श उपस्थित किया गया है। तत्पश्चात् अन्त में आगम-श्रुत प्रमाण की चर्चा की गयी है। दर्शनान्तर सम्मत उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का परोक्ष प्रमाण में विभिन्न युक्तियों पूर्वक अन्तर्भाव दिखाया गया है।

"प्रमाण का विषय, फल और प्रमाणाभास" के प्रतिपादन के लिए अध्याय षष्ठ रखा गया है। इसमे बताया गया है कि प्रमाण का विषय द्रव्य पर्यायात्मक, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त अर्थ, अनेकान्तात्मक है। इसलिए प्रमाण के विषय की उपलब्धि ऐकान्तिक दृष्टि से नहीं की जा सकती। इस प्रसंग में बौद्धादि गम्य स्वलक्षण, क्षणिकवाद, सन्तानवाद, नित्यवाद आदि की समीक्षा की गई है। प्रमाणफल में यह सिद्ध किया गया है कि युगपद सर्वाविभासक ज्ञान प्रमाण का फल उपेक्षा क्रमभावि ज्ञान प्रमाण का फल उपेक्षा, हेय एव उपादेय बुद्धि तथा सभी ज्ञानों-प्रमाण का फल अपने विषय में अज्ञान का नाश है। मति आदि ज्ञानों मे साक्षात्फल और परम्परा फल का संयुक्तिक विवेचनपूर्वक अवग्रहादि भेदों की प्रमाणफल व्यवस्था बतायी गई है। इसी अनुक्रम मे प्रमाण फल के भिन्नत्व-अभिन्नत्व पर विचार करने के साथ विभिन्न मतावलम्बियों की प्रमाण फल की व्यवस्था की समीक्षा की गयी है। प्रमाणाभास की चर्चा में प्रमाणाभास का स्वरूप, भेद, उनके आधार तथा अन्य मतावलम्बियों के मत की किस प्रमाणाभास के अन्तर्गत रखा जाय इत्यादि पर विचार किया गया है।

अध्याय सप्तम 'नयमीमांसा" में तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में सकलादेशी नय की परिभाषा पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों-ज्ञाता का अभिप्राय, वक्ता-श्रोता की स्थिति, नय के स्वरूप की ऐतिहासिक दृष्टि, सुनय-दुर्नय आदि पर विचार

करके, नय के भेदों पर विचार किया गया है। इसमें बताया गया है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के रूप में मूलनय दो ही हैं। परन्तु नयों का अर्थनय और शब्दनय के रूप में भी विभाजन किया जा सकता है। नैगमादि नयों को इन्हीं नय के मूल दो भेदों में विभक्त किया गया है। इस प्रसंग में अकलंक के इस कथन से कि "निश्चय और व्यवहार नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के आश्रित नय हैं" निश्चय और व्यवहार की समस्या का समाधान हो जाता है। इस अध्याय के द्रव्यार्थिक नय नामक द्वितीय परिच्छेद में द्रव्यार्थिक नय की व्युत्पत्ति, स्वरूप, अर्थनय के रूप में उसकी मान्यता आदि के विचार-पूर्वक इसके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नयों की मीमांसा अन्य दर्शनों के साथ तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत की गई है। "पर्यायार्थिक नय" नामक परिच्छेद तृतीय मे पर्यायार्थिक नय की परिभाषा उसके भेद, शब्दादि नयों को पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत रखने के कारण शब्दादि नयों का स्वरूप आदि के प्रतिपादन पूर्वक इस अध्याय के अन्त में नयाभासों का भी विवेचन किया गया है।

प्रवचन अथवा आगम : "प्रमाणमीमांसा" नामक अष्टम अध्याय के दो परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। प्रथम परिच्छेद में प्रवचन का स्वरूप, उसकी प्रमाणता का आधार, विषयवस्तु, अधिगम के उपाय प्रमाण, नय, निक्षेप, श्रुत के उपयोग, प्रवचन का प्रयोजन एव फल आदि के बारे में लिखा गया है।

मुख्य और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मति, श्रुत आदि के प्रत्यक्ष और परोक्षत्व आदि से सम्बन्धित अकलंक की कुछ ऐसी व्यवस्था थी, जिसके कारण प्रतीत होता है कि अकलंक को स्वतंत्र रूप में प्रवचन प्रवेश लिखना पड़ा। जिसमें उन्होंने परम्परा से प्राप्त चिन्तन को विवेचित किया है। इसमें उन्होंने कहा है कि सर्वज्ञ, सिद्ध परमात्मा का अनुशासन ही प्रवचन है। आप्त की वाणी प्रवचन है। इस दृष्टि से प्रवचन या आगम की प्रमाणता का मुख्य आधार आप्त के गुण सिद्ध होते हैं। प्रवचन की यह परम्परा अनादिकालीन है और उसका विषय जीव-अजीवादि के अनेकान्तात्मक स्वरूप का प्रतिपादन है, जिसका प्रतिपादन स्याद्वादपद्धति से किया जाता है। उनके अधिगम के लिए प्रमाण, नय निक्षेप आदि साधन के रूप में माने गये हैं। इन सभी का उक्त अध्याय के प्रथम परिच्छेद में प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में श्रुत के स्याद्वाद और नय के रूप मे दो उपयोगों की चर्चा के साथ अत्यन्त आवश्यक होने के कारण अनेकान्तवाद का भी प्रतिपादन किया गया है। तत्पश्चात् लघीयस्त्रय के प्रवचन प्रवेश के आधार पर स्याद्वाद, नय, श्रुत, नय के भेद, निक्षेप का स्वरूप भेद एवं उसका प्रयोजन प्रवचन का फल एवं प्रवचन शास्त्र अभ्यास की विधि आदि का विवेचन किया गया है।

नि.सन्देह जैन न्याय और दर्शन की पर्याय के रूप में अकलंक को यदि माना जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि उन्होने ही सर्वप्रथम जैन दर्शन में अन्य दर्शनों में विकसित दर्शन और न्याय के समान जैनन्याय और दर्शन को संस्कृत भाषा मे निबद्ध कर लघीयस्त्रय जैसे महान् सूत्रात्मक ग्रंथों का प्रणयन किया। इन ग्रंथों मे उन्होंने ही परम्परा से प्राप्त चिन्तन को युग के अनुरूप ढांचे में ढालने के लिए सर्वप्रथम प्रमाण, प्रमेय, नय आदिकी अकाट्य परिभाषाएं स्थिर की तथा अन्य परम्पराओं मे प्रसिद्ध न्याय और तर्कशास्त्र के ऐसे बीज जो जैन परम्परा में नही थे, स्वीकार कर उन्हें आगमिक रूप दिया;

अन्त मे "उपसहार" है, जिसमें भट्टाकलक द्वारा जैन न्याय और दर्शन के क्षेत्र मे किये गये उनके अवदान का सक्षेप मे उल्लेख करते हुए शोध के निष्कर्षों का समावेश किया गया है।

परिशिष्ट मे सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एव भट्टाकलंक विषयक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित शोध लेखो की सूची प्रस्तुत की गयी है।

भारतीय दर्शनो में ऐतिहासिक दृष्टि से जैन न्याय को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने वाले भट्टाकलंक प्रथम आचार्य हैं, जिन्होने अपने तीन प्रकरणों वाले सूत्रशैली में निबद्ध लघु ग्रंथ "लघीयस्त्रय" मे जैन न्याय का तार्किक विवेचन किया है।

अकलंक और उनके लघीयस्त्रय विषयक उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम संक्षेप में कह सकते हैं कि

(शेष पृ० १७ पर)

नीतिकाव्य की अचर्चित कृति : 'मनमोदन पंचशती'

□ डॉ० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

प्रसिद्ध दिगम्बर जैन मन्दिर सोनी जी की नसियाँ अजमेर के शास्त्र भंडार में उपलब्ध 'मनमोदन पंचशती' अज्ञात कवि छत्रशेष की रचना है। ५०० कवित्त, सवैया और छप्पय छदो मे लिखित इस रचना में दर्शन, धर्म, भक्ति और श्रावकोचित आचार की सूक्तिया बोधगम्य, रोचक और सरल भाषा मे कही गई है।

ग्रन्थारम्भ में कवि ने तीर्थंकर ऋषभदेव की वदना नौ सवैया छंदों में प्रस्तुत करके अगले दस छदो में नवकार मंत्र का महत्व प्रतिपादित किया है। पुद्गल, आत्मा, सम्यक्त्व, पुनर्जन्म, कर्मबन्धन, मोक्ष आदि दार्शनिक विचारो को अधिक बोधगम्य बनाने के लिए कवि ने दृष्टान्त अलकार का व्यापक प्रयोग किया है। परद्रव्य मे आसक्त आत्मा के भटकाव की स्थिति मकड़ी, तोता, कुत्ता, पतंग के दृष्टान्तो से स्पष्ट की है और उसे दु:खदायी प्रमाणित किया है—

जैसें नद मकरी उगलि निज मुख तार,
आपु ही उलझि बहु दु:खी होय मरि है।
जैसे मूढ सुक गहि नलिनी को नीचो होय,
परि करि ग्रह्यो मानि पीजरा मे परै है।
जैसें कांच भोन स्वान भूसि भूसि तजै प्रान,
दीपक कौ हित मांनि पतंग जो बरै है।
तैसें यहु जीव भूलि अपनौं स्वभाव,
पर वस्तु अपनाय चहु गति दुख भरै है ।।१२२।।

भूत, वर्तमान, भविष्यत् तीनों कालो में सुखदायी धर्म की उपेक्षा करके विषयों में आसक्ति को कवि बहुत बड़ी मूर्खता मानते हैं। दृष्टान्तमयी शैली मे श्रावको के लिए उनका उद्बोधन इस प्रकार है—

जैसे कोई मूरख कनिक खेत वारि हेत,
काटत कलपद्रुम मन मैं सिहावतो।
जैसें कोई विष वेलि पोष पीयूष सींचि,
भसम के हेत मूढ़ रतन जलावतो।।
जैसें कांच खंड साटै मानिक ठगावै सठ,
मोतिन की माला पोत बदले गमावते।
तैसें वर्तमान भावी काल सुखदाय धर्म,
घाति के अयान मन विषै मे लगावतो ।।११८।।

श्रावक धर्म में 'रात्रि भोजन त्याग' और 'तप' की महत्ता प्रतिपादित करते हुए नीतिकार ने अहिंसा, अक्रोध, शील, दान, सत्य को अधिक ग्राह्य बतलाया है। शील के महत्व के विषय मे कवि की धारणा है—

सील तैं सरल गुन आप हिय वास करै,
सील तैं सुजस तिहुं जग प्रगटत है।
सील तै विघन ओघ रोग सोग दूर होय,
सील तै प्रबल दोष दुख विघटत है।।
सील तैं सुहाग भाग दिन दिन उदै होय,
पूरब करम बध दिननि घटत है।
सील सौं सुहित सुचि दीसत न आनि जग'
सील सब सुखमूल वेद यों रटत है ।।३९८

अपरिग्रह तथा त्याग को प्रधानता देने के कारण जैनाचार मे कृपणता को निंदनीय ठहराया गया है। नीतिकार छत्रशेष, निर्दयता, स्तेय, संशय, परनिन्दा, मायाचार, विश्वासघात, कुसंग आदि दुर्गुणों का मूलाधार कृपणता को मानकर उसे त्याज्य ठहराते हैं—

हिय न दया, नहीं असत वचन त्याग,
परधन परनारि की चाह चढ़ती।
मूरछा अपार पर औगन कथन प्यार,
लिए मायाचार, हिये लोभ लाग बढ़ती।
विसवासघाती, अनाचार पक्षपाती,
सदा दुर्जन संघाती उतपाती रीति अड़ती।
कृपन कृत घन अदेसक सुभाउ जाको,
ताकी करतूति की न ठीक कछू परती ।।१५३।।

जैनदर्शन और जैनाचार के मूल सिद्धान्तों को मधुर

आकर्षक और बोधगम्य शैली मे प्रतिपादित करने के अतिरिक्त छत्रशेष ने लोक-व्यवहार के महत्वपूर्ण पक्ष भी उजागर किए हैं। 'याचना' व्यक्ति की वाणी, मन, तन और बुद्धि को कितना तेजहीन कर देती है, इस विषय में छत्रशेष की मान्यता है—

जो बन गए प्रसूति, दूरि बास बसे प्रीति,
चित्रा स्वाति गये देह, दिष्ट न परत है।
तैसे गुन तेज मन बुद्धि लाज सनमान,
याचना करन दूरि देस विचरत है॥
गलभंग सुरहीन गात खेद भय सोच,
मरन चहन इस याचक धरत है।
याचना सम नहिं दीनता जगत अन्य,
मृतक समान दिन पूरन करत है॥१६६॥

वायदा करके उसे पूरा न कर सकने के दुष्परिणाम भारतीय चिन्तन परम्परा मे प्रचलित अवश्य हैं किन्तु नीतिकाव्य मे क्षत्रशेष ने ही इन्हे प्रभावक ढंग से प्रस्तुत किया है। वे चाहते है किसी से वायदा करने पर उसकी तुरन्त पूर्ति करना श्रेयस्कर है। भविष्य के लिए किसी के प्रति कोई वायदा थाती रूप मे रखना हानिप्रद हो सकता है तथा अपयश का कारण भी।

"दीजिए न वरदान, भूलि कभी काहूं ही कै,
दीजिए तो ततकाल कोस मे न रखिए।
कोस रखें पछै देन समैं दुख होय,
देय न तौ ओजस श्रवन द्वार चलिये॥
जो कदाचि दैव जोग नसि जाय विभौ कहूं,
तौ वचन बध कीचक भूड़भषिये।
पूरब अनेक नृप जसरथ आदि मन,
घने पछिताये रोष राखि श्रुत लखिए॥१६८॥

कृषि, वाणिज्य, धर्मसाधना विषयक सभी कृत्य अवसरानुकूल ही सम्पन्न होते है। ऐसी मान्यता क्षत्रशेष की है—

जो किसान कृषि समैं कृषि साधन को छोडि,
कुसमय बीज बोये फल न लहत है।
जो बनिक बानिक के समैं करैं आंन काज,
बानिज बिनां धन लाभ को गहत है॥
तो अयान धर्म समैं धर्म साधन को तजि,
सेय विषै सुख बहु संकट सहत है।
निज निज समैं सब कारज सफल जान,
बुध समैं गगन मे उदित रहत है॥३१४॥

किसी भी कार्य को यथावसर करने की तत्परता आवश्यक मानते हुए भी क्षत्रशेष ने जल्दबाजी अथवा 'आकुलता को कोई महत्व नही दिया। अवसरानुकूलतायें यदि किसी कार्य की सफलता है तो आकुलता मे उसका बिगाड़ भी। दोनो विपरीत स्थितियो मे समन्वय ही व्यक्ति की चतुराई है। उतावलापन, क्रोध, अदया आदि का कारण भी है।

क्रोध महा रिपु वपु उदित ही नास करैं,
जैसें दव दारू पैठि दहै तत छिन है।
दयालता मूल उनमूलन कुदाल सम,
अदया बबूल द्रुम पोषन को घन है॥
स्याम सर सोखन कौं वृषभान तेज सम,
दुर्गति गमन द्वार दुख द्रुम वन है।
अनरथ हेत बहु ओगुनि निकेत,
अति आकुलता खेत त्यागि करैं बुधजन है॥२६७॥

वृद्धावस्था आने पर व्यक्ति स्वजन, परिवार और समाज से उपेक्षा पाते हुए भी उनमे निरन्तर आसक्ति रखता है। ऐसे व्यक्ति पर 'धनि तेरी छाती' कहकर व्यग्य करते हुए छत्रशेष ने वृद्धावस्था का कुत्सित चित्र प्रस्तुत किया है—

प्रथम कलेस मूल तन सनबंध तेरैं,
बात पित्त कफ आदि बहु रोग घर है।
पीड़ो क्षुधा तृषा सीत उष्ण को न धरै धीर,
कुसित कूं गध अपवित्र मलधर है॥
सुभ असुभ मह विवृद्धि पाप कर्मफल,
उदै रूप तेरे हर दम दुषकर है।
स्वजन सघाती, परमारथ के घाती,
अरे धन्नि तेरी छाती ये तैं परप्रीत वर है॥

दर्शन एव आचार विषयक नीति तत्त्वो के विशाल ग्रंथ 'मनमोदन पंचशती' के कतिपय उद्धरणों से यह प्रमाणित है कि रीतिकाल का अज्ञात कवि क्षत्रशेष रहीम, वृन्द आदि सूक्तिकारों के समान ही भारतीय समाज का प्रकाश स्तभ है।

११०-ए रणजीतनगर, भरतपुर

भ० पार्श्वनाथ के उपसर्ग का सही रूप

☐ क्षुल्लक चित्तसागर जी, एम. ए., एल-एल. बी.

पद्मावती देवी की मूर्ति देखने से मन मे कई शंकाएं उत्पन्न हुई थीं। बिहार में अनेक मन्दिरों मे और अनेक तरह की पद्मावती की मूर्तियां देखने को मिली तब शंकाएं और पक्की बनीं। मुझे लगता है कि जानबूझकर ही ऐसी मूर्तियां बनवाई गई हैं। और अब वे खूब प्रचलित हो गई हैं। इसलिए प्राचीनत्व प्राप्त कर एक आराध्य का स्थान लेकर बैठ गई हैं। मूर्ति में औचित्य और सहीपना कितना है वह भी विचारणीय है। स्वाध्याय मे अभी तक पांच-छः प्रमाण मुझे मिले हैं। जो यह मूर्ति के स्वरूप में, गड़बड़ है ऐसा सिद्ध करते हैं।

प्रथम प्रमाण है भावि—तीर्थंकर बनने वाले समर्थ तार्किक आचार्य समन्तभद्र स्वामी का, जिसमे पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति मे शब्द है।

"बृहत्फणा-मण्डल ········तडिदम्बुदो यथा" (२)

मूल श्लोक अर्थ :—उपसर्ग से युक्त जिन पार्श्वनाथ भगवान को धरणेन्द्र नामक नागकुमार देव ने चमकती हुई बिजली के समान पीली कान्ति से युक्त बहुत भारी फणामडल रूपी मडप के द्वारा उस तरह विष्टित कर लिया था जिस तरह कि काली सध्या के समय बिजली से युक्त मेघ पर्वत को वेष्टित कर लेता है। श्लोक मे जो कुछ किया वह धरणेन्द्र ने किया है। पद्मावती का नाम निशान नहीं है। जब आज मूर्ति मे धरणेन्द्र अलोप हो गया है मात्र पद्मावती ही दिखती हैं।

दूसरा प्रमाण है आचार्य सकलकीर्ति जी के "पार्श्व चरित्र" के पृष्ठ ७२५ पर लिखा है—"ऐसा विचार कर धरणेन्द्र पृथ्वी का भेदन कर अपनी स्त्री के साथ शीघ्र ही जिनराज के समीप जा पहुंचा ॥८२॥ तीन प्रदक्षिणा देकर धरणेन्द्र तथा पद्मावती ने भगवान को नमस्कार किया ॥ ८३॥ तदनन्तर धरणेन्द्र शीघ्र ही भगवान की बाधा दूर करने के लिए उन्हें देदीप्यमान फणाओं की पक्ति द्वारा पृथ्वी से उठाकर खड़ा हो गया। और उन्हें ऊपर पद्मावती देवी अपनी भक्ति से उन्नत सघन वज्रसदृश तथा जल के द्वारा अभेद फणमंडप तानकर सजग हो गई ॥८५॥ यह अनुवाद ख्यातनामा पंडित पन्नालालजी साहित्याचार्य का है। इसलिए पूर्ण विश्वसनीय है। इस पाठ मे स्पष्ट है कि धरणेन्द्र ने अपने फणो द्वारा भगवान को उठाया। जब आज की बनी मूर्तियों मे धरणेन्द्र दिखता ही नही है।

तीसरा प्रमाण है पूज्य ज्ञानमती माताजी, हस्तिनापुर का। उन्होंने भगवान पार्श्वनाथ की दो स्तुति बनाई है। मूल संस्कृत पद्य का हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार से है—दोनों में भाव एक समान है। वीर ज्ञानोदय ग्रथमाला—हस्तिनापुर का प्रकाशन "सामायिक" का पृ० ११६ पर अनुवादित श्लोक है।

"हे जिन! तेरी भक्ति भारवश से धरणेन्द्र झटिति आकर,
तप-उपसर्गकाल मे शिर पर फण को छत्र किया सुखकर।

इसमे धरणेन्द्र ने छत्र किया ऐसा कथन स्पष्ट है। तदुपरान्त इस पुस्तक के पन्ने १११ पर श्लोक है :

पुण्योदय से फणपति आसन कपा, पद्मावती के साथ।
आकर फण का छत्र किया प्रभु शिर पर वदूं पारसनाथ॥

इसमें भी धरणेन्द्र छत्र किया और पद्मावती तो मात्र साथ आई थी ऐसा वर्णन है।

चौथे प्रमाण में पडित भूधरदास का पार्श्वपुराण (प्रकाशन १७८९) पन्ना १२५ पर कथित है :

तब फेनसे आसन कंपियो, जिन उपकार सकल सुधिकर कियो।
ततखिन पद्मावती ले साथ। आयो जहूँ निवसैं जिननाथ॥४३
करि प्रनाम परदछना दई। हाथ जोरि पद्मावती नई।
फनमडप कीनो प्रभु शीस। जलधारा व्यापै नही ईस॥४४॥

इसमें भी पद्मावती ने कुछ नही किया, मात्र वह अपने स्वामी के साथ आई थी।

पचम प्रमाण :—आचार्य सुधर्मसागरजी द्वारा रचित

चतुर्विंशति की स्तुति मे भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति श्लोक नं० १० :—

इस स्तोत्र में भी धरणेन्द्र ने फण किया ऐसा अर्थ निकलता है :—

छठा प्रमाण :—

दैत्य कियो उपसर्ग अपार, ध्यान देखि आयो फनिधार।
गयो कमठ शठ मुखकरि श्याम, नमो मेरु समान पारसस्वाम।

—द्यानतराय

इसमें भी पद्मावती का नामनिशान नही है। फनिधर का सातमा प्रमाण है—कलकत्ता से प्रकाशित प० पन्नालाल साहित्याचार्य से अनुदित "चौबीस पुराण पन्ना २३६ (पीछे देखें)। अपने उपकारी पार्श्वनाथ के ऊपर होनेवाला घोर उपसर्ग का वृत्तात जान लिया। तत्क्षण में वे दोनों घटना स्थल पर पहुचे। और उन दोनो ने उन्हें अपने ऊपर लिया। और उनके सिर पर फणावली का छत्र लगा दिया जिससे उनके ऊपर पानी की बूद भी गिर न सकती थी।

इसमे मात्र पद्मावती ने फन ताना और भगवान को उठाया ऐसा वर्णन नही है। जो आज प्रतिमा मे दर्शित है।

दोनो शब्द से दो फण होना चाहिए। किन्तु फण तो एक है। इसलिए पद्मावती मात्र अनुमोदक ठहरती है।

आगम मे लिखा है कि भगवान पर ज्योतिषदेव ने जब उपसर्ग शुरू किया तो धरणेन्द्र का आसन कपायमान हुआ। वह अपनी सगनी को लेकर दौड़ता आया और पुरुषोचित कार्य करके उसने अपना पुराना उपकार का बदला चुका कर वापिस चले गए थे।

सामान्यत: ऐसे कार्य पुरुषवर्ग ही करते हैं। स्त्री वर्ग तो थोड़ी सहाय करती है या अनुमोदन देती है। किन्तु आश्चर्य है कि ऐसे प्रमाण होते हुए धरणेन्द्र को भुलाकर पद्मावती को ही प्रमुख व्यक्तित्व अर्पित किया है। पद्मावती की कई मूर्तियो मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा देवी की चोटी जैसी लगती है। क्या देवाधिदेव का यह अपमान अवर्णवाद नही है। मुनिराज आर्यिका से भी ५-७ हाथ दूर रहे ऐसा विधान होते हुए पद्मावती-सी पर्यायी ने महाव्रती मुनिराज पार्श्वनाथ को उठाकर अपने सिर पर कैसे बिठाया और उसमे क्या कोई प्रकार का औचित्य है? समझ में नही आता, ऐसा भद्दा और विचित्र विकल्प मूर्तिकारो को कैसे आया? उनका प्रेरक कौन रहा होगा? उसमे क्या कोई बुद्धिमानी है या स्टंटरूप फरेब कार्य है? पर सब विचारणीय है।

प्राचीन समय से चलता है इसलिए उसको पूज्य मानना यह भी दलील हृदय को चुभती है। ये प्रमाणो से लगता है कि मूर्ति निर्माण मे जानबूझकर ही कुछ गड़बड़ की गई है। आज पार्श्वनाथ का तो नाम है बोलवाला पद्मावती का है। इनके स्वतन्त्र मन्दिर भी निर्माण हुए हैं। पद्मावती भवनवासी देवी है जबकि पार्श्वनाथ देवाधिदेव हैं सिद्ध परमात्मा है। नाममात्र पार्श्वनाथ और काम पूरा पद्मावती का? आज भौतिकवाद मे पैसे को परमेश्वर का स्थान ऐसी पूजा भक्ति से प्राप्त हो गया। लोभी, लालची श्रावक सही-न-सही [गलत] भेद जानता नही है। वह तो भक्ति द्वारा धन, वैभव ससारसुख चाहता है, वह बिना मिथ्यात्व तथा अयोग्य विनय के कारण शक्य नही है। किन्तु कौन ऐसे पापी जीवो को बोध करावे? अस्तु।

विजयनगर
गुजरात

(पृ० १३ का शेषांश)

लघीयस्त्रय भट्टाकलंक का एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है, जिस पर किया गया मेरा यह दार्शनिक अध्ययन एक लघु प्रयास है। हम समझते हैं कि जैन न्याय और दर्शन को समझने के लिए यही एक ग्रंथ पर्याप्त है। अब आवश्यकता इस बात की है कि भट्टाकलक के ग्रथों का राष्ट्रभाषा में प्रामाणिक अनुवाद हो, जिससे संस्कृत न जानने वाले समीक्षक जैन न्याय और दर्शन का मूल्यांकन करके भारतीय न्यायशास्त्र के इतिहास मे भट्टाकलक एव उनके अवदान का निर्धारण कर सकें।

□□

युवाचार्य महाप्रज्ञ के "जैन शासन की एकता : आचार की कसौटी" निबन्ध पर हमारा अभिमत

□ श्री सुभाष जैन
महासचिव : वीर सेवा मन्दिर

[सम्पादकीय नोट—श्वेताम्बर तेरापंथी साधु महाप्रज्ञ जी द्वारा लिखित उक्त शीर्षक निबंध प्रतिक्रिया, समालोचना निष्कर्ष के लिए वीर सेवा मन्दिर को मिला था। महाप्रज्ञजी के उक्त निबंध का आशय है कि यदि दिगम्बर जैन साधु के मूलगुणों को मूलगुण न मान, नियमरूप में मान लें। (जो परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते है) तो एकता का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। यानी सभी पथ के श्रावक, सभी पथ के साधुओं को साधुरूप मे स्वीकार कर लें, आदि उनके लेख के कुछ प्रसग इस भांति हैं :—

१. श्वेताम्बर परपरा मे मूलगुण पांच हैं दिगम्बर परम्परा मे मूलगुणों की संख्या अट्ठाईस हैं—यह भेद एक विचिकित्सा उत्पन्न करता है। २. "आचार्य भद्रबाहु ने मुनि स्थूल भद्र को वेश्या की चित्रशाला मे चतुर्मास बिताने की आज्ञा दी यह व्यक्ति सापेक्ष परिवर्तन है।" ३. भोजन एक ही बार करना, यह नियम है। यदि किसी की सामर्थ्य न हो तो दो बार भोजन करने में क्या बाधा है? ४. हाथ का पात्र के रूप में उपयोग करना एक सीमा का निर्धारण है। ठीक उमी प्रकार हाथ और पात्र— दोनो का उपयोग करना सीमा का निर्धारण है। ५. यदि पात्र रखना मूर्च्छा या परिग्रह है तो कमण्डलु रखने मे मूर्च्छा या परिग्रह क्यो नही? ६. एक स्थविर मुनि पादुका पहिन सकता है। ७. श्वेताम्बर और दिगम्बर सब मुनि चिकित्सा कराते है। ८. भगवान पार्श्व और भगवान महावीर की परम्परा मे आचार विषयक भेद बहुत था, आदि।

उक्त सभी प्रसगो को लेखक ने गहराई से विचार कर अभिमत दिया है। पाठक देखें—सम्पादक]

इस ससारी जीवन की आचार की कसौटी का माप प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार के परिग्रह से मुक्तता की मात्रा है। परिग्रह से मुक्तता का साधन रागद्वेष का परिहार है। राग-द्वेष के परिहार का माप आचार से किया जाता है—जिस मात्रा मे आचार मे शुद्धि आती है, उसी मात्रा मे परिग्रह से मुक्ति परिलक्षित होती है और हम उसे भौतिक इन्द्रियो से ज्ञात करते हैं। अन्यथा, बाह्याचार के बिना चाहे जो भी स्वयं को वीतरागी घोषित कर देगा और उसके निषेध के लिए हमारे पास कोई माप-दण्ड नही होगा। इसीलिए आचार के श्रावक और मुनि जैसे दो भेद किये गये है। प्रत्यक्ष मे मुनि परमेष्ठी श्रेणी मे होने से परिग्रह का भी त्यागी है और उसके अठ्ठाईस मूलगुण है। ये मूलगुण आजीवन होने से यम ही होते है - ये नियम की कोटि मे नही आते जिन्हें बदला जा सके। श्रावक के परिग्रह-परिमाण आदि के रूप में अनेक व्रत होते हैं और उनमे ग्यारह प्रतिमाओ का विधान किया गया है—ये सब नियम की कोटि में आते है। साधु के यम रूप अट्ठाइस मूलगुणों मे जो न्यूनाधिक रूप-नियम की बात करते हैं, वे साधु की कोटि में न आकर श्रावक की कोटि मे आ सकते हैं, बशर्ते उनकी आहार-विहार आदि क्रियायें आगमानुकूल मर्यादित व शुद्ध हों जैसे ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक आदि के पद।

यद्यपि दर्शनाचार आदि पाँचों आचार मुख्य हैं और चारित्राचार मे भी दर्शनाचार मूल है। फिर भी महाप्रज्ञ जी का संकेत चारित्राचार के विषय पर चर्चा करना मुख्य है। सो चारित्राचार दो रूपों में है—मुनि रूप और श्रावक रूप। मुनि-पद यम रूप है और श्रावक पद नियम रूप। दि० मुनि २८ मूलगुणो के साथ अपनी परम विशुद्धि के लिए

उत्तर गुणों का पालन करता है और ये उतर-गुण मूल-गुणों से उत्पन्न होते हैं जैसे मूल से वृक्ष और शाखाएँ उत्पन्न होती हैं। कहा भी है—

"मूलगुणापेक्षया उत्तरभूताः गुणा वृक्षशाखा इव उत्तर-गुणा :— अभिधान राजेन्द्र २/७६३

फलत :—उत्तरगुणों से मूलगुणों में परिवर्तन लाने की बात नितान्त भ्रामक और आगम विरुद्ध है और एकाहार जैसे मूलगुण को उत्तरगुण की कोटि में रखना भी सर्वथा दिगम्बर मान्यता के विरुद्ध है।

ब्रह्मचर्य की साधना हेतु भद्रबाहु जैसे आचार्य द्वारा स्थूल भद्र को वैश्या की चित्रशाला में चातुर्मास बिताने की आज्ञा दिये जाने को हम प्रामाणिक नहीं मानते हैं क्योंकि भद्रबाहु परम्परित आचार्य थे उनकी चर्या और आज्ञा परम्परित और आगमानुकूल होना हमें इष्ट है। वेश्या की चित्रशाला में रहना लोकनिन्द्य और ब्रह्मचर्यव्रती श्रावक तक को वर्जित है, तब यह कार्य किसी साधु को कैसे इष्ट-सिद्धि करा सकता है? हमारी दृष्टि से ऐसा आदेश अप्रामाणिक है। क्या वर्तमान में कोई आचार्य किसी साधु को वेश्या के घर में चातुर्मास करने की आज्ञा देता है या स्वयं चातुर्मास कर सकता है?

"लोभकषायोदयाद्विषयेषु संगः परिग्रहः (मूर्च्छा)" के परिप्रेक्ष्य मे दिगम्बर साधु पूर्ण अपरिग्रही होते हैं और श्रावक के घर में उनका एक बार कर-पात्र में आहार लेना भी इसका प्रमाण है। इससे उनकी इन्द्रिय-विषय की लालसा रूप लोभ की निस्पृहता प्रकट होती है जबकि श्वेताम्बर साधुओ में इन्द्रिय विषयो में लालसा बढ़ाने वाली पात्र मे आहार लाने, उसे वसतिका मे लाकर रखने की प्रवृति है, उससे अनेक बार आहार लेने की प्रवृत्ति का उदय हुआ है। यदि पात्र रूप परिग्रह नहीं होता तो भोगोपभोग रूप आहार का संचय न होने से इन्द्रिय विषय का लोभरूप परिग्रह न होता। इसलिए साधु को कर-पात्र में श्रावक के घर एक बार आहार लेना ही उचित है और ऐसा अपरिग्रह ही मुनि की प्रामाणिकता का परिचायक है।

कमण्डलु, भोगोपभोग की सामग्री लाने-ले जाने, संचय व खान-पान का साधन न होने से परिग्रह की सज्ञा में नही आता। वह केवल शुद्धि का उपकरण है—उसे परिग्रह रूप पात्र के समकक्ष मानना घोर अज्ञानता है। उक्तं च—"न विद्यते धर्मोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पो पि परिग्रहो यस्य सः तथा"। अभि० रा० १/६००

"संभावना की दृष्टि : संदर्भ वस्त्र प्रक्षालन" शीर्षक अंश श्वेताम्बर साधुओ का उनका अन्तरंग विषय है। इससे हमे प्रयोजन नहीं है।

"कसौटी से संयम" शीर्षक मे जो लिखा है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि आपकी नियम विषयक मान्यता ही गलत व भ्रमोत्पादक है। दिगम्बरों मे एकाहार मूलगुण रूप है और आप उसे सामर्थ्य न होने पर दो-तीन बार भोजन ग्रहण को नियम' मे बांधते है। 'स्मरण रहे यहा ग्रहण मे "नियम" शब्द का प्रयोग नही है। अपितु "त्याग' मे है। कहा भी है—

"कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः"— सर्वार्थ.

दिगम्बर परम्परा मे मुनि को औद्देशिक आहार का विधान नही है और ईर्यापथ-शुद्धि व अपरिग्रह का घातक होने से पादुका-ग्रहण का भी विधान नहीं है।

उन्हें श्रावक गण प्रतीकार योग्य रोग के निवारण हेतु, शुद्ध काष्ठादिक औषधियां आहार के समय देते हैं। वे परीषहजयी होने से अन्यों की भांति साधुओं को यद्वा-तद्वा अभक्ष्य, अज्ञात औषधियों का प्रयोग नहीं कराते व साधु भी अस्पतालो मे भर्ती नही होते और ना ही अपने आरोग्य प्राप्ति हेतु श्रावको से औषधि व उपचार की व्यवस्था की याचना करते हैं। एवं निष्प्रतीकार योग्य रोग से ग्रसित होने पर समाधिमरण की आराधना करते हैं।

भगवान महावीर निर्ग्रन्थ व निर्वाण पर्यन्त नग्न थे, यह सभी जैन सम्प्रदाय स्वीकारते है और यह महावीर का शासनकाल है। फलत.—हमें महावीर की परम्परा इष्ट है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि एक तीर्थङ्कर का शासनपूर्ण होने पर ही दूसरे तीर्थंकर का आविर्भाव होता है, फलतः महावीर के शासन मे पार्श्वपत्यीय सवस्त्र केशी की उपस्थिति व उनके साथ गौतम गणधर का संवाद बताना अप्रामाणिक और शिथिलाचारियो द्वारा सवस्त्र दीक्षा और अन्य शिथिलताओं के परिपुष्ट करने का छल मात्र है।

दिगम्बर साधु के २८ मूलगुण अपरिवर्तनीय होते हैं, ऐसा जानते हुए भी महाप्रज्ञ ने दिगम्बर-मान्य यम-रूप मूल गुणों को नियम की कोटि मे रख कर एकता के नाम पर दिगम्बर सिद्धान्त पर सीधा प्रहार किया है—इसका हमें खेद है। महाप्रज्ञ शिथिलाचार का पोषण कर रहे हैं जो हमें स्वीकार नही। वे यह क्यों भूल जाते है कि दिगम्बर कभी भी वस्त्र सहित को साधु के रूप मे नही स्वीकारेंगे और उनके (महाप्रज्ञ के) साधु वस्त्र रहित होने को तैयार नही होंगे। ऐसी स्थिति में साधु-रूप की अपेक्षा, दोनों की एकता की बात सर्वथा असभव ही नही अपितु विसंवाद की चिंगारी है।

यह सर्वविदित है कि स्थानकवासी साधु श्री कानजी स्वामी ने दिगम्बर आचार व आगम से प्रभावित होकर आजीवन दिगम्बर धर्म का प्रचार-प्रसार किया। इसके बावजूद, वे महाप्रज्ञ जी की अपेक्षा विशुद्ध आहार एक बार लेते हुए भी अपने को अव्रती-श्रावक की कोटि मे मानते थे और सदा निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओ को परमेष्ठी स्वीकार कर उन्हीं के गुणो में भक्ति प्रदर्शित करते रहे। फिर भी दिगम्बराम्नायियो ने उन्हें व्रतीश्रावक या साधु परमेष्ठी के रूप मे स्वीकार नही किया। तब वे महाप्रज्ञ के लेख में प्रतिपादित नामधारी साधुओं को परमेष्ठी के रूप में कैसे स्वीकारेंगे ?

यदि महाप्रज्ञ जी शुद्ध हृदय से एकता चाहते हैं तो महावीर से परम्परित दिगम्बर साधु को परमेष्ठी रूप में स्वीकार करें-करायें: अपने आचार-विचार खान-पान में दिगम्बर आगम-वर्णित श्रावकाचार का पालन कर, अपने को श्रावक की कोटि मे उद्घोषित करें तब एकता का प्रयास सम्भवत: आगे बढ़ सके।

एक सलाह और। महाप्रज्ञ जी दिगम्बर आगमों में वर्णित श्रावक और मुनि के आचार का निष्पक्ष भाव एव गहराई से अध्ययन करे—सम्भवत: उनको सम्यक बोध का मार्ग मिल सके। दिगम्बर साधुओ मे २८ मूलगुण और अन्य उत्तर गुण आत्म-विशुद्धि के लिए ही हैं। **साधु की चर्या को आगम के परिप्रेक्ष्य में ही देखना चाहिए—तोड़-मरोड़ कर या कौन, कब, कैसा, क्या कर रहा है, इस दृष्टि से मूल चर्या को देखना उचित नहीं।** हमारा उद्देश्य शिथिलाचार को रोकना होना चाहिए उसे बढ़ावा देना नही। महाप्रज्ञ जी को अभी भी कोई जिज्ञासा हो तो हमसे सम्पर्क कर लें। कहा भी है—"आगमचक्खू साहू।"

धण-धण्ण-वत्थदाणं हिरण्ण-सयणासणाइ छत्ताइं।
कुद्दाण-विरहरहिया, पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ बोधपा० ४६॥
तिल ओसत्तणिमित्तं, सम वाहिरगंथसंगहो णत्थि।
पावज्ज हवइ एसा, जह भणिया सव्वदरसीहिं॥ बोधपा० ५५॥

'वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥' प्रव० ३, ८-९॥

संस्कृत के जैन सन्देश काव्य

□ कु० कल्पना देवी जैन

संस्कृत-साहित्य मे कतिपय परम्पराओ का पल्लवन होता रहा है। इनमे सन्देश काव्य परम्परा भी एक है। कवियों द्वारा किसी को दूत बनाकर विरहणियों के सन्देश को प्रेषित किया गया है। आदि कवि बाल्मीकि ने पवन-सुत हनुमान को राम का दूत बनाकर सीता के पास भेजा था। कदाचित् इसी से कल्पना ग्रहण कर कालिदास ने मेघ को दूत बनाकर किसी यक्ष के द्वारा यक्षिणी के पास सन्देश भिजवाया। यही सन्देश काव्य "मेघदूत" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बस क्या था इसी को आधार बनाकर दूत काव्य अथवा सन्देश काव्य परम्परा चल पड़ी। इस परम्परा का अनुसरण धोयी पवनदूत आदि काव्यों द्वारा किया गया।

इस सन्देश काव्य परम्परा को जैन कवियों ने भी अपनाया। जम्बू कवि का चन्द्रदूत पवनदूत से भी प्राचीन काव्य है। अन्य जैन कवियों ने सन्देश काव्य परम्परा का अनुसरण करते हुए अनेक सन्देश काव्य लिखे। सन्देश काव्यों की एक दिशा नवीन भावो तथा विषयो के वर्णन की ओर प्रवाहित हुई। जैन कवियो ने अपने दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों की अभिव्यन्जना के लिए सन्देश काव्य का आश्रय लिया। प्रेम सन्देश के स्थान पर इन नवीन काव्यो मे आध्यात्मिक उन्नति के विषय मे सन्देश प्रेरित किया गया है। इन सन्देश काव्यो मे जैन दर्शन के आध्यात्मिक तत्व का निरूपण काव्य की सरल भाषा मे हुआ है। इनमे सांसारिकता का पुट बहुत कम मिलता है। सांसारिक विषय रागों का वर्णन केवल मात्र आध्यात्मिक तत्व की महत्ता को दर्शाने हेतु ही किया गया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "संस्कृत के जैन सन्देश काव्य" भी सन्देश काव्य परम्परा में लिखे गये जैन सन्देश काव्यों के सौन्दर्य विश्लेषण करने हेतु लिया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत सन्देश काव्यो का सामान्य परिचय देते हुए सन्देश काव्य-परम्परा पर प्रकाश डाला गया है। कालिदास द्वारा रचित "मेघदूत" सस्कृत साहित्य की वह अनुपम कृति है जिसके द्वारा सन्देश काव्य परम्परा को सुदृढता प्राप्त हुई है। इसी अनुपम कृति को अपना प्रेरणा स्रोत मानकर जैन कवियो ने जैन सन्देश काव्यो की रचना की। इन काव्यो मे सन्देश काव्य-परम्परा को एक नया मोड दिया गया है। मेघदूत का अनुसरण शील होते पर भी ये काव्य सांसारिकता एवं मोह-माया को किंचित्मात्र स्थान नही देते। तप के द्वारा प्राप्त चरम सत्य को इन काव्यों मे विशेष स्थान प्राप्त है। इन्ही विशेषताओं का उल्लेख प्रथम अध्याय मे किया गया है। मोक्ष प्राप्ति की प्रेरणा एवं श्रमण संस्कृति का निर्वाह इन काव्यो की मुख्य विशेषताओ में आते है। इस प्रकार प्रथम अध्याय के अन्तर्गत सन्देश काव्यो का सामान्य परिचय, जैन सन्देश काव्यो का मूल स्रोत एव विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत अध्ययन के विषय क्षेत्र को बताया गया है।

द्वितीय अध्याय मे जैन सन्देश काव्यो के ग्रन्थो का परिचय एव सक्षिप्त कथा को प्रस्तुत किया गया है। इन जैन सन्देश काव्यो की कथावस्तु एक ही तत्व पर जोर डालती है और वह है मोक्ष। इन काव्यो का नायक प्रारम्भ में तो सांसारिक सुखो का उपभोग करता है परन्तु किसी कारण वश उसे सांसारिक मोह-माया से विरक्ति हो जाती और वह संसार के भोग विलासों से विरक्त होकर तप मे लीन हो मोक्ष प्राप्ति करता है। जैन सन्देश काव्यों का पहला उद्देश्य है जीवन के चरम सत्य मोक्ष से परिचित कराना। समस्त सांसारिक मोह विलास क्षण विध्वंसी है। सच्चा सुख इन सांसारिक बन्धनों का त्याग एव मोक्ष प्राप्ति में है। इसी आध्यात्मिक तथ्य को पाठक जनो

समक्ष प्रस्तुत करते हुए इन काव्यों में श्रमण संस्कृति का निर्वाह किया गया है। श्रमण संस्कृति से परिचित कराना इन जैन सन्देश काव्यों का दूसरा उद्देश्य है। मेघदूत के सदृश ही इन काव्यों मे भी सन्देश प्रेषित किया गया है। परन्तु इनके सन्देशों में विरहव्यवस्था एवं वियोग शृंगार के साथ-साथ आध्यात्मिकता को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। नायक-नायिका को आध्यात्मिक उन्नति का सन्देश देते हुए सांसारिक चीजो के प्रति मोह को दूर करता है। अतः इस अध्याय में जैन सन्देश काव्यो के सन्देशों का विवेचन करते हुए वर्णित सन्देशों के स्वरूप को बताया गया है। विशेषतः इन काव्यों में वर्णित सन्देशो में आध्यात्मिकता का पुट मिलता है। नायिका के विरह सन्देश को भी कवि ने आध्यात्मिक सन्देश की महत्ता को दर्शाने हेतु ही प्रस्तुत किया है। प्रकृति का अतीव सजीव चित्रण यहां उपलब्ध है। इसी अध्याय के अन्तर्गत जैन सन्देश काव्यो में प्रयुक्त सूचित पदो को भी दर्शाया गया है। इस प्रकार द्वितीय अध्याय मे जैन सन्देश काव्य परम्परा का निर्वाह करते हुए जैन सन्देश काव्यो के ग्रन्थो का परिचय, संक्षिप्त कथा, उद्देश्य, सुभाषित, सन्देश एवम् प्रकृति चित्रण को प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में जैन सन्देश काव्यों की काव्यगत विशेषताओं का उल्लेख किया है। इस अध्याय में सत्य, क्षमा, त्यागादि आध्यात्मिक मूल्यों का विश्लेषण कर काव्यो की पृथक्ता एवं मौलिकता को दर्शाया गया है। मोह विलासो से दूर इन काव्यो का नायक सत्यादि मूल्यों का पालन करते हुए अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। सत्य के स्वरूप को जैन कवियो ने सच बोलने की अपेक्षा जीवन के वास्तविक सत्य मोक्ष के रूप मे प्रतिपादित किया है। नायक सत्यवादी तो है ही साथ ही साथ जीवन के चरम सत्य को भी भली भाति जानता है। सत्य के समान ही क्षमा, दया, अहिंसा आदि तत्वों को भी विशेष स्थान प्राप्त है। इसके अतिरिक्त परमार्थ को इन काव्यों मे विशेष महत्व दिया गया है। सत्यादि तत्वों का स्पष्ट रूप नायक के व्यक्तित्व मे स्पष्ट झलकता है। अमूर्त विषयो को मूर्त रूप मे दर्शाना इन काव्यों के कवियो की बुद्धि चातुर्य का प्रतीक है। शीलदूत काव्य मे शील जैसे अमूर्त विषय से प्रभावित होकर नायिका समस्त मोह विलासों का परित्याग कर तप मार्ग का अनुसरण करने लगती है। क्षमावान होने के कारण नायक अपने मार्ग में आई हुए बाधा को दूर कर देता है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। परमार्थ तत्व का विश्लेषण करते हुए बताया गया है कि जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। केवल यही एक सत्य है। शेष सभी सांसारिक सुख असत्य हैं। प्रकृति चित्रण के अन्तर्गत इस अध्याय में प्रकृति को विभिन्न रूपों में प्रदर्शित किया गया है। आवलम्बन, उद्दीपन, मानवीकरण, संश्लिष्ट, उपदेश एव नामपरिगणन आदि सभी रूपों में जैन कवियों ने प्रकृति का चित्रण किया है।

चतुर्थ अध्याय में जैन सन्देश काव्यों की शैलीगत विशेषताओं का अध्ययन किया गया है। अन्तरंग एवं बहिरग दोनों ही दृष्टि से विभाजित कर काव्यतत्वों का विश्लेषण किया गया है। अन्तरग तत्वों के विश्लेषण में रस, ध्वनि एवं गुणीभूत व्यग्य का विवेचन है। करुण एवं शांत रस दोनों का वर्णन इन काव्यों में किया गया है। गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत अगूढ व्यङ्ग्य सन्दिग्ध प्रदान व्यङ्ग्य, असुन्दर व्यङ्ग्य एव अस्फुट व्यङ्ग्य का विवेचन किया गया है। ध्वनि का भी इस अध्याय में पूर्ण रूपेण विवेचन किया गया है। श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक आदि अलङ्कारों की सुन्दर योजना की गई है। माधुर्य, ओज एवं प्रसाद आदि गुणों को भी इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है। रूढ़ि, योग, योग रूढ़, लक्षणा, लक्षण, लक्षणा, रूढि लक्षणा एव व्यन्जना शक्ति आदि को भी स्पष्ट किया गया है। मन्दाक्राता छन्द मे निबद्ध कुछ श्लोकों के उदाहरण को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

पचम अध्याय मे पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये जैन सन्देश काव्य अपना पृथक् महत्व रखते हैं। पार्श्वनाथ जैसे महान चित्रण को चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त शम्बर, नेमिकुमार, राजुलमति, स्थूलभद्र, कोशा, विजयर्माण एवं वसुन्धरा के चरित्र को भी चित्रित किया गया है। पार्श्वनाथ, नेमिकुमार एवं स्थूल भद्र का चरित्र एक महान पुरुष के रूप

में चित्रित है। क्षमा, त्याग, अहिंसा, धैर्य आदि इनके व्यक्तित्व की मुख्य विशेषताएँ हैं। ये दार्शनिक चिन्तन में लीन दिखलाई पड़ते है। तपस्वी के रूप मे चित्रित इनका चित्रण एक ऐसे महान् चित्रण के रूप में चित्रित है जो तप एव योग साधना मे रत उस आध्यात्मिक तत्व की प्राप्ति का इच्छुक है जिसे मोक्ष कहते है। काव्यान्त में मोक्ष प्राप्त कर नायिका को भी दीक्षा दान देते हैं। राजुलमति, कोशा एवं वसुन्धरा को एक विरहणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन तीनो पात्रों का चित्रण पूर्णतः सांसारिक है। संसार के भोग विलासों मे लिप्त ये प्रिय वियोग से पीड़ित है। सांसारिक भोग विलासों में लिप्त होने पर भी ये पतिव्रता एव आदर्श नारी के रूप में काव्य में प्रतिष्ठित है। अपने आदर्शों एव कर्त्तव्यों को ये भली-भांति जानती है। विजयमणि का चरित्र पार्श्वनाथ आदि के चरित्र से बिल्कुल विपरीत है। वह न तो तप मे लीन है और न ही अलौकिक सौन्दर्य (मोक्ष) की प्राप्ति का इच्छुक है। विजयगणि का चरित्र सासारिक भावनाओं से भी लिप्त है यही कारण है कि वह अपनी प्रिया के वियोग की पीड़ा से पीड़ित रहता है तथा उससे मिलन की आकांक्षा रखता है। इन सब विभिन्नताओं के होने पर भी अन्य पात्रों से एक समानता हमे इस चित्रण मे मिलती है और वह है क्षमावान होना। वह अत्यन्त धैर्यशाली एव क्षमावान प्रकृति का है। इस प्रकार इस अध्याय मे पात्रो के चरित्र चित्रण को प्रस्तुत किया गया है।

षष्ठ अध्याय में शान्त रस की अभिव्यंजना एव समस्यापूर्ति विधा के विकास को प्रस्तुत किया गया है। मेघदूत इन काव्यो का प्रेरणा स्रोत रहा है और मेघदूत मे पूर्णतः शृंगार रस का राज्य दिखाई पड़ता है किन्तु जैन कवियो ने अपने जैन सन्देश काव्यो मे शृंगार रस के साथ-साथ शान्त रस की भी अभिव्यजना की है। काव्यो का प्रारम्भ तो शृंगार रस से होता है परन्तु अन्त शान्त रस मे। इस प्रकार शृंगार रस को जैन सन्देश काव्यों मे शान्त रस मे परिवर्तित कर दिया गया है। विरह दग्ध नायिका की उत्तेजित भावनाओ को नायक अत्यन्त सरलता एव सौम्यता के साथ शान्त करता है तथा संसार के प्रति उसके क्षणिक भ्रम को दूर कर देता है। इन काव्यों का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है जो तप एवं साधना के द्वारा प्राप्त किया जाता है। मोक्ष प्राप्ति शान्ति एवं धैर्य के द्वारा प्राप्त होती है। इसी कारण जैन सन्देश काव्यों में श्रृंगार रस की अपेक्षा शान्त रस का आधिपत्य है। शान्त रस के साथ-साथ इस अध्याय मे समस्यापूर्ति विधा के विकास पर भी प्रकाश डाला गया है। समस्यापूर्ति विधा यूँ तो प्राचीन काल से ही चली आ रही है परन्तु विकसित रूप से इसे बाद ही में मिला। प्राचीन काल मे मौखिक रूप से इस विधा का प्रयोग किया जाता था परन्तु बाद में काव्य निर्माण में इस विधा का प्रयोग किया जाने लगा। मेघदूत के अन्तिम चरणों को लेकर जैन कवियों ने समस्यापूर्ति रूप में जैन सन्देश काव्यों की रचना की। इन काव्यों की यह विशेषता है कि उन्होंने मेघदूत को अपना आधार मानकर उसके श्लोकों के अन्तिम चरणों की समस्यापूर्ति की है। मेघदूत के श्लोको में पूर्णतः सांसारिक मोह विलासों के दर्शन होते हैं। इन सासारिक भावनाओं को स्पष्ट करने वाली पंक्तियों को जैन कवियों ने अपने विचारो एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है जो कि अपने आप में चातुर्य एव अलौकिक प्रतिभा का द्योतक है। शृंगारिक पंक्तियो को बड़े ही सुन्दर ढग से आध्यात्मिकता की ओर मोड़कर इन कवियों ने श्रमण संस्कृति का भी पूर्णरूपेण निर्वाह किया है। समस्यापूर्ति विधा में दूसरे के द्वारा निर्मित पंक्तियों को अपने विचारों में परिवर्तित करने की कुशलता का ही परिचय दिया जाता है और ये कुशलता इन जैन सन्देश काव्यो मे स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर है। मेघदूत और जैन सन्देश काव्यो का उद्देश्य पृथक्-पृथक् है फिर भी जैन कवियो ने मेघदूत की शृंगारिक पंक्तियो की समस्या पूर्ति करते हुए अपने विचारों में परिवर्तित कर अपने उद्देश्यों की पूर्ति की है।

सप्तम अध्याय में जैन सन्देश काव्यों में वर्णित श्रमण संस्कृति को वर्णित किया गया है। इस अध्याय को श्रमण संस्कृति एव जैन आचार धर्म दर्शन दो भागों मे विभक्त किया गया है। श्रमण संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कर प्रस्तुत जैन सन्देश काव्यों मे इन विशेषताओं को वर्णित किया गया है। जैन सन्देश काव्यों में श्रमण संस्कृति के सभी नियमो एवं मान्यताओं का महत्व-

पूर्ण स्थान प्राप्त है। जैन कवियों ने अपने काव्यों मे श्राप एवं दण्ड जैसी किसी प्रथा को वर्णित नही किया है। ईश्वर जैसी किसी परोक्ष शक्ति का इन काव्यो मे वर्णन नही मिलता। तप, वैराग्य एव सयम को इन काव्यो के नायक ने अपने जीवन मे सर्वाधिक महत्व दिया है। संस्कृत के जैन सन्देश काव्यों में चरित्र का विकास अनेक जन्मों के बीच हुआ है जो कि श्रमण सस्कृति की एक विशेषता है। इसी अध्याय के अन्तर्गत जैन आचार धर्म दर्शन के विभिन्न सिद्धांतो एवं नियमो को प्रस्तुत किया है। आत्मा की सत्ता को सिद्ध करते हुए भौतिक स्वरूप के भ्रम को स्पष्ट करने हेतु त्याग, तप, योग आदि को विशेष रूप से वर्णित कर जैन धर्म दर्शन का उल्लेख किया गया है। जैन दर्शन के सभी तत्व-जीव, अजीव आदि का स्वरूप इस अध्याय मे वर्णित है। इसके अतिरिक्त जैनाचार के अन्तर्गत श्रावकाचार एवं मुनि-आचार सम्बन्धी सभी नियमो का उल्लेख इस अध्याय में वर्णित है।

अष्टम अध्याय में उपसंहार के अन्तर्गत प्रस्तुत अध्ययन का निष्कर्ष, महत्व एव योगदान को स्पष्ट किया गया है। आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट कर मोक्ष प्राप्ति की ओर प्रेरित करने के कारण इन जैन सन्देश काव्यो का संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में विशेष योगदान रहा है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के सार रूप मे हम यह कह सकते हैं कि जैन सन्देश काव्य अपने आप मे पृथक् एवं मौलिक विशेषताओं को लेकर चलते हैं। इन काव्यों मे विशेषत: मोक्ष एवं श्रमण संस्कृति को वर्णित किया है। इन काव्यों के प्रारम्भ मे शृगार रस को प्रतिपादित किया गया है।

परन्तु काव्यान्त तक आते-आते शृंगार रस शान्त रस में परिवर्तित हो जाता है। काव्यारम्भ मे तो सहृदय जन काव्यानन्द की प्राप्ति करते हैं परन्तु काव्य के उत्तरार्ध में आध्यात्मिक एव सदाचार तत्वो को ही स्पष्ट किया गया है। इन सन्देश काव्यों की रचना मन्दाक्रान्ता छंद में हुई है। उपमा, यमक, उत्प्रेक्षा, श्लेष आदि अलंकारों की सुन्दरयोजना की गई है। इन काव्यो मे वेदर्भी शैली का प्रयोग किया गया है। भाषा प्रसाद गुण, सरस एवं सरल है तथा सर्वत्र प्रवाह दृष्टिगोचर होता है पदलालित्य की दृष्टि से यत्र-तत्र सुन्दर सुभाषितों का प्रयोग किया गया है। अत. सस्कृत के जैन सन्देश काव्य भाषा-शैली, अलकार, रस, भाव विश्लेषण एव पदलालित्य की दृष्टि से पृथक् एव मौलिक स्थान रखते हैं।

—धामपुर (नजीबाबाद)

आत्म-ज्ञान और संयम की महिमा

—आत्मा के बारे में जानकारी करना और आत्मा को जानना इसमें मौलिक अन्तर है। आत्मा के बारे में जानना शास्त्रों से, चर्चा चिंतन से हो जाता है परन्तु आत्मा को जानना आत्मा के साक्षात्कार से ही होता है अत: मोक्षमार्ग में आत्मा को जानना जरूरी है। आत्मा को जानने में शास्त्र ज्ञान और चर्चा बाहरी माध्यम मात्र हो सकता है। इसलिए मात्र चर्चा और चिंतवन से पण्डित बन सकता है परन्तु आत्मज्ञान बिना मोक्षमार्गी नहीं हो सकता। इसलिए प्रवचनसार में कहा है कि आगम ज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम तभी सार्थक है जब साथ में आत्मज्ञान हो। आत्मज्ञान और संयम बिना मोक्षमार्ग केवल मात्र आगम ज्ञान से नहीं होता। जो आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहे उसके लिए आगम ज्ञान सहायक है। जैसा वस्तुतत्त्व का श्रद्धान किया है वैसी ही प्रवृति का होना चारित्र है। अतः सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र बिना न मोक्षमार्ग कभी हुआ, न है, न होगा। तीनों की एकता बिना मात्र एक-एक से मोक्षमार्ग मानना भी अज्ञानता है ऐसा राजवार्तिककार ने कहा है। सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति तो आत्मज्ञानपूर्वक संयम की पूर्णता न होने से हुई परन्तु ३३ सागर तत्त्वचर्चा करने पर भी तीन चौकड़ी टस से मस नहीं हुई। वह तो तभी नष्ट हुई जब मनुष्य पर्याय पाकर संयम की आराधना करी। क्या ११ अंग का पाठी मिथ्यादृष्टि तत्त्वचर्चा और चिंतवन करने में कोई कसर रखता है क्या? हजारों वर्षों तक चिंतवन मनन करने पर भी पहला गुणस्थान बना रहता है। महिमा तो आत्मज्ञान और संयम की है जो अन्तरमुहूर्त में इसे मोक्ष का पात्र बना देता है।

—बाबूलाल जैन कलकत्ता वाले

क्यों करते हैं लोग संस्थाओं को बदनाम ?

(संदर्भ— श्री गणेश ललवानी का लेख : 'तीर्थंकर' अगस्त १९९०)

तीर्थंकर के अगस्त १९९० के अंक में श्री गणेश ललवानी द्वारा लिखित वीर सेवा मन्दिर की आलोचना पढकर हार्दिक दुःख होना स्वाभाविक था। श्री ललवानी का लेख पूर्वाग्रही और संस्था को बदनाम करने हेतु लिखा हुआ प्रतीत होता है। अन्यथा, ललवानी जी अखबारबाजी करने से पूर्व एक बार इस संस्था से भी तथ्य जान लेने का प्रयास तो करते।

श्रद्धेय श्री छोटेलाल जैन ने जैन बिब्लियोग्राफी के द्वितीय संस्करण हेतु वर्षों की साधना के पश्चात् प्रभूत सामग्री तैयार की। पर खेद है कि वे ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व ही स्वर्गवासी हो गए। उनके पश्चात् उनके भ्राता बाबू नन्दलाल जैन ने इसके संपादन और मुद्रण के साधन जुटाने हेतु अनेकों प्रयास किए। अन्ततोगत्वा संपादन कार्य डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये को सौंपा गया। अत: ग्रन्थ की सभी सामग्री संपादन-हेतु डा० उपाध्ये अपने साथ कोल्हापुर ले गए और वहीं पर अपने निर्देश में प्रेस-कापी के लिए टंकण आदि का कार्य कराया। ऐसे सभी खर्चों का भुगतान उनको भेजा जाता रहा। इस संबंध में डॉ० उपाध्ये के दिनांक २०-८-६९, १५-७-७० एवं १९-१२-७० के पत्र और ऐसे अन्य अनेक पत्रों और भुगतान की पावती संस्था में सुरक्षित है।

डॉ० उपाध्ये ने ग्रन्थ के प्रारम्भिक-परिचय लिखने हेतु मुद्रित फर्मों को संस्था से उनके दिनांक १४-३-७४ के पत्र द्वारा मगवाया और साथ ही श्रद्धेय छोटेलाल जी का जीवन परिचय भी मंगवाया। श्री नन्दलालजी ने उनका जो जीवन परिचय दिया उसके २०वें अनुच्छेद पर स्पष्ट लिखा है—

"The First Part of his Jain Bibliography was Published in the year 1945 The Second Part remaining incompleted by him, is now being completed under the guidence of Dr. A. N. Upadhaye M.A.D Litt of Mysore University."

दुर्भाग्य से इसी बीच डॉ० उपाध्ये स्वर्गवासी हो गए।

ग्रन्थ को प्रकाशन के साथ इण्डैक्स की भी आवश्यकता थी, अत: बाबू नन्दलाल जी के सुझाव पर इण्डैक्स बनाने का कार्य डॉ० सत्यरंजन बनर्जी को सौंप दिया गया। इस कार्य-हेतु डॉ० बनर्जी को समय-समय पर भुगतान भी होता रहा। डॉ० बनर्जी द्वारा लिखित एक खर्चे के विवरण की छाया प्रति आदि सभी विवरण हमारे कार्यालय में सुरक्षित है।

मैं सन् १९८० में संस्था का महासचिव चुना गया। उक्त ग्रन्थ के मुद्रित फर्मों को ग्रन्थरूप देने के लिए प्रारम्भिक परिचय की अनिवार्यता का अनुभव कर कार्यकारिणी की सहमति से डॉ० बनर्जी को प्रारम्भिक परिचय लिखने का आग्रह किया गया, क्योंकि इण्डैक्स का कार्य भी वे ही कर रहे थे। उन्हें २७०० रु० का बैंक ड्राफ्ट नं. ६५१९६९ दि० ६-७-८१ पो. एन. बैंक का भेजा गया।

चूंकि तब तक मुझे संबंधित विषय की पृष्ठ-भूमि ज्ञात नहीं थी और कार्यकारिणी का डॉ० बनर्जी पर अटल विश्वास था। अत: जो भी परिचय डॉ० बनर्जी ने लिखकर भेजा, मैंने उसे उसी रूप में मुद्रित करा कर ग्रन्थ का प्रकाशन कर दिया

और सद्भावना के रूप में ग्रन्थ की प्रति डॉ० बनर्जी को भी भेज दी।

जैसे ही ग्रन्थ कार्यकारिणी के समक्ष आया, वस्तुस्थिति जान लेने पर संस्था में सुरक्षित रिकार्ड के अनुसार संपादन में डॉ० उपाध्ये का नाम देना अनिवार्य हो गया। इसकी सूचना डॉ० बनर्जी को दिनांक ३-१२-८२ के पत्र द्वारा दे दी गई। मुझे तो स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि डॉ० बनर्जी जैसे उच्चकोटि के विद्वान् मेरी अजानकारी और डॉ० उपाध्ये के स्वर्गवास का अनुचित लाभ उठाकर संपादन का श्रेय स्वयं ओढ़ लेंगे।

वीर सेवा मन्दिर सदैव जैनदर्शन और साहित्य के शोध और खोज के कार्यों में संलग्न रहा है। अनेकों अजैन विद्वानों के सहयोग से संस्था गौरवान्वित होती रही है। संस्था ने साहित्यिक कार्यों में कभी भी जैन-अजैन अथवा दिगम्बर श्वेताम्बर जैन में अन्तर नही माना। यदि भेद-भाव होता तो संपादक के रूप में डॉ० बनर्जी का नाम भी सहज-रूप में नहीं चला जाता।

श्री ललवानी का यह कथन भी एकदम असत्य है कि वीर सेवा मन्दिर ने डॉ० भागचन्द्र जैन को मात्र २५-३० पृष्ठों के इण्डेक्स हेतु पाच हजार रुपयों का भुगतान किया है।

यदि आप उक्त लेख को प्रकाशित करने के पूर्व वस्तु-स्थिति से अवगत हो जाते तो आपको हमारा स्पष्टीकरण छापने का कष्ट ही नही उठाना पड़ता। सद्भावनाओं सहित,

भवदीय--
सुभाष जैन
महासचिव—वीर सेवा मन्दिर
दरियागंज, नई दिल्ली-२

संपादकीय नोट – जैन पत्रकारिता धन्दा या चोंचें लड़ाने-लड़वाने का कार्य--पीत पत्रकारिता नहीं, स्वस्थ जागरण है और इसमें धर्म और धार्मिक संस्थाओं की निश्छल-सुरक्षा का उत्तरदायित्व-निर्वाह भी समाहित है। फलतः किन्ही विवादित प्रसंगों में लेखक और पत्रकार दोनों के द्वारा पक्ष-विपक्ष से पूरी जानकारी कर लेना ही स्वस्थ-पत्रकारिता है।

वीर सेवा मन्दिर के महासचिव ने उक्त पत्र सम्पादक 'तीर्थंकर' और उसकी प्रति श्री गणेश ललवानी को भी भेजी है। पत्र के साथ डॉ० उपाध्ये के निर्दिष्ट मूल-पत्रों की छाया प्रतियां भी सलग्न की हैं। इसके सिवाय हमने जैन-बिब्लियोग्राफी संबंधी उपलब्ध (सुरक्षित) पूरी संचिका और तद्विषयक तत्कालीन कार्यकारिणी के निर्णय भी पढ़े है। निर्विवाद रूप से संपादकत्व डॉ० उपाध्ये का ही सिद्ध होता है।

यह सच है कि इण्डैक्स के कार्यभार का उत्तरदायित्व डॉ० सत्यरंजन बनर्जी ने लिया और इस कार्य के हेतु उन्हें समय-समय पर धन का भुगतान भी किया जाता रहा है। इण्डैक्स के अभाव में संस्था को सभी प्रकार की क्षति उठानी पड़ रही है। डॉ० बनर्जी जैसे सम्भ्रान्त विद्वान् से ऐसी अपेक्षा नहीं थी। अब उत्तरदायित्व श्री ललवानी जी का हो जाता है कि वे डॉ० बनर्जी से इण्डैक्स का कार्य सम्पन्न कराकर संस्था को दिलाएँ। क्योंकि उनके लेख से स्पष्ट है कि श्री ललवानी जी, डॉ० बनर्जी के काफी नजदीक हैं। --**सम्पादक**

राज्य संग्रहालय धुबेला की सर्वतोभद्रिका मूर्तियाँ

☐ श्री नरेश कुमार पाठक

सर्वतोभद्रिका या सर्वतोभद्र प्रतिमा का अर्थ है वह प्रतिमा जो सभी ओर से शुभ या मंगलकारी है। अर्थात् ऐसा शिल्पकार्य जिसमें एक ही शिल्पखण्ड में चारो ओर चार मूर्तियां निरूपित हो, पहली शती ई० मथुरा मे इसका निर्माण प्रारम्भ हुआ। इन मूर्तियो मे चारो दिशा में चार जिन मूर्तियां उत्कीर्ण है। ये मूर्तियां या तो एक ही जिन की या अलग-अलग जिनो की होती है। ऐसी मूर्तियों को चतुर्बिम्बजिन चौमुखी और चतुर्मुख भी कहा गया है। ऐसी प्रतिमाएँ दिगम्बर स्थलो मे विशेष लोकप्रिय थी।[1] सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओ को दो वर्गों मे बाटा जा सकता है। पहले वर्ग मे ऐसी मूर्तियां है, जिनमे एक ही जिन की चार मूर्तियां उत्कीर्ण है। दूसरे वर्ग की मूर्तियो में चार अलग-अलग जिन मूर्तिया है[2]। राज्य सग्रहालय धुबेला मे प्रथम वर्ग की एक एव द्वितीय वर्ग की दो कुल तीन सर्वतोभद्रिका प्रतिमा संग्रहित है, जिनका विवरण निम्नानुसार है :—

मऊ-सहानिया जिला छतरपुर से प्राप्त सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के चारों ओर एक-एक तीर्थंकर (स० क्र० १) पद्मासन मे ध्यानस्थ बैठे हुये हैं। इस प्रकार की प्रतिमाओ को किसी भी तरफ से देखा जाय तीर्थंकर के दर्शन हो जाते है, जिसमे मानव का कल्याण होता है। इसी लिये चारो तरफ मूर्तियों वाली प्रतिमाओ को सर्वतोभद्रिका की संज्ञा दी गई है। प्रस्तुत सर्वतोभद्रिका मे क्रमश: आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं वर्द्धमान महावीर स्वामी अपने ध्वज लाछन क्रमश: नन्दी, शख, सर्प एवं सिंह सहित अंकित है। सभी के वितान मे छत्र, दुन्दभिक मालाधारी विद्याधर युगल, चारो ओर चावरधारी पादपीठ पर चारो ओर विपरीत दिशा मे मुख किये सिंह, पादपीठ के नीचे चारो ओर ५-५ कुल २० सेवक अजलीबद्ध अंकित है। नीचे की कीर्तिमुख अलकरण बने हुये हैं। ८५×४५×४५ सें० मी० आकार की प्रतिमा लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित है, कालक्रम की दृष्टि से मूर्ति १०वी शती ईस्वी की है।

व्यंकट विद्या सदन रीवा से प्राप्त ११वी शती ईस्वी की सर्वतोभद्रिका (म० क्र० ४०२ प्रतिमा मे मदिर शिखर आकृति निर्मित है जिसके ऊपर दो कलश है। चारो ओर क्रमश. तीर्थन्कर आदिनाथ, अजितनाथ, पार्श्वनाथ एव नेमिनाथ का अकन है[3]। चारो ओर वितान मे मालाधारी विद्याधर, त्रिछत्र का अकन है। उनके ऊपर चारो ओर चार-चार जिन प्रतिमाएँ अकित है। पार्श्व मे चारो ओर चावरधारी एव पादपीठ पर प्रत्येक ओर विपरीत दिशा मे मुख किये सिंह मध्य मे चक्र पादपीठ पर एक पार्श्व मे, क्रमश: यक्षणी चक्रेश्वरी, रोहिणी, पद्मावती एव अम्बिका अंकित है। दूसरे पार्श्व में उपासिकाएँ अकित है। लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित। २०×५२×५२ सें० मी० आकार की प्रतिमा कलचुरी कालीन कला की उत्कृष्ट कृति है।

व्यंकट विद्या सदन रीवा मे ही प्राप्त एक खण्डित स्तम्भ खण्ड पर (स० क्र० ४७४) चारों ओर कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थन्कर अकित है। सभी तीर्थन्करो के नीचे से पैर व मुंह के चेहरे पूर्णत: भग्न हो चुके है। सभी के कानों मे लम्ब कर्णचाप एव वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह का आलेखन है। प्रत्येक तीर्थन्कर के पार्श्व मे प्रत्येक ओर खण्डित अवस्था मे चावरधारियो का अकन है। ऊपर त्रिछत्र की आकृति का लघुशिखर बना हुआ है। प्रतिमा काफी खण्डित होने के कारण तीर्थन्करों को पहिचाना नही जा सकता, परन्तु यह स्पष्ट है कि ये चारों प्रतिमाएँ एक ही तीर्थन्कर से संबधित होगी। क्योकि इसमे आदिनाथ एव पार्श्वनाथ का अकन नही है। इन दोनो तीर्थन्करो का अलग-अलग तीर्थन्कर प्रतिमा होने पर अकन होना अनिवार्य होता है। प्रतिमा काफी भग्न अवस्था मे हैं। परन्तु निर्मित के समय अवश्य ही सुन्दर रही होगी। ६०×२५×२० सें० मी० आकार की बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा १२वीं शती ईस्वी की है।

---

१. तिवारी मारुती नन्दन प्रसाद, "जैन प्रतिमा विज्ञान" वाराणासी १९८१ पृ० १४८। २. वही पृष्ठ १४९।

३. दीक्षित स० का० राजकीय सग्रहालय, धुबेला, की मार्गदर्शिका, भोपाल, संवत् २०१५, पृ० १२।

आत्मोपलब्धि का मार्ग : अपरिग्रह

□ पद्मचन्द्र शास्त्री 'संपादक'

आगम में निर्देश है कि चारित्रवान् ज्ञाता ही किसी को ज्ञान देने का अधिकारी है। फलतः—आत्मा के विषय मे सच्चारित्री आत्म-ज्ञाता ही आत्म-बोध कराने में समर्थ है। पर, आज चारित्र की उपेक्षा कर आत्मा की चर्चा करने वाले कई लोग आत्मा से अनभिज्ञ होने पर भी लोगों को, आत्मा को दर्शाने के भ्रमजाल में फँसा आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी वाणी का उपहास कर रहे है। कुन्दकुन्द कहते हैं—

"अप्पाणमयाणतो अणप्पय चावि सो अयाणंतो।
कह होइ सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणतो॥"

भला जिन जीवों को बाह्य-ज्ञानेन्द्रियो से प्रतिभासित होने वाले नश्वर पदार्थों की पहिचान तक नही हो पा रही हो, जो स्वयं नश्वर के सग्रह मे लगे हो, धन-सपदा, स्त्री-पुत्रादि मे राग-भाव के पुंज हो, वे पर को क्या आत्म-दर्शन कराएँगे? कहा भी है—'परमाणु मित्तय वि हु रागादीण दु विज्जदे जस्स। णविसो जाणदि अप्पाणयं दु सव्व गमधरो वि॥'

जिसके लेशमात्र भी अज्ञानमय रागादि भाव है वह जीव कितना भी ज्ञानी हो तो भी आत्मा को नही जानता और अनात्मा को भी नहीं जानता—ऐसे मे वह सम्यग्दृष्टी कैसे हो सकता है? और जब वह सम्यग्दृष्टी नहीं हो सकता तब उसे आत्मा के उपदेश देने का अधिकार भी कहाँ? आत्मा तो इन्द्रियज्ञानातीत और अरूपी है, उसके ज्ञान की कथा तो छोड़िए, बहिरंग-दृष्टि तो बाह्य-विषयों की पहिचान मे भी गुमराह हुए हैं।

कुछ लोग 'अहिंसा परमो धर्मः' का नारा जरूर देते हैं पर, दर-असल वे उसके स्वरूप से स्वय भी गुमराह हैं क्या, कभी सोचा आपने कि अहिंसादि पांच व्रतो और अव्रतो में उनके स्व-स्वलक्षणों के परिप्रेक्ष्य मे आदि के चार (अहिंसा-हिंसा, सत्य-असत्य, अचौर्य-चौर्य, ब्रह्मचर्य-अब्रह्म) पर-सापेक्षी और व्यवहारिक है। क्योकि इन चारों मे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्षरूप मे पर-विकल्प अथवा पर—प्रमाद की उपस्थिति-अनुपस्थिति परम आवश्यक है। जब तक पर-पदार्थ या पर-भाव या विकल्प नही होगा तब तक हिंसा-अहिंसा, झूंठ-सत्य, चौर्य-अचौर्य, अब्रह्म-ब्रह्म किसी की सम्भावना फलित न होगी। अर्थात् हिंस्य (पर) के होने पर ही हिंसक और हिंसा आदि के भाव फलित होगे—हिंस्य (पर) के अभाव मे न हिंसक होगा और न हिंसा होगी, आदि। और उक्त प्रक्रिया द्रव्य और भाव दोनो रूपो मे पाप पुण्यो के लिए लागू होती है। और ऐसी स्थिति मे उक्त चारो प्रकार पुण्य-पाप पर-सापेक्षी होने से स्व-स्वाभाविक धर्म नही हो सकते। हाँ, अपरिग्रह धर्म ऐसा धर्म है जो स्व-सापेक्ष व पर-निरपेक्ष है—यदि अपरिग्रह होगा तो स्व-एकाकी होने मे ही।

फलतः—स्वाश्रित होने से अपरिग्रह आत्म-धर्म है और पराश्रित होने से अहिंसादि चारो धर्म लौकिक-व्यवहार हैं। यदि आत्मार्थी अपरिग्रह की ओर बढ़ता है तो वह मार्ग पर है और यदि परिग्रह की ओर बढ़ते हुए आत्मा की चर्चा करता है तो वह अमार्ग पर है। बड़ा अटपटा लगता है जब कोई व्यक्ति बात तो शुद्धात्मा की करता है और शुद्धात्मा के स्वाश्रित मार्ग परिग्रहपरिमाण या अपरिग्रह की उपेक्षा कर परिग्रह के संचय मे जुटा रहता है।

आगम मे हिंसा के चार भेद कहे हैं और वे हैं—सकल्पी हिंसा, आरम्भी हिंसा, उद्योगी हिंसा, विरोधी हिंसा। उक्त भेदो के अनुसार अहिंसा के भी चार भेद ठहरते हैं और सभी पर-सापेक्ष ही है—सभी पर-के सद्भाव में और पर के प्रति प्रयुक्त होगे, फिर चाहे वह हिंसा द्रव्य-रूप में हो या भाव-रूप मे। कही भी ऐसा दृष्टि-

गोचर नहीं होता कि उक्त चारों स्वापेक्ष हों। भावो मे भी जब प्रमत्तयोग (जो पर है) होगा तभी हिंसादि पाप फलित होंगे और जब प्रमत्तयोग का अभाव होगा तब अहिंसादि रूप फलेंगे। और ये भी सभी जानते हैं कि प्रमादों की गणना परिग्रह में की गई है—हिंसा आदि में नहीं। अतः ऐसा स्पष्ट है कि हिंसादि जब भी होंगे सदा परिग्रह (प्रमाद) के योग मे होंगे और अहिंसादि जब भी होंगे परिग्रह (प्रमाद) के अभाव में होंगे। अतः पापों का मूल परिग्रह है—फलतः, जैनों का ध्यान परिग्रह के सीमित करने और क्रमशः उसके पूर्ण त्याग की ओर जाना चाहिए। यही एक मार्ग है जो आत्म-दर्शन तक ले जा सकता है। शेष व्रत मोक्षमार्ग मे उपकारी तो हैं किन्तु परिग्रह को आत्मसात् करके नही।

जो लोग कहते है कि 'अप्रादुर्भाव खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति' के परिप्रेक्ष्य में रागादि के अभाव (अपरिग्रह) और अहिंसा दोनो मे भेद नही है, आदि। ऐसे लोगो को विचारना चाहिए कि यदि अहिंसा और अपरिग्रह दोनों में अभेद ही था तो आचार्यों ने दोनों की गणना पृथक्-पृथक् रूप मे क्यों की? क्या पाप पाँच न होकर चार ही है या अणुव्रत, महाव्रत पाँच न होकर चार ही है? ऐसे मे तो साधु के २८ मूलगुण भी घट कर २७ ही रह जायेंगे : फलतः—ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिए कि 'सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं', 'धर्मस्य तत्त्व निहितं गुहायां' या 'नान्यथावादिनो जिनः।'

फलतः हमें उपदिष्ट तत्त्व के सभाल की व्यवस्था मे पांचो पापों को भेद रूप ही स्वीकार करना चाहिए। जहाँ आचार्यों ने रागादि के अभाव को अहिंसा कहा है वहाँ 'अन्नं वै प्राण' की भांति कारण मे कार्य का उपचार करके कथन किया है—वास्तव मे अपरिग्रह और अहिंसा दोनों पृथक्-पृथक् ही हैं और उन दोनो में या सभी व्रतों में अपरिग्रह मूल और मुख्य है। और अपरिग्रह के होते ही सर्वपाप स्वयमेव उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश मे अन्धकार।

स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म में निहित सभी विधि-विधान और क्रियाकाण्डों के मूल में अनुक्रम से वीतरागता और मुक्ति-प्राप्ति का लक्ष्य निहित है। देव-शास्त्र गुरु आदि की पूजाओं में जो द्रव्य विसर्जित किए जाते हैं, उनमे भी स्पष्टतः 'जन्म-जरा-मृत्युविनाशनाय', मोक्षफल-प्राप्तये' आदि जैसे निर्देश है। कहीं भी परिग्रह और सांसारिक सुख-प्राप्ति की कामना की झलक नही है।

खेद की बात है कि परिग्रहियो ने इस पवित्र मार्ग को भी दूषित किया है और उन्होंने इतनी ज्यादती कर दी है कि अपनी सांसारिक स्वार्थपूर्ति के लिए परिग्रही और असंयमी देवी-देवताओं तक को भ० पार्श्वनाथ की वीतराग प्रतिमा से जोड़ रखा है। जो धरणेन्द्र, पद्मावती अपने पूर्व-भव के उपकारों का प्रत्युपकार करने भगवान की मुनि अवस्था में आए—उन्हे इन्होने अर्हन्त भगवान की वीतराग मुद्रा तक से जोड़ लिया और उन्हे फण के रूप मे भगवान के सिर पर बिठा दिया है। इनकी अज्ञानता की हद हो गई। ठीक ही है—परिग्रह की कामना प्राणी से कौन-सा घिनौना काम तक नही करा लेती? अर्थात् सभी कुछ करा सकती है। परिग्रह कामना ने इन्हें भिखारी तक बना दिया।

एक बार स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जी ने कहा था—"जैन मन्दिरों में भिक्षा मांगने की जरूरत नहीं है, जैन मन्दिर भिखारियों के लिए नहीं है। जो मोक्षाभिलाषी हों—निर्ग्रन्थ होना चाहते हों, उन्हीं के लिए जैन मन्दिर लाभकारी हैं।

लेकिन आज इस कथन से प्रायः विपरीत देखने में आ रहा है। आज कई मन्दिरों मे ऐसे भिखारियो की भी भीड़ लगी रहती है, जो वीतराग देव की उपासना मे कम और कुदेवो की उपासना कक्ष मे अधिक इकट्ठे होते रहते हैं। यह सब इनकी परिग्रह लालसा का ही परिणाम है। यदि इनकी तनिक भी श्रद्धा वीतराग और वीतरागता पर हो तो ये इधर झांके भी नहीं। अपितु,

आश्चर्य यह है कि ये सभी लोग पुण्य-पाप और प्रारब्ध को मान रहे है और कह रहे हैं कि भाग्य को कोई मेट नही सकता, पाप कर्मों की निर्जरा तो वीतराग-परिणति से ही होगी आदि; फिर भी ये सरागता की ओर दौड़ लगा रहे हैं? धन-वैभव के भिखारी बने हुए हैं। स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

'यदि पाप निरोधोऽस्त्यन्य संपदा किं प्रयोजनम्।

अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य संपदा किं प्रयोजम् ॥'

यदि पाप का उदय है तो संचित संपदा भी चली जायगी, और यदि पुण्य का उदय है तो स्वयमेव आ जायगी।

हमें याद है, वर्षों पहिले जब हम दिल्ली नही आए थे, बनारस मे पं० अभयचद जी विदिशा वालो ने एक सेठ जी और एक पंडित जी की वार्ता सुनाई थी। तब सस्ता जमाना था—किसी के पास २५-३० हजार रुपये हो जाना बड़ी बात थी और ऐसा आदमी बहुत बड़ा सेठ समझा जाता था। ऐसे ही गरीबी की हालत से उठे, चिर-परिचित सेठ जी से एक पडित जी ने पूछा—सेठ जी, कुशल तो है?

सेठ जी बोले—भगवान की कृपा है, आप तो जानते ही हैं कि हमारी क्या दशा थी? आज पेट भर लिया तो कल की फिकर रहती थी—अब सब मोज है।

पडित जी बोले—अब तो आप मजे में हैं—सब चिन्ताओं से मुक्त। मौज किए जाइए और भगवान का भजन।

सेठ जी ने कहा—पंडित जी, अब तो केवल एक ही चिंता रहती है कि कदाचित् यह लक्ष्मी रुष्ट होकर हमे छोड़ न जाय, हम इसे रखते तो सभाल कर कलेजे से लगा कर है।

पडित जी बोले—सेठ जी, एक दिन तो इसका वियोग होना ही है। यदि लक्ष्मी आपको छोड़कर न जायगी तो आप ही इसे छोड़कर चले जाएँगे—संसार की ऐसी ही रीति है। फिर भी आप चिंतित न हो—इसका उपयोग दान-पुण्य मे करें, आपको परलोक मे मिल जायगी।

सेठ जी बोले—बात तो ठीक है, पर आप पात्र तो बताइए जिसे हम लक्ष्मी देते रहें।

पडित जी ने कहा—पात्र तो आपको ही खोजना पड़ेगा, सो खोजिए। आपको जरूरतमन्द काफी लोग मिल जाएँगे। बात आई गई हो गई और दोनों अपने-अपने स्थान को चले गये। १५-२० दिनो के बाद सेठ जी उन पंडित जी के पास पहुचे और बोले—

पंडित जी, मैंने लक्ष्मी के दान करने योग्य तीन-चार पात्र चुने हैं, उनमे आपका नाम प्रथम है। सो आप से ही श्रीगणेश कीजिए और बोलिए आपको भेंट में कितना रुपया दे दूं? मुझे विश्वास है कि आप इन्कार न करेंगे।

पंडित जी ने कहा—सेठ जी, आपने भली बिचारी—आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। पर, मेरी मजबूरी यह है कि मेरे पास लक्ष्मी का गुजारा नही हो पाएगा। क्योंकि मेरे पास तो लक्ष्मी की सौत सरस्वती है और दोनों के एक साथ रहने मे विसंवाद है। दूसरी बात, मैं सरस्वती को छोड़ नही सकता। यह तो निश्चित है कि लक्ष्मी के आ जाने पर मैं स्वभावतः ज्ञान-धर्म को भुला बैठूगा—तृष्णा बढ़ती रहेगी और लक्ष्मी मुझे संसार वासना मे फँसा देगी—मैं मद में लीन हो जाऊँगा। अतः मेरे विचार से तो जो पडित होगा वह परिग्रह रूप लक्ष्मी का संचय नही करेगा और जो संचित करेगा उसकी पडिताई में बट्टा लगेगा। फलतः—पंडित को सन्तोषी और अभावग्रस्त रहने का प्रयत्न करना चाहिए और सेठों को चाहिए कि वे पंडित की इतनी भावना को पूरा करते रहें कि—

'सांई इतना दीजिए, जामैं कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, अतिथि न भूखा जाय॥'

और वे ध्यान रखें तो उनका भला, न रखें तो उनका भाग्य। पडित को तो सदा निःस्पृहता की ओर बढ़ना चाहिए।

उक्त परिग्रह का प्रसग हमे पर्याप्त शिक्षा देता है। परिग्रह हमें धर्म-कर्म से भ्रष्ट कराता है। तीर्थंकर आदि महापुरुषो ने इससे विरक्ति ली तब आत्मा मे रह सके और आत्मा मे रहना ही धर्म है। बिना परिग्रह की तृष्णा के त्याग के आत्मा के गीत गाते रहना—स्वयं को और लोगों को धोखा देना है। इसे खूब विचारें और अपरिग्रह को प्रमुखता दे, जैनत्व को बचाएँ। अपरिग्रह वृत्ति के बिना जैन का रचना असम्भव है। जितने जिन हुए सभी अपरिग्रह से हुए और उनका प्रचारित धर्म भी अपरिग्रह में ही पनप सकेगा। फलतः—मोक्षेच्छु श्रावक को परिग्रह-परिमाण और मुनि को निष्कलक अपरिग्रह को अपनाना चाहिए। □□

जरा-सोचिए !

जैनाचार और विद्वान् :

कोई समय था जब जैन-संस्कारों की अपनी अलग छाप होती थी, उसमें पले-पुसे और बड़े हुए व्यक्ति के आचार-विचार से लोग सहज ही जान लेते थे कि अमुक व्यक्ति जैन है। जैन में सादगी, सन्तोष, दयालुता, सत्य-वादिता आदि गुण स्वाभाविक स्थान बनाए रखते थे। धार्मिक आचार-विचार में उसे नित्य देव-दर्शन करने व छना पानी पीने का नियम होता था। उसे रात्रि भोजन, अभक्ष्य-कन्दमूलादि भक्षण व मद्य-मांस-मधु और सप्त व्यसनों का पूर्ण त्याग विरासत में मिला होता था। जैन अपनी प्रामाणिकता के लिए प्रसिद्ध था। इसलिए उसे राज दरबार और राजकीय विभागों में पूर्ण सम्मान मिलता था। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पदों पर सहज ही उसकी नियुक्ति होती थी। न्यायालय मे जैन की गवाही को सच माना जाता था। कोई भी जैन किसी अपराधी-सूची मे दिखाई नही देता था। उक्त सब गुणों के होने मे मूल-कारण जैनों, के संस्कार थे। जैन बालक को जन्म से ही स्वस्थ-सात्विक वातावरण मिलता था और उसकी शिक्षा भी स्वस्थ होती थी।

सामाजिक व्यवस्था में मुखिया या पंच के चुनाव के लिए सर्वसाधारण के हाथ नहीं उठवाये जाते थे। अपितु पक्षपात रहित विश्वस्त कुछ प्रामाणिक पुरुष ही किसी प्रामाणिक योग्य पुरुष को बड़े पद पर बिठाने का अधिकार रखते थे। पूरा ध्यान रखा जाता था कि चुनाव बहु-सम्मत न होकर सर्व-सम्मत हो। सभी अवस्थाओं में सरपंच या मुखिया का निर्णय मान्य होता था। लोगों मे विनम्रता, और आंखो मे लिहाज था। सामाजिक व्यवस्था का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई व्यक्ति अभाव-पीड़ित न होने पाए या कोई न्याय नीतिमार्ग से च्युत न हो जाय। अवसर आने पर सभी लोग मिल-जुल कर अभाव-ग्रस्त की सहायता करते थे और मौन-रूप से उसके बोझ को अपने कन्धों पर उठा लेते थे। यही कारण था कि उनमें परस्पर गाढ सौहार्द्र था।

धार्मिक क्षेत्र मे सभी का सहयोग रहता था। विशेष धार्मिक अवसरों पर समाज के सभी पुरुष आबाल वृद्ध उत्सव, पूजन, विधान आदि मे सम-रूपसे सम्मिलित होकर धर्म लाभ लेते थे और मुनिराज, व्रती, त्यागी तथा विद्वानो की पूर्ण-सेवा भक्ति करते थे—उनकी वैयावृत्ति करते थे—आहारादि देने में सावधान रहते थे। उनका उपदेश सुनते थे—उनसे व्रत-नियम आदि स्वीकार करके अपना जन्म सफल करते थे। इस भांति सभी प्रकार की वैयक्तिक धार्मिक व सामाजिक व्यवस्थाएँ सुव्यवस्थित चलती थी—धर्म की बढवारी होती थी। लोग यथाशक्ति धर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय करते थे, उनमे कई तो धर्म-विषय के निष्णात विद्वान तक बन जाते थे। ऐसे विद्वानो से धर्म प्रभावना होती थी और लोगों के धार्मिक संस्कार भी दृढ करने में सहायता मिलती थी। गुरू गोपालदास बरैया और उनके शिष्यगण इसी श्रेणी मे थे।

कालान्तर में जब इधर ज्ञानी मुनिजनों और विद्वानों का अभाव सा होने लगा तब लोगो मे धर्म के प्रति शिथिलता परिलक्षित होने लगी और इस बीसवी सदी के प्रारम्भ में पूज्य पं० गणेश प्रसाद जी वर्णी आदि ने स्थान स्थान पर पाठशालाए और विद्यालयो के खुलवाने का यत्न किया और दर्जनो की नीव रखवाई। छोटी स्थानीय पटशालायें कई स्थानों पर पहिले भी चलती थी उनमें ऊँची पढ़ाई न कराकर बच्चो को सुसंस्कृत बनाया जाता था। बड़े विद्यालयों के खुलने से ऊँची धार्मिक पढ़ाई की व्यवस्था बन गई लोग विद्वान बनने लगे।

शिक्षा संस्थाओ की स्थापनायें करते समय संस्थापको को यह तनिक ख्याल भी न आया होगा कि वर्तमान का विद्यार्थी भविष्य मे धार्मिक विद्वान बनकर दर-दर के याचकों जैसा जीवन व्यतीत करने को मजबूर होगा। वे तो अनुभव करते थे कि ज्ञान का प्रचार-प्रसार स्व-पर

दोनो को हितकारी होगा—वह ज्ञानी बनकर ज्ञान के बल पर सदा सिर-मौर बना रहेगा। वे नहीं जानते थे कि ज्ञानी में भी कायरता का संचार होगा और वह इधर से उदास हो जाएगा। और समाज भी धर्म-सेवा के प्रति दगाबाज निकलेगा। इसे समाज का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा जो उक्त परिस्थिति ने विद्यार्थियो को धर्म शिक्षा से उदास कर पाश्चात्य की ओर मोड़ दिया और विद्यालय ठप्प हो गए। इस प्रकार धर्म और समाज दोनो को हानि का सामना करना पड़ा। कालेजो की शिक्षा के फल-स्वरूप डॉ० व प्रोफेसर आदि आर्थिक दृष्टि से तो मौज मे है पर, उनका धार्मिक सस्कारों व समाज से उतना लगाव नही रहा जितना चाहिए। उनमे जो कुछ थोड़ा बहुत सपर्क समाज से रखे हुए हैं उनमें अधिकाश तो लौकिकता का निर्वाह ही कर रहे हैं या समाज मे उनकी उपेक्षा है।

इस प्रकार समाज अपने में खपने वाले सच्चरित्र, धर्मज्ञ विद्वानों से दिनो दिन शून्य होता जा रहा है। समाज को चाहिए कि वह विद्वानो के लिए नही तो कम से कम धर्म और संस्कारो की रक्षा के लिए ही विद्वान तैयार करे। लेकिन शर्त यह है कि ठोस विद्वान सम्मान से जी कर ही समाज मे खप सकेगा। आज कल विद्वानों के लिए समाज मे चिन्ता व्याप्त है, इस लिए कुछ लिख दिया है। उचित हो तो समाज को इस समस्या के सुलझाने मे प्रयत्नशील होना चाहिए।

स्वागत की विडम्बना :

स्वागत शब्द बड़ा प्यारा है। ऐसे विरले ही व्यक्ति होगे जो स्वागत के नाम से खुश न होते हों, मन ही मन जिनके मनो मे गुदगुदी न उठती हो। प्रायः सभी को इसमें खुशी होती होगी—भले ही दूसरों का स्वागत होते देख कम और अपना होने पर अधिक। स्वागत अब लोक-व्यवहार जैसा बन गया है जो नेता, अभिनेता या अन्य जनो के उत्साह बढाने के लिए, उनसे कोई कार्य साधने के लिए भी निभाया-सा जाने लगा हैं। खैर, जो भी हो परम्परा चल पड़ी है—कोई स्वागत न भी करना चाहे तो उससे स्वागत कराने की गोटी बिठाने की। लोग गोटी बिठाए जाते हैं—कभी न कभी तो सफलता मिल ही जाती है और यदि न मिली तो मिल जायगी।

बड़प्पन का भाव व्यक्ति का स्वभाव-सा बन गया है। लोगों का बड़प्पन साधने के लिए जन-सभाओ में ऊँचे मच बनाए जाते है—नेताओं को बड़प्पन देने के लिए, मचों पर स्वय बैठकर अपना बड़प्पन दिखाने के लिए भी। आखिर, मच निर्माता इसी बहाने ऊँचे क्यों न बैठे? या अपने सहकर्मियो को ऊँचा क्यो न बिठाए? आखिर वे यह जो न कह बैठे कि बड़ा आया अपने को ऊँचा बिठा लिया, आदि। सो सब मिल बाँट कर श्रेय लेते है। किसी को कोई एतराज नही होता। आखिर, होते तो सभी एक थैली के चट्टे-बट्टे जैसे हो है।

हमने कई सभाओ मे आँखों से भी देखा है—स्टेज पर अपनो मे अपनो से एक दूसरे को माला पहिनते पहिनाते, पहिनवाते हुए। और लोग है कि नीचे बैठे इस ड्रामे को देख खुश होते—ताली बजाते नही अघाते—जैसे वे किसी लका को विजय होते देख रहे हो। पर, हम नही समझ पाए कि इस व्यर्थ की उठा-धरी से क्या कोई लाभ होता है?—केवल समय की बरबादी के।

उस दिन क्षमावणी पर्व था। हमें एक क्षमा-उत्सव मे जाने का प्रसग था सो हम गए। वहाँ लम्बा-चौड़ा ऊँचा स्टेज था जो हमारे पहुचने से पहिले ही लोगो से भर चुका था। हम जाकर सहज ही (जैसा हमारा स्वभाव है) जनता के साथ नीचे बैठ गये। उत्सव के तत्कालीन प्रबन्धक कई नेताओ ने आग्रह किया—कई ने हमारे हाथो को पकड़ कर हमे उठाने का प्रयत्न भी किया—ऊपर मच पर बिठाने के लिए। पर हम थे कि टस से मस न हुए और नीचे ही बैठे रहे।

मंगलाचरण और बालिकाओं द्वारा स्वागत गान गाने के पश्चात् मच पर विराजित कई लोगो को मालायें पहिनाने का क्रम चालू हुआ। अमुक ने अमुक को और अमुक ने अमुक को मालायें पहिनाई। तत्पश्चात् बोलने मे हमारा नाम पहिले पुकारा गया।

हमने कहा—कैसा पागलपन चल पड़ा है लोगो में 'परस्परं प्रशसन्ति' का। आपस मे इकट्ठे होते हैं किसी कार्य को और समय बरबाद कर देते हैं किन्हो अन्य कार्यों

में—माला आदि पहिना कर एक दूसरे का गुणगान करने में। इकट्ठे हुए क्षमावणी मनाने—परस्पर मे एक दूसरे से क्षमा याचना के लिए। पर स्वय ऊँचे बैठ गए और हमे भी ऊँचे बिठाने के आग्रह मे पड गए। भला, सोचा कभी आपने कि क्षमा अपने को ऊँचा दिखाकर-बनाकर या ऊँचे बैठकर मागी जाती है या नीचा (नम्र) बनकर? हम तो क्षमा मागने आये है—धार्मिक उत्सव मे आये है—समानता के भाव मे। इसमे तो सभी बराबर होते है या नम्र-भाव में नीचे? पर, जब नेता तक स्वागत की विडम्बना में पड उल्टा मार्ग अपना बैठे हो तब जन-साधारण क्या करे? धार्मिक समारोहों में त्यागी-व्रतियो को तो उच्चासन उचित है, माला आदि वर्ज्य होना युक्तियुक्त है। जबकि आज धर्म मे साधारण भी माला और उच्चासन के योग्य समझे जाने लगे है। तथ्य क्या है? जरा सोचिए।

नाम की महिमा आचार से है:

लोग रामनामी दुपट्टे को ओढते है ताकि दूसरे उसे पढे और उसके बहाने उनके मुख से राम का नाम निकले। लोगो का श्रद्धान है कि राम का नाम लेने से वैकुण्ठ का टिकिट मिल जाता है—वहा सीट रिजर्व हो जाती है। महाकवि तुलसीदास ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

'तुलसी अपने राम को, रीझ भजो या खीझ।
खेत पडा सब ऊगता, उल्टा सीधा बीज॥'

हम यह भी जानते है कि लगातार शीघ्रता मे उच्चारण करने मे राम और मरा दोनो मे अभेद भी हो जाता है और लोक मरा के नाम से भयभीत होता है। पर, श्रद्धा ऐसी जमी हुई है कि लोग उसी को ठीक समझते है और उनके मन मे राम नाम की महिमा समाई हुई है।

जैन मत मे नाम की महिमा तो है, पर वह गुणो के स्मरण से जुडी हुई है। णमो अरहताणं बोलने का उतना महत्त्व नही जितना उस उच्चारण के साथ उनमे विद्यमान गुणो के स्मरण—वीतरागभाव के चिन्तवन का। यदि इन दोनो के साथ उनके गुणानुरूप आचरण भी हो तब तो 'सोने मे सुहागा' चरितार्थ हो जाय। इसी बात को ध्यान मे रखकर 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र भी है।

आज लोग केवल नाम के पीछे पडे है। उन्होने नाम की रटन लगा रखी है—रामनामी दुपट्टे की तरह। कही ऋषभ का नाम प्रचारित करेगे, कही महावीर की जय बोलेंगे और कही कुन्दकुन्द के नाम की झडी लगा देगे। लोगो ने कुन्दकुन्द के नाम की धूम मचा दी, देश मे चारो ओर उनकी जय-जयकार करने की—उनके ग्रन्थों की भांति-भांति की व्याख्याएँ कर अपने मन्तव्य प्रचारित करने की—अपने नाम के लिए। शायद कइयो को इससे अच्छा अवसर और कौन-सा होगा नाम कमाने का? पर, इसके साथ ऐसे कितने है जिन्होंने कुन्दकुन्द के बताए आचार का सहस्राश भी पालन किया हो—कुन्दकुन्दवत् अन्तरग-बहिरग परिग्रह का त्याग किया हो।

गत दिनो एक विद्वान ने हमे प्रेरणा दी और हमसे अपेक्षा की कि हम अपनी प्रतिभा का उपयोग प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादन, अनुवाद आदि मे करे। भला, जब हम अकिंचन हैं तब जिनवाणी को पण्डितवाणी बनाने का दुःसाहस और पाप क्यो करे? फिर हमे नाम, यश अथवा अनुवादादि द्वारा अर्थ अर्जन करने-कराने मे आगम ज्ञान का उपयोग भी इष्ट नही। सबसे बडी बात तो यह है कि जब हम पूर्वाचार्यों की अपेक्षा उनके सहस्राश भी ज्ञान नही रखते, तब उनकी कृतियो की व्याख्या-अनुवादादि लिखना—उन्हे दूषित करना ही होगा—उनसे अधिक ज्ञाता लिखे तो लिखे। हाँ, हम अपनी समझ से मौखिक खुलासा तो कर सकते है ताकि वह रिकार्ड न बने। आश्चर्य है कि लोग अपने को आगम-ज्ञाता मान उनके अनुसार स्वय तो न चले और उनकी व्याख्या या अनुवाद कर दूसरो को चलने का मार्ग बताए और यश, अर्थार्जन तथा नाम कमाने की होड़ मे कुन्दकुन्दादि के नाम को उछाल जिनवाणी को भी विरूप करे। स्मरण रहे—उद्धार नाम से नही, आचार और परिग्रह त्याग से हो सकेगा। जरा सोचिए।

—सम्पादक

कागज प्राप्ति:—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

—पत्रिका—

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४३ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १६६०

इस अंक में—

क्रम	विषय		पृ०
१.	जिनवाणी-महिमा		१
२.	कन्नड के जैन साहित्यकार—श्री राजमल जैन		२
३.	अज्ञात जैन कवि हरिसिंह का काव्य —डा० गगाराम गर्ग		१०
४.	आ० अमृतचन्द्र का २३वां कलश —श्री मागीलाल जैन		१२
५.	सस्कृत जैन काव्यशास्त्री और उनके ग्रन्थ —डा० कपूरचन्द जैन		१५
६.	महेबा का जैन मन्दिर—श्री नरेश कुमार पाठक		२१
७.	उद्देशिक आहार—श्री बाबूलाल जैन		२२
८.	केन्द्रीय सग्रहालय गूजरी महल की प्रतिमाएँ —श्री नरेश कुमार पाठक		२३
६	जैन की पहिचान . अपरिग्रह —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सम्पादक		२४
१०.	'तीर्थङ्कर' मे प्रकाशित आरोपो का खण्डन —श्री सुभाष जैन		३०
११.	पचकल्याकणक प्रतिष्ठायें—सपादक	आवरण	२
१२.	स्त्रियो द्वारा जिनाभिषेक निषिद्ध है —श्री तेजकुमार गगवाल	आवरण	३

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

पंचकल्याणक-प्रतिष्ठाएँ

—पत्र मिला है कि पंचकल्याणकों की बहुतायत और उनमें धाँधली क्यों ? इस विषय पर हम कुछ लिखें। सो हमारी दृष्टि से पंचकल्याणकों की परम्परा शास्त्र-सम्मत और पुरानी है और स्थापना-निक्षेप से उचित है। प्रतिष्ठित मूर्ति को निमित्त बनाकर मूर्तिमान के गुणो के चिंतन में सहायता मिलती है, इसके सहारे स्व में आया जा सकता है, यह सब व्यवहार है। जब तक सांसारिक प्रवृत्ति है तब तक व्यवहार है— इसे छोड़ा नही जा सकता। यही कारण है कि संसारी होने से ही बाह्य में निश्चय के गीत गाने वाले भी इससे अछूते नहीं बचे। वे प्रारम्भ से ही निश्चय स्वरूप में रमण के बजाय पूर्णरूप से व्यवहार में फँस बैठ और "निमित्त को जुटाना नहीं पड़ता, निमित्त को बलात् स्वयं उपस्थित होना पड़ता है, आदि।" उनके कथन कोरे कथन-मात्र रह गये। फलतः मंदिर व मूर्ति निर्माण तथा पचकल्याणकों जैसे व्यवहार ने उन पर भी सिक्का जमा लिया भले ही वह लोगों के आकर्षण या अर्थ-अर्जन में रहा हो। आत्मा को दिखाने के गीत गाने वालों द्वारा ऐसे व्यवहार में आना शायद शुभचिह्न हो सकता है, यदि कार्य शुद्ध भावना से और द्रव्य से अछूता रहकर किया जाय तो। यह तो निश्चय है कि व्यवहार के बिना किसी का ज्ञान नही। संसार में व्यवहार को जुटाना और निभाना पड़ेगा पंचकल्याणक प्रथा भी व्यवहार है और इसका भी विरोध क्यों ? विरोध तो आत्म-दर्शन के नाम पर परिग्रह सचय करने वालों और परिग्रह को कसकर पकड़े बैठे आत्मदृष्टाओं का होना चाहिए, जो चारित्र से मुख मोड़े बैठे है।

हां, विरोध तब भी होना चाहिए जब पचकल्याणकों की आड़ मे धनादि संग्रह के लिए चन्दा और बोलियों की दूषित मनोवृत्ति हो। भय है कि द्रव्य-संचय की ऐसी परम्परा कहीं भविष्य मे तीर्थकरों के कल्याणकों के स्थान पर, मात्र पंचो (आयोजकों) के कल्याण-कर्तत्व का स्थान ही न ले बैठे ? क्योंकि आज की अधिकांश प्रतिष्ठाएँ किसी एक व्यक्ति की त्याग और धार्मिक भावना में, मात्र उसी के द्रव्य से संपन्न नहो होती -परिग्रह घटाने के भाव मे नही होती। अपितु खर्च निकाल कर, बचत के भाव में सामूहिक रूप में होती है। प्रतिष्ठाओं में होने वाली अनेकों बोलियां इसी का प्रतिफल है। ऐसी प्रथाएँ धार्मिक क्रियाओं को भी द्रव्याश्रित कर बैठीं और जिससे साधारण मनुष्यों को अभिषेक आदि से भी वंचित रहना पड़ा।

हमारे कथन से एकान्त रूप में यह न समझ लिया जाय कि सामूहिक आर्थिक सहयोग से होने वाली प्रतिष्ठाओं के हम पूर्ण विरोधी है। जहां प्राचीन सास्कृतिक धरोहरों की रक्षा का प्रश्न है, वहाँ हम इसके समर्थक है। क्योंकि ऐसे महान व्ययसाध्य कार्य किसी एक व्यक्ति के वश में नही। जसे बावनगजा के उद्धार, देवगढ़-मूर्ति उद्धार के कार्य, जिनके प्रेरणास्रोत वर्तमान के आचार्य श्री विद्यानन्द जी व श्री विद्यासागर प्रभृति महाराज रहे इन कार्यों के हम समर्थक हैं।

हम नये मन्दिरो के भी विरोधी नहीं; पर उनमे नई प्रतिमाओं के स्थान पर प्राचीन प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को विराजित करने के पक्षधर है, जो अन्य क्षेत्रों व मन्दिरो से लाई जा सकती है। ऐसे में वेदी-प्रतिष्ठा मात्र से काम चल सकता है। हाँ, ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिए कि कोई मन्दिर पूजा मे कभी भी अछूता न रहे। इसके सिवाय एक प्रश्न और है जो हमे सदा कचोटता रहता है कि कुछ ऐसे प्रतिष्ठाचार्य जिनमें श्रावकाचार-प्रतिमा तक भी न हो; वे प्रतिमा में जिनेश्वर को कैसे स्थापित कर देते है ? पाठक विचारे।

—सम्पादक

ओम् अर्हम्

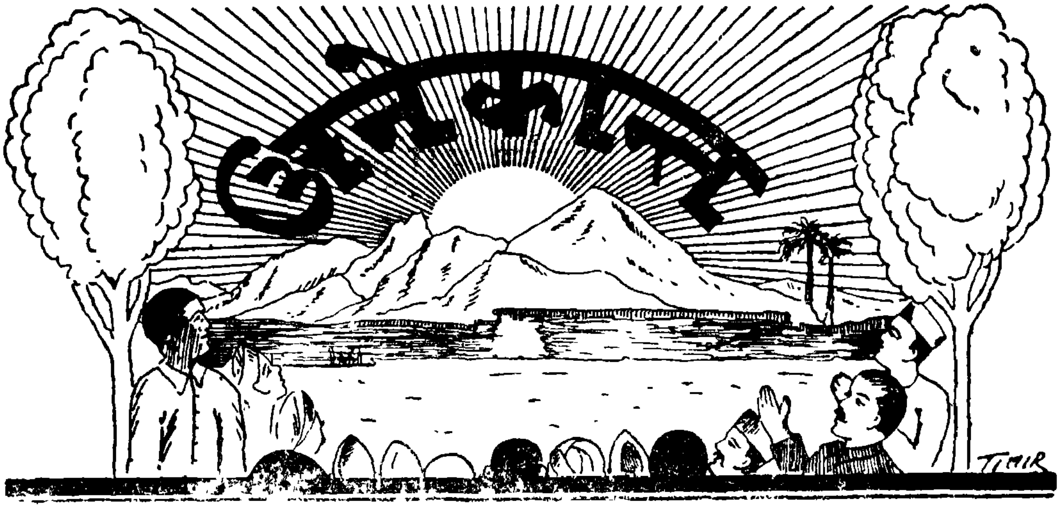

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४३ किरण ४ } वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५१७, वि० स० २०४७ { अक्टूबर-दिसम्बर १९९०

जिनवाणी महिमा

नित पीजो धी-धारी ।
जिनवानि सुधासम जान के, नित पीजो धी-धारी[1] ।
वीर-मुखारविन्द तें प्रगटी, जन्म-जरा-गद[2] टारी ।
गौतमादि गुरु उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी ।।१।।
सलिल समान कलित-मलगंजन बुधमन रंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ।।२।।
कल्यानकतरु उपवन धरनी, तरनी[3] भव-जल तारी ।
बंध विदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ।।३।।
स्व-पन स्वरूप प्रकाशन को यह भानु कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदनि-मोदन-शशिभा[4], शम-सुख सुमन-सुवारी[5] ।।४।।
जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ।।५।।
कोटि जीभसों महिमा जाको, कहि न सके पविधारी[6] ।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ।।६।।

१. बुद्धिमान, २. बीमारी, ३. नौका, ४. चांदनी, ५. बगीची, ६. इन्द्र ।

गतांक से आगे :

कन्नड़ के जैन साहित्यकार

□ श्री राजमल जैन

नेमिचन्द्र :

मार्गशैली (चंपू शैली) में रचना करने वालों मे इस युग के प्रथम कवि है "नेमिचन्द्र"। इनका समय ११७० ई० या १२०० ई० के लगभग माना जाता है। इनकी दो कृतियां हैं—१. नेमिनाथ पुराण और २. लीलावति।

नेमिनाथ पुराण में कवि ने तीर्थंकर नेमिनाथ की जीवनगाथा लिखी है। प्रसगवश उसमें श्रीकृष्ण, वसुदेव और कंसवध को भी स्थान मिला है। (स्मरण रहे, श्रीकृष्ण तीर्थंकर नेमिनाथ के चचेरे भाई थे। यह पुराण चंपू शैली में है और कंस वध के बाद ही समाप्त हो गया है, पूरा नहीं हो सका। इसलिए इसे 'अर्ध नेमि पुराण' भी कहा जाता है। शायद पूरा पुराण अभी उपलब्ध नही हुआ हो। इसमें अनेक भवो का वर्णन नहीं है किन्तु कृष्ण और कंस वध के प्रकरणों से इसमे रस-विविधता और काव्यत्व अधिक प्रकट हो सका है। इसी कारण यह एक उच्चकोटि का काव्य माना जाता है। इस पुराण की रचना कवि ने राजा बल्लाल के मंत्री पद्मनाभ की प्रेरणा से की थी।

लीलावति एक शृंगार रस प्रधान काव्य है। उसका आदर्श सस्कृत कवि सुबधु की 'वासवदत्ता' नामक कृति जान पड़ती है। इसके नायक और नायिका स्वप्न में एक-दूसरे को देखते हैं और खोज करते-करते उनका मिलन होता है।

नेमिचन्द्र को अनेक उपाधियां प्राप्त थीं जिनमे कविराज कुजर साहित्य विद्याधर और चतुर्भाषाचक्रवर्ती (सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और कन्नड) जैसी उपाधियां सम्मिलित थी। इनका स्मरण अनेक परवर्ती कवियों ने आदर के साथ किया है।

बोप्पण पंडित द्वारा रचित श्रवणबेलगोल के "गोमटेश्वर" की २७ कन्नड़ पद्यों मे "स्तुति" वहां के ११८० ई० के शिलालेख मे उत्कीर्ण है। उनके इन भक्ति-पूर्ण पद्यों की प्रशंसा परवर्ती दो कन्नड़ कवियो—आचण्ण और पार्श्व—ने अपनी रचनाओ में की है। यह रचना एक सुन्दर कन्नड़ काव्य मानी जाती है। इनकी दूसरी रचना 'निर्वाण लक्ष्मीपति नक्षत्रमालिका' है जिसमे उन्होंने शकर, विष्णु और बुद्ध को भी स्मरण कर अपनी सहिष्णुता का परिचय दिया है।

चन्द्रप्रभपुराण के रचयिता अग्गल जैन थे और इनका रचना काल ११६० ई० के लगभग माना जाता है। इसमे उन्होंने आठवे तीर्थंकर चंद्रप्रभु का जीवन चरित्र जैन मान्यता के अनुसार किया है। कन्नड़ में चद्रप्रभु सम्बन्धी यह पहला पुराण है। अनेक भवों का वर्णन कवि ने नही किया है किन्तु कुछ संस्कृत निष्ठ है। इस कारण काव्यात्मक होते हुए भी कुछ क्लिष्ट है। इस पुराण की रचना 'साहित्यविद्याविनोद' आदि उपाधिधारी अग्गल ने अपने गुरु श्रुतकीर्ति की प्रेरणा से की थी। परवर्ती के लिए जैसे आचण्ण, पार्श्व आदि ने इनकी प्रशंसा की है।

कवि **आचण्ण** भारद्वाज गोत्रीय थे किन्तु जैन थे। उन्होंने १. "वर्धमानपुराण और २. श्रीपदाशीति नामक दो रचनाये कन्नड़ मे प्रस्तुत की है।

वर्धमानपुराण मे आचण्ण ने चौबीसवे तीर्थंकर महावीर का जीवन-चरित्र कन्नड़ में निबद्ध किया है। इस भाषा में महावीर स्वामी का यह पहला जीवन-परिचय है। आचण्ण के पिता और उनके मित्र ने यह पुराण प्रारम्भ किया था किन्तु इसको पूर्ण किया आचण्ण ने। इस कृति मे कवि द्वारा शब्दालकारो की अपूर्व छटा है। स्पष्ट ही इसमें शांत रस का प्राधान्य है। इसमे कवि ने तत्कालीन कन्नड़ छंदों यथा रगले, त्रिपदी आदि का भी प्रयोग किया है। पुराण में महावीर के पूर्व भवो का भी

वर्णन है।

श्रीपदाशीति में आचण्ण ने णमोकार मंत्र या पंच-नमस्कार मंत्र की महिमा का भक्तिपूर्ण गान किया है।

कवि आचण्ण को 'वाणीवल्लभ' उपाधि प्राप्त थी।

बंधुवर्म—एक ऐसे कवि बारहवी सदी के आसपास हो गए है जिन्होने पुराण और सिद्धांत-कथन दोनो पर लेखनी चलाई है। इनके दो ग्रंथ हैं—१. 'हरिवंशाभ्युदय और २. जीवसबोधने। पहले ग्रंथ मे बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-चरित्र लिखने के साथ ही साथ श्री कृष्ण की कथा भी तीर्थंकर के पारिवारिक सम्बन्ध के कारण आ जाती है। कवि की शैली लालित्यपूर्ण तथा कल्पनाये आकर्षक हैं।

जीवसंबोधने में कवि ने बारह भावनाओं (अनु-प्रेक्षाओं) का नीतिबोधक विवेचन बारह परिच्छेदों मे किया है। प्रत्येक परिच्छेद के प्रारम्भ मे कवि एक सिद्धांत का निरूपण करता है और बाद में उसका समर्थन एक कथा से। इस प्रकार यह एक रोचक रचना है। श्री भुजबली के शब्दों में, "अध्यात्म-प्रेमी जैनेतर विद्वान् भी इस ग्रंथ की मुक्तकंठ से प्रशसा करते हैं।" उनके बाद के कवियो ने भी बंधुबर्म की प्रशंसा की है किन्तु उन्होंने अपने से पूर्व के कवियों का स्मरण नहीं किया बल्कि अपनी प्रशसा स्वयं की है। उनकी सुन्दर उक्तियां तथा कहावतें भी इसे आकर्षक बनाती हैं।

पार्श्वपंडित ने कन्नड़ भाषा मे 'पार्श्वनाथ पुराण' की रचना की जो कि इस भाषा में पार्श्वनाथ सम्बन्धी पहला पुराण है। इसका रचनाकाल १२२२ ई० माना जाता है। पुराण में कवि ने पार्श्वनाथ और तीर्थंकर-पर्याय का जैन परम्परानुसार वर्णन किया है। इस चंपू काव्य में कवि ने ऋतुओ का मनोहारी वर्णन करने के अतिरिक्त सुन्दर चरित्र-चित्रण किया है। इसमे कमठ का चरित्र विशेष-रूप से आकर्षक बन पड़ा है। ये संगीत एव नृत्य के भी विशेषज्ञ थे यह इनकी रचना से स्पष्ट प्रतिभासित होता है। इन्हें भी, कविकुल तिलक, विविधजन मनःपद्मिनी पद्ममित्र जैसी उपाधियां प्राप्त थी। अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में इन्होने संस्कृत, प्राकृत एवं कन्नड़ के प्रसिद्ध कवियों का स्मरण किया है।

जन्न—कवि का काल तेरहवी सदी का पूर्वार्ध माना जाता है। ये जैन थे और कन्नड साहित्य के इतिहास में इनका स्थान इसी भाषा के आदि कवि पम्प के समान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इनका सबध अपने युग की प्रसिद्ध साहित्यिक एवं आध्यात्मिक) हस्तियों से था। ये होयसल नरेश वीरवल्लाल नरसिंह के दरबार के प्रमुख व्यक्तित्व थे। स्वयं अपने संबध मे कवि ने लिखा है कि, 'मैं खडा होने पर दण्डाधीश (सेनापति) बैठने पर मंत्री और लिखने लगू तो कवि हूं।" उपर्युक्त नरेश से इन्हें कविचक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई थी। श्री दक्षिणा-मूर्ति के शब्दों में, "कन्नड़ साहित्य-साम्राज्य के तीन ही कवि चक्रवर्ती है—पोन्न, रन्न एवं जन्न। कवि सम्राट् अथवा कवि चक्रवर्ती की उपाधि जन्न के लिए सर्वथा उपयुक्त है।" काव्य के अतिरिक्त ये व्याकरण, नाटक तथा अध्यात्म के भी पारंगत विद्वान् थे। इन्हें 'राजविद्वत्कला-हंस' जैसी अनेक उपाधियां प्राप्त थीं। इन्होंने कुछ जैन-मंदिरों का भी निर्माण कराया था। आर्थिक स्थिति अच्छी होने के कारण इन्होंने अपने को "सौभाग्य संपन्न" कहा है।

कवि जन्न की दो रचनायें प्रसिद्ध हैं—१. यशोधर-चरिते (रचनाकाल १२०९ ई०) तथा २. अनन्तनाथ पुराण (१२३० ई०)।

राजा यशोधर और उसकी रानी अमृतमति की कथा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा तमिल आदि भाषाओं में अनेक लेखकों ने निबद्ध की है। उसका मुख्य स्वर यह है कि संगीत कामवासना जगाता है। उसीके कारण मधुर संगीत के गायक किन्तु कुबड़े महावत अष्टावक्र से रानी अमृतमति उससे प्रेम करने लगी थी और जब राजा यशोधर ने यह देख लिया तो उसे वैराग्य हो गया। राजा यशोधर और उसकी माता, भाई, बहिन के रूप में जन्म लेते हैं। राजा मारिदत्त उनकी बलि चंडिका को देना चाहता है। किन्तु इन भाई-बहिन से उनकी पूर्वभव की कथा सुनकर राजा हिंसापूर्ण बलि का विचार त्याग देता है। इस प्रकार इस कथा में कामवासना और हिंसा-पूर्ण पशु-बलि से विरुचि उत्पन्न की गई है।

कथानक परम्परागत होते हुए भी जन्न ने उसमें

प्राण डाल दिए हैं। श्रृंगार, रौद्र और शांत रसों का सुन्दर चित्रण करने के साथ ही उन्होने चरित्र-चित्रण में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। श्री दक्षिणामूर्ति के अनुसार, "स्मरण रखना चाहिए कि जन्न की यह कृति उनकी कल्पना की उच्चता, सौदर्यप्रियता, औचित्य निर्वहण आदि के कारण धर्म या सम्प्रदाय की परिधि लांघकर श्रेष्ठतम काव्य की श्रेणी मे आ गई है।"

अनतनाथ पुराण में १४वें तीर्थंकर अनन्तनाथ की पुण्य जीवन-गाथा चंपू-शैली में वर्णित है। परपरा के अनुसार चित्रण करने पर भी कवि ने इसमे पचकल्याणको तथा जैन सिद्धांतो का कवित्वपूर्ण, मार्मिक एव आकर्षक वर्णन कर इसे भी एक प्रौढ़ काव्य बना दिया है। इसकी रचना हलेबिड के शातीश्वर जिनालय मे हुई थी।

गुणवर्म द्वितीय का काल १२३५ ई० के लगभग माना जाता है। इसके आश्रयदाता कार्तवीर्य नरेश के सामंत शांतिवर्म थे। ये जैनधर्मानुयायी थे। इसके अतिरिक्त अन्य तथ्य ध्यान नही है। इनकी दो रचनायें—१. "पुष्पदंतपुराण" और २. "चंद्रनाथाष्टक" है।

पुष्पदंतपुराण मे तीर्थंकर पुष्पदंत की जीवन-गाथा निबद्ध है। इसमें भवावलियां सम्मिलित नही की गई है इसलिए कथानक संक्षिप्त है। चपू-शैली मे ग्रथित इस काव्य में कवि ने कन्नड़ मे प्रचलित कहावतो, अलकारो आदि से सवारा है। इसी प्रकार संस्कृत के 'काकतालीय' आदि न्यायो का भी उन्होंने यथावसर समावेश किया है। इस प्रकार उन्होने तीर्थंकर की सक्षिप्त-सी उपलब्ध जीवनी को एक आकर्षक और प्रौढ़ काव्य का रूप दिया है।

चन्द्रनाथाष्टक की रचना गुणवर्म ने कोल्हापुर स्थित त्रिभुवनतिलक जिनालय के चंद्रप्रभु की स्तुति के रूप में की है जिसका प्रत्येक पद्य चन्द्रनाथ से प्रारम्भ होता है। इस स्तुति मे ८ पद्य है।

कमलभव नामक कवि अपनी रचना "शांतीश्वर पुराण" के लिए विख्यात हैं। इनका आविर्भाव काल १२३५ ई० अनुमानित है।

शांतीश्वरपुराण में कवि ने १६वें तीर्थंकर का शांतिनाथ का शांतिदायक जीवन काव्य में गूंथा है जिसमें उन्होंने अपने से पूर्व के कवियों एवं आचार्यों का स्मरण किया है। इस पुराण मे पुराण काव्य के सभी लक्षण घटित होते है तथा कवि की कल्पना वर्णन-चातुर्य आदि गुण प्रतिभासित होते हैं।

नेमिनाथपुराण के रचनाकार हैं **कवि महाबल**। इनका गोत्र भारद्वाज था। इस पुराण की रचना के बारे मे कवि ने लिखा है कि उन्होने यह पुराण 'श्रुताचार्य आदि की उपस्थिति मे सुनाकर अपने शिष्य लक्ष्म से लिखवाया है। इन्हे 'सहजकविमनोगेहमाणिक्यदीप' आदि उपाधियां प्राप्त थी।

उपर्युक्त पुराण भी चपू शैली मे रचित हैं और १६ आश्वासो मे विभक्त है। इस पुराण मे तीर्थंकर नेमिनाथ की जीवन-गाथा निबद्ध है। परंपरानुसार कथन होने पर भी इसमे कवि का पाण्डित्य झलकता है। स्वय कवि ने भी अपने चातुर्य की प्रशसा की है।

धर्मनाथपुराण—तीर्थंकर धर्मनाथ के जीवन को लेकर दो कवियो ने अलग-अलग समय में धर्मनाथपुराण लिखे। ये कवि हैं बाहुबलि (लगभग १३५२ ई०) और मधुर (१३८५ ई०)।

बाहुबलि को 'उभयभाषाकवि चक्रवर्ती' की उपाधि प्राप्त थी। उनके पुराण को एक प्रौढ़ रचना माना जाता है।

मधुर द्वारा रचित धर्मनाथ पुराण के केवल चार आश्वास ही प्राप्त हुए जिनमें कवि की वर्णन-स्वाभाविकता झलकती है। इन्होंने गोम्मटस्तुत्याष्टक की भी रचना की थी।

पुराण-लेखन परम्परा का अंत—ऐसा लगता है कि चौदहवी शताब्दी के अन्त मे अर्थात् कवि मधुर के बाद कन्नड़ मे लेखकों का प्रिय विषय तीर्थंकर-पुराण की रचना ही बन्द हो गई। जैन लेखकों ने चंपू-शैली मानों त्याग दी। और अपने रचना-विषय भी बदल दिए। इस प्रकार शास्त्र और पुराण काव्य की एक परम्परा इस युग के साथ लगभग लुप्त हो गई। विषय के साथ ही छदो के प्रयोग और शैली (मार्ग या चंपू शैली का प्रयोग कम हो जाना) तथा संस्कृत या कन्नड-सस्कृत के स्थान पर अधिकांश रचनाओ मे कन्नड या देसी शैली का प्रचलन का

युग उपर्युक्त सदियों के बाद कन्नड़ के इतिहास में प्रारंभ हुआ।

आंडय्य—का समय लगभग १२३५ ई० है। इन्होंने एक ध्वनिकाव्य लिखा है जिसका नाम 'कब्बिगर काव' (कवियों का रक्षक) या मदन विजय है। यह काव्य न तो तीर्थंकर जीवनी है और न ही कोई लौकिक कथा। इसमे कवि ने वैदिक ग्रथो मे उपलब्ध शिव और कामदेव की कथा को जैन जामा पहनाया है। काव्य मे वर्णित है कि शिव ने कामदेव के परिवार के सदस्य चन्द्रमा को चुराया इस पर काम ने बाण चलाकर शिव को अर्धनारीश्वर बना दिया। किन्तु कुछ दिनो कामदेव अज्ञात रहा। जब उसका सामना एक जैन मुनि (श्रमण) से हुआ तो वह थरथर कांपने लगा और उनके चरणो मे नतमस्तक हो गया। इस प्रकार काव्य में यह व्यजित किया है कि काम को विरक्ति या तपस्यापूर्ण जीवन द्वारा विजित किया जा सकता है और जब एक मुनि मे इतनी शक्ति हैं तो तीर्थंकर में कितनी शक्ति होगी।

कन्नड में आंडय्य का स्थान उनकी भाषा शैली के लिए भी है। कन्नडभाषियों के अनुरोध पर उन्होने इस काव्य की रचना यह दिखाने के लिए की थी कि संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किए बिना शुद्ध या 'ठेठ कन्नड में भी काव्य की रचना की जा सकती है।

मल्लिकार्जुन (मल्ल और मल्लप्प नाम से भी विख्यात) ने एक अनूठा संकलन तैयार किया जो कि "सूक्ति सुधार्णव' नाम से प्रसिद्ध है। अपने को 'सरस कवि' और 'महाकवि' कहने वाले मल्ल ने इस रचना मे २८ कवियो से २२०० पद्य संकलित किए है जिनमे उनके अपने पद्य भी सम्मिलित है। ये पद्य समुद्र, ऋतुओ, युद्ध, प्रेम, और चादनी आदि अनेक विषयो के अन्तर्गत सकलित किया है। इस प्रकार यह ग्रथ कन्नड साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनका समय लगभग १२४५ ई० माना जाता है।

केशिराज (१२६० ई० के लगभग) उपर्युक्त कवि मल्ल के पुत्र थे। इन्होंने 'शब्दमणिदर्पण' नामक एक कन्नड व्याकरण की रचना की है। इसके सूत्र पद्य में हैं और वृत्ति गद्य में। अपने से पहले के कवियों से उद्धरण लेकर अशुद्धियों को दर्शाना, मार्ग काव्य के प्रयोगो को शुद्ध बनाना तथा कुछ नवीन प्रयोगों को भी मान्यता देना उनका लक्ष्य था। अपभ्रंश को भी उसमे स्थान मिला है। अपने पिता द्वारा संकलित काव्यांशों से भी उन्हें सहायता मिली होगी। उनका व्याकरण शुष्क नहीं, सरस है। केशिराज का दावा है कि उनका व्याकरण "लक्ष्मीदेवी का सुन्दर सरस दर्पण और सरस्वती की द्वितीय दर्पण" है।

श्री सिद्धगोपाल के अनुसार, "हस्तिमल्ल" ने "पूर्व पुराण" लिखा है जो इस युग का एकमात्र शुद्ध ग्रंथ है। इसके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नही है।

कुमुदेंदु रामायण के रचयिता कुमुदेन्दु हैं। इनका समय १२७५ ई० के लगभग माना जाता है। यह षट्पदी छद मे लिखी गई है और जैन परम्परा के अनुसार निबद्ध है। विद्वानों की राय है कि इस पर पंप रामायण का काफी प्रभाव है।

रट्ट कवि (लगभग १३०० ई०) ने "रट्टमत या रट्ट सूत्र" की रचना की है। इन्होने अपने ग्रथ का विषय प्राकृतिक घटनाओं—यथा वर्षा, बिजली, भूकप, आकाशीय ग्रह और शकुन आदि को बनाया है। इसका अनुवाद १४वी सदी मे तेलुगू मे कवि भास्कर ने किया था।

नागराज ने सस्कृत ग्रथ पुण्याश्रव (कथाकोश) का कन्नड में रूपातर किया जो कि 'पुण्याश्रव कथा' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रचना उन्होने अपने गुरु की आज्ञा से नगर के निवासियों के कल्याणार्थ की थी। इसमे देव, गुरू स्वाध्याय, सयम, तप आदि गुणो का विवेचन करते हुए ५२ पुण्य पुरुषो की कथाए सग्रहीत हैं। इनका शैली देसी है और वर्णन मे स्वाभाविकता एव लालित्य है। यह केवल अनुवाद ही नहीं है। इन्हें भी "भारतीभालनेत्र" और 'सरस्वतीमुखतिलक' जैसी उपाधिया प्राप्त थीं जो कि उनकी काव्यशक्ति के कारण ही दी गई होंगी। इनका समय १३३१ ई० के आसपास हैं।

'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामक वैद्यक ग्रंथ के रचयिता 'मंगरस या मंगराज' हैं। ये १३६० ई० के आसपास हुए हैं। इनका दावा है कि जनता के निवेदन पर उन्होंने इस

ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें औषधियों के साथ ही साथ यंत्रो-मंत्रों का भी विधान है। उनका मत है, "औषधियों से आरोग्य, आरोग्य से देह, देह से ध्यान और ध्यान से मोक्ष प्राप्त है। इसीलिए मैं औषधशास्त्र को बतला रहा हूं।" वैद्यक ग्रंथ होते हुए भी उनकी रचना मे काव्योचित गुण है और उनकी शैली आकर्षक है।

कन्नड़ में "रत्नकरंड" लिखने का श्रेय "आयतवर्मा" (लगभग १४७० ई०) को है। उन्होंने संस्कृत रत्नकरंड-श्रावकाचार को आधार बनाकर चपू शैली में रत्नत्रय के सिद्धांतों और कथाओं का आधार बनाकर चपू शैली में रत्नत्रय के सिद्धांतो और कथाओं का निरूपण किया है।

इसी युग के कुछ अन्य लेखकों का सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

माघनन्दि ने "शास्त्रसार समुच्चय" और "पदार्थ-सार' नामक संस्कृत ग्रन्थों की टीका कन्नड़ भाषा मे निबद्ध की।

वृत्तविलास नामक लेखक ने "धर्मपरीक्षा' (संस्कृत) का कन्नड़ में अनुवाद किया।

वैष्णव युग या कुमारव्यास युग

कन्नड़ साहित्य के इतिहास में इस युग की अवधि १५वीं से १६वीं सदी तक निर्धारित की गई है। इसमें वैष्णव साहित्य की प्रधानता रही इसलिए यह वैष्णव युग कहलाता है। कन्नड़ के प्रसिद्ध कवि कुमारव्यास (रचना कन्नड़ भारत) थे इसलिए यह उनके नाम पर कुमारव्यास युग के नाम से भी जाना जाता है। इस युग मे जैन साहित्य भी आगे बढ़ा किन्तु उसके स्वरूप में परि-वर्तन आया। श्री मुगलि के शब्दों मे "जैन साहित्य" अपने पुराने आडम्बर और दिखावे को छोड़कर सरल "गेय काव्य" के रूप में आगे बढ़ा।" यह युग कर्नाटक में विजयनगर साम्राज्य प्रसिद्धि का था। उनके आश्रय से भी कन्नड़ साहित्य खूब फला-फूला। मैसूर के ओडे पर राजवंश के प्रमाद से भी कन्नड़ साहित्य समृद्ध हुआ।

जैन कवियों ने इस युग मे नवीन छदो जैसे षट्पदि सांगत्य (कन्नड़ का अपना छद) तथा भामिनी छंदों को अपनाया। मूडबिद्री के जैन कवि रत्नाकर वर्णि ने सांगत्य छंद (गाने योग्य छंद) में ही अपने काव्य 'भरतेश वैभव" की रचना की है। जैन रचनाकारों ने इस काल में चरित्र-ग्रंथ (जैसे जीवंधर चरिते) अधिक लिखे।

पृष्ठभूमि के रूप मे यह ध्यान रखना चाहिए कि इस काल में कर्नाटक मे जैनो को वैष्णवो और शैवों के विरोध का सामना करना पड़ा था और विजयनगर नरेश हरिहरराय बुक्का जैसे शासको ने सांप्रदायिक शांति और सद्भाव के लिए प्रयत्न किए थे।

कन्नड़ में "जीवंधरचरिते" के लेखक हैं कवि "भास्कर"। इसकी रचना १४२४ ई० में हुई है ऐसा माना जाता है। इसे उन्होने पेनुगोण्डे के शांतीश्वर जिनालय मे लिखा था। जीवंधर की कथा संस्कृत की मूल जैन कथा को लेकर भी उन्होंने इसे अपनी कल्पना-शक्ति और सरस शैली से आकर्षक बना दिया है। श्री मुगलि के अनुसार "जीवन्धरचरित्र" कल्पना के सौष्ठव और शैली के लालित्य से यथाशक्ति अच्छा काव्य बन गया है।"

कल्याणकीर्ति का आविर्भाव समय पंद्रहवी सदी का मध्यकाल है। इनके अनेक ग्रन्थ हैं—"ज्ञानचद्राभ्युदय" जिसका रचनाकाल १४३६ ई० माना जाता है में कवि ने यह दर्शाया है कि राजा ध्यानचन्द्र ने किस प्रकार अपना कल्याण किया।

उपर्युक्त कवि की दूसरी प्रसिद्ध रचना "कामनकथे" है जो कामकथा से सम्बन्धित है। इनकी अन्य रचनाएं है—अनुप्रेक्षे, जिनस्तुति और तत्वभेदाष्टक तथा सिद्ध-राशि। ये रचनाये भामिनि और षट्पदि छदो में है।

बारह भावनाओं का वर्णन "विजयण्ण" ने सांगत्य छंद (गेय छंद) में 'द्वादशानुप्रेक्षा' मे किया है। उसका रचनाकाल १४५० ई० माना जाता है। सरल शैली में कन्नड़ में अनुप्रेक्षाओं संबंधी यह रचना कन्नड़ की सम्भवतः प्रथम रचना है। विजयण्ण मूडबिद्री के निवासी थे।

शिशुमायण का समय १४७२ ई० है। इनकी दो प्रसिद्ध रचनायें हैं—१. "त्रिपुरदहनसांगत्य" तथा २. "अन्जनाचरिते।

शैवमत में त्रिपुरदहन की कथा प्रसिद्ध है किंतु प्रस्तुत कवि ने इसको जैनमतानुसार एक नया रूप दिया है। श्री भुजबलि के अनुसार "कवि ने जिनेश्वरदेव को जन्म-जरा-मरणरूपी त्रिपुरो का संहारकर्ता बतलाया है। तदनुकूल कवि ने मोहासुर को त्रिपुर का राजा, माया को उसकी रानी; मनुष्य, देव, त्रियंच और नरक गतियों को चार पुत्र; क्रोध लोभादि को उसका मत्री तथा नानाविध कर्मों को उसका परिवार निरूपित किया है।···जिनेश्वरदेव के ललाट पर केवलज्ञानरूपी तीसरा नेत्र प्रकट होता है जिसके द्वारा त्रिपुर (मोहासुर) सपरिवार पराजित कर दिया जाता है। परम जिनेश्वरदेव ने मोहासुर को मारा नहीं, बल्कि हाथ-पैर बांधकर उसे अपने चरणों मे झुकाया और स्वतन्त्र छोड़ दिया। इस प्रकार कवि ने इस काव्य में जिनेश्वरदेव को शिव से अधिक दयालु सिद्ध किया है।"

'अन्जनाचरिते' मे कवि ने सती अजना की प्रसिद्ध कथा विस्तार से एव स्वाभाविक शैली में प्रस्तुत की है।

बोम्मरस ने (१) सनत्कुमारचरिते और (२) जीवधर सांगत्य नामक दो रचनाये कन्नड़ मे प्रस्तुत की हैं। इनका काल लगभग १४८५ ई० माना जाता है। सनत्कुमार-कथा को नवीन एव स्वाभाविक ढग से प्रवाहपूर्ण शैली मे कवि ने निबद्ध किया है। इस कथा मे उन्होने "भक्ष्य-भोज्य" पदार्थों का वर्णन इतना किया है कि कुछ विद्वान् उन्हें भोजनप्रिय अनुमानित करते है।

जीवधर सांगत्य में बोम्मरस ने प्रसिद्ध जीवधर कथा को सुन्दर, सरल शैली मे निरूपित किया है।

कोटीश्वर—एक और कवि है जिन्होने "जीवधर चरिते" लिखा है जिसका रचनाकाल १५०० ई० के लगभग माना जाता है। यह भामिनि षट्पदि मे है और अपूर्ण है।

सन् १५५९ ई० मे "नेमन्ना ने "ज्ञानभास्करचरिते" की रचना की। कवि ने उसमे यह प्रतिपादित किया है कि बाहरी विधि-विधान की अपेक्षा शास्त्रों का अध्ययन-मनन अधिक श्रेयस्कर है।

मंगरस द्वितीय ने "मंगराजनिघंटु" नामक ग्रथ की रचना की है।

मंगरस तृतीय का समय १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इन्होने अपने पिता को 'रणकभिनवविजय' कहा है जिससे वे योद्धा मालूम पड़ते हैं।

इनके छ: ग्रन्थ हैं—१. "जयनृपकाव्य" जिसमें इन्होने भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमार की कथा निबद्ध की है। यह मुख्य रूप से शृंगाररस प्रधान रचना है जिसमे कल्पना और प्रवाह का सयोजन है। २ सम्यक्त्व कौमुदी—इसकी कथायें गौतम गणधर द्वारा राजा श्रेणिक को सुनाई गई थी। इन्हीं कथाओ से राजा उदितोदित को सम्यक्त्व एव स्वर्ग की प्राप्ति हुई थी। नीतिमूलक उपदेशो के साथ इसमे अनेक उपकथाये पिरोई गई है जो सुन्दर बन पड़ी है। ३. "श्रीपालचरिते" नामक इनके ग्रथ मे श्रीपाल की प्रसिद्ध कथा आकर्षक ढंग से ग्रन्थित है। ४. "प्रभजनचरिते" नामक अपूर्ण काव्य-ग्रन्थ मे सरस ढग से प्रभजन की गाथा निबद्ध की गई है। ५. "नेमिजिनेश सगति" मे तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। उसमे युद्ध का मनोहारी वर्णन है। ६. "सूपशास्त्र" मे कवि ने विभिन्न प्रकार के पाक बनाने की विधियां बताई है। यह स्त्रियोपयोगी है।

अभिनववादि विद्यानन्द भी सोलहवी सदी के पूर्वार्ध के कवि हैं। इन्होंने अपनी रचना 'काव्यसार' मे ११४० पद्यो का सार-सकलन किया गया है। श्री भुजबली शास्त्री ने लिखा है, "विद्यानंद का 'दशमलयादि महाशास्त्र' नामक एक ग्रथ मुझे उपलब्ध हुआ है। यह ग्रथ प्राकृत, संस्कृत और कन्नड़ भाषा मे लिखित है। इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।"

रत्नाकर वर्णि—सोलहवी शताब्दी के मध्यभाग में हुए है। वे इस युग के कन्नड़ साहित्य के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। वे क्षत्रिय थे और मूडबिडी मे जन्मे थे। उन्होने वहा के भट्टारक चारुकीर्ति से 'दीक्षा' ली थी। उन्होंने योग में भी कुशलता प्राप्त की थी। उनके रोमांस और मन-परिवर्तन के सम्बन्ध मे अनेक दन्तकथायें प्रचलित हैं। सभव है, वे रंगीले व्यक्तित्व और स्वतत्र विचारों के व्यक्ति रहे हों। वे "रत्नाकरसिद्ध" और "रत्नाकर तथा अण्ण" नामों से भी प्रसिद्ध थे। जो भी हो, वे प्रतिभाशाली कवि थे। इसीकारण उन्हें इस युग का 'कन्नड़ कोकिल' कहा गया है। उनका प्रिय रस शृंगार

था। कुछ विद्वान् उन्हें 'शृंगार रस का सम्राट्' मानते हैं जिसका परिचय 'भरतेश वैभव' में प्रचुर मात्रा मे मिलता है।

वर्णि की रचनायें हैं—१. त्रिलोक शतक २. अपराजितेश्वर शतक ३. रत्नाकराधीश्वर शतक और सर्वश्रेष्ठ कृति 'भरतेश वैभव'। इनके अतिरिक्त रत्नाकर ने लगभग २००० आध्यात्मिक गीत भी लिखे है जो 'अण्णन पद गलु' (बड़े भाई के पद) कहलाते है। उनमे से बहुत-से आज लोकप्रिय हैं।

त्रिलोकशतक मे कवि ने जैन मान्यता के अनुसार सृष्टि वर्णन रत्नाकर ने कद नामक पद्य मे किया है।

अपराजितेश्वरशतक में पद्यो मे कवि ने नीति, वैराग्य और आत्मानुभूति सम्बन्धी मार्मिक विचार व्यक्त किए हैं।

रत्नाकरशतक की रचना में भी कवि का लक्ष्य नीति या उपदेश है। उसमे भी उनकी ओजस्विनी एव स्वतंत्र-चेत्ता वाणी मुखरित हुई है।

रत्नाकर की सर्वश्रेष्ठ कृति है 'भरतेश वैभव'। इसमे भगवान आदिनाथ के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत के वैभवपूर्ण जीवन का किन्तु उसके साथ ही उनकी त्यागपूर्ण जीवन-शैली का कवि ने दस हजार पद्यों मे वर्णन किया है। उनका दावा था कि उन्होने इसे केवल नौ माह मे पूर्ण किया है।

अपने उपर्युक्त महाकाव्य का प्रारम्भ ही रत्नाकर ने भरत के राजदरबार मे सगीत-सभा और अध्यात्म चर्चा से किया है। उन्होने भरत और बाहुबलि युद्ध नहीं बताया बल्कि यह लिखा है कि भरत ने अपने मीठे वचनो से ही बाहुबलि को अपने वश में कर लिया था। तीर्थंकरो के पंचकल्याणक होते है किन्तु रत्नाकर ने भरत चक्रवर्ती के भी पचकल्याणक बना दिए है। ये हैं—१. भोगविजय २. दिग्विजय (वर्णि ने भरत को दयालु विजेता बनाया है) अर्ककीर्तिविजय (जिनसेन का भरत कठोर है) ४. योगविजय और ५. मोक्षविजय। इस प्रकार की नई कल्पनायें करके रत्नाकर ने परंपरागत भरत-चरित्र को उलट-पुलट कर दिया। इस कारण उन्हें सामाजिक विरोध का भी सामना करना पड़ा। वे वीरशैव हो गए जब क्रोध शांत हुआ तो पुनः जैनधर्म मे दीक्षित हो गए।

रत्नाकर ने यह काव्य चक्रवर्ती भरत के (जिसके नाम पर यह देश भारत कहलाता है) समन्वयात्मक, भव्य एवं अलोकिक जीवन को चित्रित करने के लिए लिखा है। काव्य के प्रारम्भ मे ही उन्होंने कहा है, "असंख्य राज्य सुखों मे स्नान करके, वसुधा को प्रसन्न करके, जिनयोगी बनकर, क्षण भर मे कर्मों का नाश करके जिन पदवी को प्राप्त करने वाले राजश्रेष्ठ के वैभव की कहानी सुनो।" इस प्रतिज्ञा के अनुसार उन्होने भरत को भोगी होते हुए भी योगी, राज्य करते हुए भी त्यागी या विरक्त, सासारिक होते हुए भी आध्यात्मिक-साधक और एक आदर्श राजा तथा मानव के रूप मे हमारे सामने उपस्थित किया है। अपने चरित्रनायक को कहीं भी हीन स्थिति मे नहीं दिखाया यहां तक कि बाहुबलि के प्रसग मे भी। अपनी ९६ हजार रानियो के साथ और इन रानियों के जीवन का भी शृंगारपूर्ण चित्रण 'भोग-विजय' नामक अधिकार मे किया है। जिसके विषय मे श्री मुगवि ने लिखा है, "वही उनकी महान् कवित्व शक्ति का परिचायक है और कन्नड़ साहित्य ससार के लिए नवीन रस सृष्टि है।"

यह भी स्मरणीय है कि भरत के जीवन को अपनी रचना का विषय बनाने मे रत्नाकर ने केवल शृंगार की ही प्रधानता नही दर्शाई किन्तु भरत के त्याग और आत्म-चिन्तन मे लीन व्यक्तित्व को भी उभारकर शांतरस या अध्यात्मरस की भी उतनी ही प्रतिष्ठा की है। अन्तर केवल इतना ही है कि, "कवि सांसारिक भोग-विलास को आध्यात्मिक विकास का आत्यन्तिक विरोधी नही मानता" तथा "वस्तुतः भोग और त्याग मे अविरोध प्रदर्शित कर —"भोग और योग के मध्य समन्वय करना ही महाकवि रत्नाकर के काव्य का एकमात्र लक्ष्य है।" (श्री भुजबलि)।

कन्नड साहित्य मे रत्नाकर का एक विशिष्ट स्थान है। श्री मुगवि के अनुसार, 'भरतेशवैभव' रत्नाकर का भव्य भावगीत है उनके जीवन-दर्शन का सुन्दर प्रतीक प्रतीत होता है। कन्नड़ साहित्य ससार मे पम्प, हरिहर और कुमार व्यास के समकक्ष खड़े होने वाले कवि

रत्नाकर ही हैं। जनता की वाणी और संगीत ने उनकी कृति में अपनी सिद्धि प्रदान की है।"

सोलहवीं सदी के मध्य में "दोड्डय्य" ने 'चंद्रप्रभुचरितम्' की रचना की जिसका आधार आचार्य गुणभद्र का उत्तर पुराण है। रचना साधारण मानी जाती है और कवि का समय भी अनुमानित है।

बाहुबलि का काल १५६० ई० माना जाता है। ये अपनी रचना 'नागकुमारचरिते' के लिए प्रसिद्धि है जो कि ३७०० पद्यों में है। उन्होंने यह कृति राजा भैरवेन्द्र तथा भट्टारक ललितकीर्ति की प्रेरणा से लिखी थी।

श्री भुजबलि शास्त्री ने १६वीं सदी के अन्य जैन लेखकों का परिचय संक्षेप में दिया है। वह यहाँ उद्धृत किया है—"१६वीं शताब्दी के अन्य जैन काव्य लेखकों में 'विजयकुमारिक थे' के रचयिता श्रुतकीर्ति,, चन्द्रप्रभषट्पदि के रचयिता दोड्डणांक, शृंगारप्रधान, 'सुकुमार चरिते' के रचयिता पद्मरस और 'वज्रकुमारचरिते' के रचयिता ब्रह्म कवि प्रमुख हैं। ई० सन् १६०० में देवोत्तम ने 'नानार्थरत्नाकर' नाम से और शृंगार कवि ने 'कर्णाटक-संजीवन' नाम से दो निघंटुओं की भी रचना की है। कवि शांतरस ने योगशास्त्रविषक 'योगरत्नाकर' नामक एक सुन्दर योगशास्त्र भी लिखा है।"

भट्टाकलंक का समय १६०४ ई० माना जाता है। ये संस्कृत और कन्नड़ के निष्णात पंडित थे। दोनों ही भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ये अपनी 'कर्णाटकशब्दानुशासन' के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने केवल ५६२ सूत्रों मे ही सारा व्याकरण लिख डाला है। विशेषता यह है कि इन्होंने कन्नड़ भाषा का व्याकरण संस्कृत में लिखा है। अपने व्याकरण पर इन्होंने 'भाषा मंजरी' नामक वृत्ति और 'मंजरीमकरद' नामक व्याख्या संस्कृत में प्रस्तुत की है।

सत्रहवी सदी में कन्नड़ जैन साहित्य में एक नवीन प्रवृत्ति जगी। श्रवणबेलगोल की महामूर्ति गोमटेश्वर के १६१२ ई० मे हुए महामस्तकाभिषेक का काव्यमयवर्णन "पचबाण" ने १६१४ ई० मे "भुजबलीचरिते" के रूप में प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त से सम्भवतः प्रेरणा पाकर १६४६ ई० में 'चन्द्रम' ने कारकल की गोम्मट महामूर्ति का इतिहास और अभिषेक का वर्णन 'कारकल गोमटेश्वरचरिते' में प्रस्तुत किया।

सन् १६५० ई० के लगभग हुए 'गुणचन्द' ने छंदों के सम्बन्ध में 'छन्दस्सार' नामक ग्रंथ लिखा। उन्होंने इसमें संस्कृत छदों के अतिरिक्त अन्तिम अध्याय में कन्नड़ के छद और उदाहरण भी दिए है।

लगभग १६५० ई० में ही "धरणि पडित" ने दो राजाओं सबधी रचनाएं प्रस्तुत की। ये हैं—१. वरांगनृपचरिते। यह कथा सस्कृत में प्रसिद्ध है किन्तु धरणि पडित ने इसे कन्नड के भामिनि षट्पदि छद में विस्तारपूर्वक लिखा। २. 'बिज्जलरायचरिते' मे कवि ने कल्याणी के जैन राजा बिज्जल के मत्री और सेनापति बसवण्ण सम्बन्धी इतिहास लिखकर यह दर्शाया है कि बसवण्ण ने पीछा करती सेना से छुटकारा पाने के लिए कुए मे कूद कर आत्महत्या कर ली थी। (बसवण्ण ने ही वीरशैवमत चलाया था)।

उपर्युक्त समय अर्थात् १६५० ई० के लगभग ही 'नूतन नागचन्द्र' ने 'जिनमुनितनय' की रचना की। इस छोटी-सी रचना का प्रत्येक पद्य 'जिनमुनितनय' शब्द से समाप्त होता है। इसीलिए इसका यह नाम पड़ा। इसमें नीति और धर्म की चर्चा है।

चिदानन्द ने १६०० ई० मे 'मुनिवंशाभ्युदय' की रचना सांगत्य छंद मे की। इसमे मुनियों तथा गुरुओं की परम्परा वर्णित है। इसमें श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त की दक्षिण-यात्रा का काव्यमय वर्णन है।

श्री ई० पी० राईस ने कन्नड़ साहित्य के अपने इतिहास में लिखा है कि लगभग १७०० ई० में 'चन्द्रशेखर' ने 'रामचन्द्रचरिते' का लेखन प्रारम्भ किया जिसे 'पद्मनाभ' ने १७५० ई० में पूर्ण किया।

मैसूर नरेश मुम्मडि कृष्णराज के समकालीन 'देवचद्र' भी कन्नड़ साहित्य मे सम्माननीय हैं। उन्होने १८३० ई० मे मैसूर राजघराने की एक महिला के लिए 'राजावली कथे' की रचना की। इसमें उन्होने जैन दर्शन और परपरा के विवेचन के साथ कुछ कवियो की जीवनी

(शेष पृ० १४ पर)

अज्ञात जैन कवि हरिसिंह का काव्य

—डा० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

दीवान जी मन्दिर भरतपुर के एक गुटके मे अचर्चित जैन कवि हरिसिंह की रचनाएं मिली हैं। कवि की एक रचना 'ब्रह्म पच्चीसी' की प्रशस्ति के आधार पर इनका साधना स्थल देवगिरी (दौसा जिला जयपुर) तथा रचना काल संवत् १७८३ के आस-पास का है। कवि के वशज दौसा निवासी श्री मगनलाल छावड़ा ने महावीर जयन्ती स्मारिका—८५ में प्रकाशित अपने एक लेख में हरिसिंह को जयपुर नरेश सवाई जयसिंह का सुयोग्य दीवान वतलाया है। 'बोध पच्चीसी' की प्रशस्ति के अनुसार आमेर के राजा जयसिंह के सुयोग्य कर्मचारी 'नैन सुख' से कवि की आत्मीयता अवश्य प्रमाणित है, किन्तु निर्धारित रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि हरिसिंह सवाई जयसिंह के दीवान थे अथवा सामान्य कर्मचारी। दौसा कस्बे में स्थित 'श्री पार्श्वनाथ जिनालय' में विद्यमान संगमरमर के खम्भे पर अंकित लेख के अनुसार हरिसिंह के पांच छोटे भाई थे—शकर, श्रीचंद, किशोर, नंदलाल, मनरूप और गोपाल।

हरिसिंह की तीन लघु रचनाएं एवं विविध रागनियों में लिखित ५० फुटकर पद तथा कुछ गीत प्राप्त हैं।

हरिसिंह की एक रचना 'ब्रह्म पच्चीसी' आषाढ़ कृष्णा ११ सवत् १७८३ को दोहा और छप्पय छंदों में लिखी गई। ग्रंथारम्भ मे ऋषभदेव और शारदा की वन्दना है। ऋषभनाथ के वैभव के प्रति कवि श्रद्धावनत है :

छत्र फिरे चमर जुगल दिसि जाकें, ढरें छहो षंड आंन,
जाकी आग्या सब मानिबो।
अंतेवर छिनवें सहस्त्रतणां भोग रहै,
अष्ट सिद्धि नव निधि चहैं सोई आनिबो।
इन आदि विभो विराग होय कीनों त्याग,
एकाकी रहत मुनिवर पद ठानिबो।
तातें भवि सिव सुषदाई, ब्रह्म रूप लषो आंन,
भव दुषकारी छांडो सब जांनिबो।

हरिसिंह की दूसरी रचना 'सम्यक्त पच्चीसी' सावन सुदि ११ सवत् १७८३ को 'कवित्त', 'कुण्डलिया', 'दोहा' और 'चाल' छद मे लिखी गई। इस ग्रन्थ में उपदेशात्मक शैली की प्रधानता है—

मोह पिसाची ने छल्यो, आतमराम अयान।
सम्यक् दरसन जब भयो, तब प्रगट्यो सुभग्यान ॥१४
असुचि अपावनि देहमनि, ताके सुष ह्वै लीन।
कहा भूलि चेतनकरी, रतनत्रय निधि दीन ॥१५

हरिसिंह की तीसरी रचना 'बोध पच्चीसी में दर्शन का प्रभाव और धर्म की महिमा की चर्चा की गई है—

धरम रमन सीला पुरुष, ताके करम विलाय।
जैसे उदय सूर कें, तिमिर पटल मिटि जाय।
छवि देखि भगवान की, मन मैं भयो करार।
सुर नर फणपति को विभो, दासे सवें अपार।
'सखी' देखि भगवान की, जो हिय मैं आनन्द।
भयो कहा महिमा कहूं, तीन लोक सुख कन्द।

हरिसिंह के फुटकर गीत नेमिनाथ की बारात व वैराग्य तथा ऋषभदेव के जन्मोत्सव से सम्बन्धित हैं। हरिसिंह के प्राप्त ५० पद लगभग सारग, विलावल, मलार आदि २२ रागो में लिखे हुए है। प्राप्त पदो मे अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा ऋषभनाथ एवं नेमिनाथ जी की भक्ति विद्यमान हैं। भक्ति के अतिरिक्त इन पदो मे प्रकृति चित्रण ओर नीति तत्व का पूर्ण अभाव है। रसना से निरन्तर 'जिनवर' की रटन तथा हृदय में प्रभु-मूर्ति के दर्शन भक्त हरिसिंह की साधना बन गई है—

जिनवर, जिनवर, रसना हिय लागी रहत,
तुमहि छांड़ि मेरे और न ध्यान।
निस वासुर चित्त चरण रहत है, चरन रहत सो जियमैं।
सरण तिहारो पाय निहारो, मूरति रमि रही हिय मैं।
ऐसें हृदै बिराजो मो तन, राम रहै ज्यों सिय मैं।
करुणासागर गुण रतनागर, दूरि करो अधिकिय मैं।
'हरी' परम सुख तुम ही यातें, और न सेऊं बिच मैं।

'नाम स्मरण' सगुण और निर्गुण दोनों ही सम्प्रदाय के भक्तकवियो का उपासना-तत्व रहा है। जिनभक्त हरिसिंह श्रमणभक्ति परम्परा के अनुसार प्रभु-दर्शन के लिए तो लालायित हैं ही; अन्जना और श्रीपाल आदि भक्तों के सम्बल प्रभुनाम का भी जाप करते हैं—

प्रभु मेरे बेगि दरसन देहु।
भये आतुरवंत भविकजन, ये अरज सुनि लेहु।
इह संसार अनंत आतप, हरन कौं प्रभु मेहु।
प्रभु दरस तैं परखि आतम, गये सिवपुर गेहु।
नमि तुम जन अंजना से, किये सिव तिय नेहु।
पालितदधि श्रीपाल उधरे, नाम के पर येहु।
इह प्रतीति विचारि मन धरि, कियो निश्चय येहु।
सकल मंगल करन प्रभु जी, 'हरी' जपत करेहु।

'मन', 'वचन' और 'तन' तीनों का आराध्य में पूर्ण समर्पण हरिसिंह की भक्ति साधना का लक्ष्य रहा है। उनका कहना है—

अब हूं कब प्रभु पद परसौं।
नैन निहारि करौं परनामें, मन बच करि हित सौं।
भव भव के अघ लागें तिनकै, भूर उखारौ जर सौं।
सरणें राखउ श्री जिन स्वामी, और न मांगौं तुमसौं।
यहै बीनती बास 'हरी' की कृपा करौं यह मुझसौं।

कविवर बनारसीदास के आविर्भाव के साथ दिग० जैन भक्ति में 'अध्यात्म साधना' प्रमुखता पा गई थी। द्यानतराय, देवीदास, बुधजन, पार्श्वदास आदि सभी कवियों ने वाह्याचार और वेषभूषा से रहित इस आत्म-चिन्तन की परम्परा को भी अपने काव्य मे स्थान दिया था। शुद्धाचार सहित अन्तर्मुखी होकर 'सोऽहम्' की अनुभूति की ओर उन्मुख होने का निर्देश हरीसिंह ने भी दिया है—

रे जिय सोहम् सोहं ध्याय।
जा ध्यायं बहुविध परिमाणूं, तत छिन मांहि नसाय।
सोहं सोहं अजपा जपियें, तजि विकलप दुखदाइ।
गहि संतोष परम रस पूरित, सुख में निज लौ लाय।
सोहं सोहं सोहं सोहं मंत्र अनादि बताय।
सदा रहौ हिरदें निज मेरै, 'हरी' अतुल सुख धाम।

द्यानतराय अथवा अन्य किसी जैन भक्त कवि में साधनात्मक रहस्यवाद के दो-चार पद भले ही मिल जाय, किन्तु भावात्मक रहस्यवाद सभी जैन भक्त कवियों में विद्यमान है। जीवात्मा का मूल सम्बन्ध सुमति से है, किन्तु वह 'कुमति' की बनावटी रूपसज्जा और हावभावों को देखकर उसके आकर्षण में फंस जाता है। इस परकीया प्रेम में उसे कोई सुख नही मिल पाता। जीवात्मा के परकीया-प्रेम से क्षुब्ध 'सुमति' अपने प्रिय को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती है। जैन भक्त कवियों ने जीवात्मा और सुमति मे 'पति' और 'पत्नी' के रूपकत्व के नियोजन से मधुर और मर्यादित शृंगार की स्रोतस्विनी प्रवाहित कर अपने काव्य को बड़ा सरस बना दिया है—

नेक करी न सम्हार हो प्रभु मेरे।
कुबिजा कुमति लीये तुम ठगि कें, मोह ठगोरी डार।
निज घर छांड़ि बसे पर घर मैं, तहां नहिं सुखहिं लगार।
दुख देखत कुबिजा सग डोलें, ताकौ वार न पार।
तुम तौ खबरि लई नहिं मेरी, मेरे कौं तुम तार।
एक बेर मो सनमुख होगे, पति त्रिभुवन निरधार।
निज घर आय अखै सुख विलसं, निज पतनी कैलास।
'हरीसिंह' भए एक परस्पर, वह सुख वच अविचार।

सभी जैन भक्त कवियों के काव्य में न्युनाधिक मात्रा में प्राप्त राजुल-विरह की उक्तियाँ बड़ी मर्मस्पर्शी बन पड़ी है। राजुल विरह से सम्बन्धित हरिसिंह के कई पदों मे से एक पद दृष्टव्य है—

बदन नेम नौं दिखावो, जाकी हूं बलिहारी।
और न मोहि सुहावैरी माई, नैना नेम निहारी।
सरणे जाय करौं पिय भाँवरि, अघ आताप निवारी।
भांजी बहन परोसन मइया, जिमां करौं अब सारी।
भई उदास जगत सो मइया, जिमां करौं अब सारी।
ताहि सबै मिलि सासा दीनो, गिर पर जाय बिपारी।
केस लौंच सोमा तजि तन की, लीयो पाल अहारी।
'हरीसिंह' निज कीयो काजा, दोऊ भव सुखकारी।

मध्यकाल में भक्त रचनाएं प्रस्तुत करने वाले अन्य जैन कवियों के समान हरिसिंह भी अपने उचित स्थान के अधिकारी हैं। जिनालयों में स्थित वेस्टनो मे छिपे हुए हरिसिंह जैसे अनेक कवियो को प्रकाश देने में जैन समाज को प्राथमिकता देनी चाहिए।

एक चिन्तन :

आ० अमृतचंद्र का २३वां कलश

□ श्री एम० एल० जैन, नई दिल्ली

समयसार पर आत्मख्याति टीका के अतिरिक्त अमृतचन्द्र ने समयसार पर अपने काव्य कलश भी सजाए हैं। उनमें भव्य जीवों के अध्यात्म अभिषेक के लिए काव्य का परमोदक भरा है।

इन कलशों पर वीर सेवा मदिर की देखरेख में हुए दो प्रकाशन है—

पहला, राजमल की ढूंढारी भाषा का महेन्द्रसेन जैनी द्वारा किया हुआ आधुनिक भाषा रूपांतर जिसमें बनारसी दास द्वारा रचित पद्यानुवाद भी यथास्थान दिया गया है। बनारसीदास की रचना समयसार नाटक नाम से प्रचलित है जिस पर राजमल पांडे की बालबोधिनी टीका भी मिलती है जो दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ से छपी है।

दूसरा शुभचन्द्र की सस्कृत टीका 'परमाध्यात्म तरंगिणी' जिसपर जयचंद की ढूंढारी भाषा की जो टीका है उसके हिन्दी अनुवाद के साथ।

ये ही कलश समयसार की आत्म ख्याति टीका की ढूंढारी वचनिका मे भी जयचंद ने यथास्थान उद्धृत किये हैं। यह ग्रन्थ मुसद्दीलाल जैन चेरिटेबल, ट्रस्ट नई दिल्ली ने प्रकाशित किया है।

इन कलशो में कलश स० २३ जीव अधिकार इस प्रकार है—

> अयि कथमपि मृत्वा तत्त्व कौतूहली सन्
> अनुभव, भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहुर्तम्
> पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य, येन
> त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्व मोहम्

उक्त कलश का सरल अर्थ है—

"अरे, तत्त्व कौतूहली होकर, किसी भी प्रकार से मर कर मुहूर्त भर के लिए शरीर का पार्श्ववर्ती हो तब स्वं को अलग विलास करने वाला देखकर अनुभव कर ताकि तुम तुरन्त ही शरीर के साथ एकत्व मोह को छोड़ सको।"

स्वय मरकर स्व-स्वरूप को पहचानने की यह कला कैसी और कैसे सम्भव है? क्या शरीर से एकबार जुदा हो जाने के पश्चात् आत्मा कुछ देख व अनुभव कर सकता है और फिर वापस शव में प्रवेश कर अपने अनुभव का लाभ उठा सकता है।

शुभचन्द्र ने इस मुश्किल को पहचाना और परम अध्यात्म तरंगिणी मे कहा कि यह मरण "मायादि प्रकारेण" हो सकता है किन्तु क्या नकली मौत से असली मौत का पता चल सकता यह शका बनी रहती है।

जयचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति वचनिका में इसका अर्थ किया कि किसी भी प्रकार बड़ा कष्ट कर तथा मर कर भी शुद्ध जीव स्वरूप को जानने का उपाय कर। राजमल ने इसी अर्थ को अपनाया किन्तु "बड़ा कष्ट कर तथा" छोड़ दिया।

जयचन्द ने ही आत्म ख्याति की उक्त टीका मे इसी कलश के भावार्थ में कहा कि यदि आत्मा दो घड़ी भी पुद्गल से भिन्न अपने स्वरूप को अनुभवे, उसमें लीन होकर परीषह के कारण डिगे नहीं तो केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है यह दृष्टव्य है कि इस भावार्थ मे तथा तरंगिणी की भाषा टीका में जयचन्द ने स्वमरण की बात टाल ही दी और कहा कि शरीर मुर्दा है। हम दूसरों के मुर्दे तो रोज देखते हैं किन्तु अपने मुर्दे को मुर्दे के रूप नहीं देखते। इससे समस्या हल होने के स्थान पर और भी कठिन हो गई।

यदि "मृत्वा" के स्थान पर कलश मे "मृतं" ही होता तो यह अर्थ संभव था कि कोई किसी प्रकार मरे, मर जाने पर केवल शव मात्र ही रह जाता है। यह बात किसी भी मुर्दे के पास मुहुर्त भर ठहरने से पता चल आएगी परन्तु अमृतचन्द्र ने ऐसा नहीं किया। "कथमपि मृत्वा"

"अनुभव" ऐसा क्यों कहा यह जैन विद्वानों के विचार का विषय है।

एक समुचित समाधान जो विज्ञान भैरव तंत्र की व्याख्या में तंत्रसूत्र भाग-२ पृष्ठ ८६-६२ व १४६ पर दिया है उसके उद्धरण इस विषय में अवलोकनीय हैं—

"अगर तुम मृत्यु की सोच रहे हो—वह मृत्यु नही जो भविष्य में आयेगी—तो जमीन पर लेट जाओ, मृतवत् हो जाओ, शिथिल हो जाओ और भाव करो कि मैं मर रहा हू, कि मैं मर रहा हूं, मैं मर रहा हूं। यह सोचो ही नही, शरीर के एक-एक अग मे, शरीर के एक-एक तंतु मे इसे अनुभव करो। मृत्यु को अपने भीतर सरकने दो। वह एक अत्यन्त सुन्दर ध्यान-विधि है। और जब तुम समझो कि शरीर मृत बोझ हो गया है और जब तुम अपना हाथ या सिर भी नहीं हिला सकते, जब लगे कि सब कुछ मृतवत् हो गया, तब एकाएक अपने शरीर को देखो। तब मन वहां नही होगा। तब तुम देख सकते हो। तब सिर्फ तुम होगे, चेतना होगी।

अपने शरीर को देखो। तुम्हें नहीं लगेगा कि यह तुम्हारा शरीर है। बस एक शरीर है, कोई शरीर, ऐसा लगेगा। तुम और तुम्हारे शरीर के बीच का अन्तराल साफ हो जाएगा—स्फटिक की तरह साफ। कोई सेतु नहीं बचेगा। शरीर मृत पड़ा होगा, और तुम साक्षी की तरह खड़े होगे। तुम शरीर मे नही होगे, नहीं होगे।

ध्यान रहे, मन के कारण ही अहं भाव उठता है कि मैं शरीर हूं। यह भाव कि मैं शरीर हूं मन के कारण है। अगर मन न हो, अनुपस्थित हो, तो तुम नहीं कहोगे कि मैं शरीर मे हूं या शरीर के बाहर हूं। तुम महज होगे; भीतर और बाहर नही होंगे भीतर और बाहर सापेक्ष शब्द है जो मन से संबधित हैं। तब तुम मात्र साक्षी रहोगे।"

"अंग्रेजी के शब्द "एक्सटैसी" का यही अर्थ है: बाहर खड़ा रहना। एक्सटेसी अर्थात बाहर खड़ा रहना। अंग्रेजी मे एक्सटैसी का प्रयोग समाधि के लिए होता है। और एक बार तुम समझ लो कि तुम शरीर के बाहर हो तो उस क्षण मे मन नही रह जाता है। क्योंकि मन ही वह सेतु है जिससे यह भाव पैदा होता है कि मैं शरीर हूं। अगर तुम एक क्षण के लिए भी शरीर के बाहर हुए तो उस क्षण में मन नहीं रहेगा। यह अतिक्रमण है। अब तुम शरीर में वापस हो सकते हो, मन में भी वापस हो सकते हो; लेकिन अब तुम इस अनुभव को नही भूल सकोगे। यह अनुभव तुम्हारे अस्तित्व का भाग बन गया है; वह सदा तुम्हारे साथ रहेगा।"

"आंखें बन्द करो, और अपने भीतरी अस्तित्व को विस्तार से देखो। इस दर्शन का पहला चरण, बाहरी चरण अपने शरीर अपने शरीर को भीतर से, अपने आंतरिक केन्द्र पर खड़े हो जाओ और देखो। तब तुम शरीर से पृथक् हो जाओगे; क्योंकि दृष्टा कभी दृश्य नहीं होता है; निरीक्षक अपने विषय से भिन्न होता है। अगर तुम अन्दर से अपने शरीर को समग्रत: देख सको तो तुम कभी फिर इस भ्रम में नही पड़ोगे कि मैं शरीर हू। तब तुम सर्वथा पृथक् रहोगे। तब तुम शरीर मे रहोगे, लेकिन शरीर नहीं रहोगे।

यह पहला हिस्सा है। तब तुम गति कर सकते हो। तब तुम गति करने के लिए स्वतन्त्र हो। शरीर से मुक्त होकर, तादात्म्य से मुक्त होकर तुम गति करने के लिए मुक्त हो। अब तुम अपने मन में, मन की गहराइयों में प्रवेश कर सकते हो। अब तुम उन नौ पर्तों में, जो भीतर है और अचेतन है, प्रवेश कर सकते हो। यह मन की अन्तरस्थ गुफा है। और अगर मन की गुफा में प्रवेश करते हो तो तुम मन से भी पृथक हो जाते हो। तब तुम देखोगे कि मन भी एक विषय है जिसे देखा जा सकता है, और वह जो मन में प्रवेश कर रहा है वह मन से पृथक और भिन्न है।

"अन्तस्थ प्राणी को विस्तार से देखो" का यही अर्थ है—मन में प्रवेश। शरीर और मन दोनों के भीतर जाना है और भीतर से उन्हें देखना है। तब तुम मात्र साक्षी हो। और इस साक्षी में प्रवेश नही हो सकता है। इसी से यह तुम्हारा अन्तरतम है; यही तुम हो। जिसमें प्रवेश किया जा सकता है, जिसे देखा जा सकता है, वह तुम नहीं हो। जब तुम वहां आ गए जिससे आगे नहीं जाया जा सकता, जिसमें प्रवेश नहीं किया जा सकता, जिसे देखा

नही जा सकता, तभी समझना चाहिये कि तुम अपने सच्चे स्व के पास, अपनी आत्मा के पास पहुचे।"

इस विवेचन से ऐसा लगता है कि अमृतचन्द्र ने भी जिस मरण प्रक्रिया की ओर संकेत किया है, वह भी एक प्रकार के विशिष्ट ध्यान की विधि है। न वास्तविक मरण से अभिप्राय है न झूठ-मूठ के मरण से।

बनारसीदास ने इस कठिनाई को एक तरफ रखा और कवित्त लिखा--

बनारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
कैहूं भांति कैसैंहूं कै ऐसो काजु कीजिए।
एक हू मुहूरत मिथ्यात को विधुंस होइ,
ग्यान को जगाइ अंस, हस खोजि लीजिए।
वाही को विचार वाको ध्यान यहै कौतूहल।
यौं ही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वास को विलाप सविकार रूप,
अंत करि मोह को अनन्त काल जीजिए।

—आशा है विद्वज्जन अपना अभिमत स्पष्ट करेंगे।

(पृ० ६ का शेषांष)

भी दी है। रत्नाकर के जीवन संबंधी तथ्य भी इसमे है। मैसूर के राजाओ की बंशावली भी देवचन्द्र ने दी है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

देवचन्द्र की दूसरी रचना 'रामकथावतार' है। इसमे उन्होने अभिनव पप (नागचन्द्र) से कथा एवं भाव लिए हैं। यह रचना एक चपू काव्य है और सामान्यसार की है।

बी १/३२४, जनकपुरी, नई दिल्ली-५८

सहायक पुस्तकों की सन्दर्भ-सूची

१. मुगवि, रंग श्री—कन्नड़ साहित्य का इतिहास, अनुवादक–सिद्ध गोपाल, प्रकाशक, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, प्रथम सकस्करण, १९७१।

2. Rice, E. P.—Kanarese Literature, The Heritage of India Series, Associated Press, 5, Russell Street, Calcutta, London, Oxford University Press, Calcutta etc., Second edition recised and enlarged, 1921.

३. पं० के० भुजबली शास्त्री—कन्नड़ जैन साहित्य का इतिहास (खंड) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ७, प्रकाशक–पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी, २२१००५, सन् १९८१ ई०।

४. दक्षिणामूर्ति, एन० एस०–कर्नाटक और उसका साहित्य प्रकाशक–मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार समिति जयनगर,बेंगलूर–११, सन् १९६४ ई०।

५. सिद्ध गोपाल –काव्यतीर्थ कन्नड़ साहित्य का नवीन इतिहास, प्रकाशक, आशा प्रकाशन गृह, करोलबाग, नई दिल्ली-५, सन् १९६४ ई०।

—जो कोई भी आएगा उन सभी को मैं दे दूंगा ऐसा उद्देश करके बनाया गया जो अन्न है वह उद्देश्य कहलाता है। जो भी पाखण्डी लोग आएँगे उन सभी को मैं भोजन कराऊँगा ऐसा उद्देश करके बनाया गया भोजन समुद्देश कहलाता है। जो कोई श्रमण अर्थात् आजीवक तापसी रक्तपट-परिव्राजक व छात्रजन आएँगे उन सभी को मैं आहार देऊँगा इस प्रकार से श्रमण के निमित्त बनाया हुआ अन्न आदेश कहलाता है। जो कोई भी निर्ग्रन्थ साधु आएँगे उन सभी को मैं देऊँगा ऐसा मुनियों को उद्देश कर बनाया गया आहार समादेश कहलाता है। —मूलाचार, आचार वृत्ति ४२६

पहली किरण से आगे :

संस्कृत जैन काव्यशास्त्री और उनके ग्रन्थ

□ डा० कपूरचन्द खतौली

हेमचन्द्र—

न केवल जैन काव्यशास्त्रियों अपितु भारतीय काव्यशास्त्रियों में हेमचन्द्र का नाम बड़े आदर और सन्मान के साथ लिया जाता है। बहुश्रुत विद्वान् थे और कलिकाल सर्वज्ञ। सौभाग्य का विषय है कि हेमचन्द्र के सन्दर्भ मे पर्याप्त सामाग्री यत्र-तत्र बिखरी पडी है स्वयं उनके ग्रंथो में भी एतद्विषयक पर्याप्त जानकारी प्राप्त है। अन्तः-साक्ष्य के लिए द्वयाश्रय, श्रद्धानुशासन, त्रिशष्ठिश्लाका पुरुष चरित्र आदि महत्वपूर्ण मानदण्ड है। बाह्यसाक्ष्य के लिए शतार्थकाव्य, कुमारपाल प्रतिबोध, मोहपराजय, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, प्रभावकचरित, प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्धकोष, कुमारपाल प्रबन्ध, कुमारपाल चरित आदि महत्वपूर्ण काव्य उपलब्ध हैं।

इन्हीं के आधार पर श्री अलेग्जैण्डर किलास फार्ब्स ने ई० स० १८७८ में रसमाला' तथा १८८६ मे बून्हर ने 'लाइफ आफ हेमचंद्र' ग्रन्थ लिखा जिसका अनुवाद श्री कस्तूरमल वाठिया ने किया है।' डा० वि० भा० मुमलगांवकर ने भी 'आचार्य हेमचन्द' नाम से एक सुन्दर कृति का प्रणयन किया है।

मुनिजिनविजय जी ने कुमारपाल विषयक ग्रन्थों का संकलन प्रकाशित किया है ' जिसमें इनके सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। सभी में कुछ भिन्नताओं के साथ लगभग समान ही जीवन चरित्र प्राप्त है, जो निम्न प्रकार है।

हेमचन्द्र का जन्म अहमदाबाद से ६० मील दक्षिण-पश्चिम मे धुन्धुका या धुन्धुक नगर मे कार्तिक पूर्णिमा को १०८८ ई० को मोढ़वशीय वैश्यकुल के चाचिग, चाच्च के घर हुआ। माता का नाम पाहिणी, पाहिनि या चाहिणी था। कुलदेवी चामुण्डा और देव गोनस था। आरम्भिक नाम चांगदेव था। मां जैनधर्मावलम्बी थी तथा पिता शैव।

चांगदेव होनहार बालक था गुरु देवचन्द्र के धुन्धुका आने पर वे माता और मामा की आज्ञा से दीक्षार्थ ले गये। प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार वह देवचन्द्र की गद्दी पर बैठ गए तब देवचन्द्र माता की आज्ञा से उसे उदयन के पास छोड़ आये बाद में उदयन की चतुराई से पिता को भी अनुमति देनी पड़ी। चांगदेव अभी आठ वर्ष का था। प्रबन्धकोश के अनुसार चांगदेव ने स्वयं दीक्षा ली। दीक्षोपरांत 'सोमचन्द्र' नाम रखा गया और शरीर से स्वर्ण सदृश तेजस्वी होने से वे हेमचन्द्र कहलाए। अल्पायु में ही शास्त्रीय और व्यावहारिक ज्ञान मे पारंगत हो जाने के कारण २१ वर्ष की अवस्था में उन्हें नागपुर में सूरि पद प्राप्त हुआ।

अपनी असाधारण प्रतिभा और चरित्रबल से ३६ वर्ष की अवस्था में वे सिद्धराज जयसिंह के सम्पर्क में आए और जयसिंह प्रभावित होकर जैन धर्मानुरक्त हो गया।

जयसिंह के बाद ११४२ ई० में कुमारपाल राजगद्दी पर बैठा। पहले जयसिंह कुमारपाल को मारना चाहता था। हेमचन्द्र ने उसे उपाश्रय में छिपाकर रक्षा की और कहा था कि तुम मार्गशीर्ष वदी १४ को राज्य पाओगे। कुमारपाल ने कहा मुझे क्या यदि ऐसा हुआ तो राज्याधिकारी आप ही होंगे। हेमचन्द्र ने कहा—"हमे राज्य से क्या? तुम जैन धर्म स्वीकार करना। यही भी वही तब कुछ समयोपरान्त हेमचन्द्र पाटन आए, उदयन से अपने स्मरण न करने की बात सुन, उन्होंने कहा कि राजा से कहना आज रात नई रानी के महल में न जाय। रात को बिजली उसी महल पर गिरी। कुमारपाल ने उदयन से हेमचन्द्र द्वारा अपनी रक्षा सुनकर, उनके चरणों मे पड़कर कहा—आपने दो बार मेरी जान बचाई अब यह राज्य सम्हालें। हेमचन्द्र ने कहा तुम जैनधर्म स्वीकार करो। कुमारपाल ने धीरे-धीरे ऐसा करने का वचन दिया।

अपने जीवनकाल मे हेमचन्द्र ने खूब लिखा। वे सर्व-धर्मसहिष्णु थे, सोमनाथ की यात्रा उन्होने की थी अन्त में ११७२ ई० में उनकी ऐहिक लीला समाप्त हुई।

हेमचन्द्र ने व्याकरण, साहित्यकोष, दर्शन सभी विषयों पर अपनी अनवरत लेखनी चलाई। उनकी प्रामाणिक रचनायें निम्न हैं—(१) त्रिषष्टिश्लाका पुरुष चरित्र (२) द्वयाश्रयकाव्य (३) शब्दानुशासन (४) छन्द-अनुशासन (५) काव्यानुशासन (६) अभिधान चिन्तामणि (७) अनेकार्थ संग्रह (८) निघण्टु (९) देशीनाममाला (१०) प्रमाणमीमांसा (११) योगशास्त्र। इनके अतिरिक्त अनेक स्तोत्र और फुटकर श्लोक हैं।

इस प्रकार छन्दानुशासन और काव्यानुशासन ये दो उनकी काव्यशास्त्रीय कृतियां हैं। छन्दोऽनुशासन का प्रकाशन पूना से हुआ है।[७] इसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों का निरूपण है। छन्दों के उदाहरण स्वयं हेमचंद्र विरचित हैं।[८]

काव्यानुशासन के तीन भाग हैं। मूलसूत्र अलंकार चूड़ामणि व्याख्या और विवेकवृत्ति। तीनों स्वय हेमचंद्र विरचित हैं। कुल आठ अध्याय हैं जिनमें क्रमशः २५, ५६, १०, ६, ६, ३२, ५२ तथा १३ सूत्र हैं। व्याख्या तथा टीका में ५० कवियो तथा ८१ ग्रंथों का नामोल्लेख हुआ है।[९] अध्यायानुसार विषय-विवेचन निम्न है।

प्रथम—काव्य-प्रयोजन, हेतु, लक्षण, गुण, दोष एव अलकार-लक्षण, शब्दार्थ स्वरूप मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ का निरूपण। द्वितीय—रसो के लक्षण, भेद, स्थायी भाव, सात्विक भाव, रसाभास। तृतीय—काव्य-दोष, रस-पद-वाक्य, पदवाक्य और अर्थदोष विवेचन। चतुर्थ—तीनगुण। पचम—छह शब्दालकार। षष्ठ—२९ अर्थालंकार। सप्तम—नायक-नायिका-गुण। अष्टम में काव्यभेदों का विवेचन है।

हेमचन्द्र ने प्रायः सभी काव्यांगों का विवेचन किया है तथापि उस ग्रन्थ को मौलिक होने का श्रेय नही दिया जाता। इसे एक सुन्दर संग्रह-ग्रन्थ कहा जा सकता है। यद्यपि यह कम विवाद का विषय नही है। डा० पी० वी० काणे ने इसे संग्रहात्मक कहा है।[७] श्री त्रिलोकीनाथ झा का भी यही मत है।[८] श्री विष्णुपाद भट्टाचार्य ने इसे मौलिक कहा है।[९] डा० सुशील कुमार डे भी इसे सार संग्रह की भावना से प्रसून मानते हैं। उन्होने हेमचंद्र और वाग्भट के ग्रन्थों के समीक्षणोपरांत लिखा है—

"ऐसा प्रतीत होता है कि जैन अनुशासनो का उद्देश्य (यद्यपि इनमे जैनमत सम्बन्धी कोई भी बात नही है) विषय का लोकप्रिय सारांश प्रस्तुत करना है। वे किसी विशेष सम्प्रदाय या पद्धति से सम्बन्धित नही हैं। बल्कि उसमें सार-संग्रह की भावना से परम्परागत धारणाओ का अनुकरण किया है? मुख्य सिद्धांत के प्रकाश मे वे समीक्षात्मक रूप में क्रमबद्ध नही किये गये है।"[१०]

तथापि हेमचन्द्र के महत्व को प्रतिपादित करना डा० मुसलगांवकार का कथन है—"हेमचंद्र के समक्ष सभी स्तर के पाठक थे अतः उन्होने सूत्र, चूडामणि और विवेक वृत्ति लिखी—। मम्मट का काव्य-प्रकाश तो क्लिष्ट है, साधारण पाठकों से वह सुगम नहीं, और संस्कृत के काव्य के अतिरिक्त अन्य साहित्य विद्याओ का अध्ययन करने के लिए पाठकों को दूसरे ग्रथ भी देखने पडते है। हेमचन्द्र का काव्यानुशासन इस अर्थ मे परिपूर्ण ग्रन्थ है।[११]

अरिसिंह व अमरचन्द :

उक्त लेखकद्वय विरचित 'काव्यकल्पलता' (कवि-शिक्षा) महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। प्रबन्धकोष के अनुसार अरिसिह जिनदत्त सूरि के शिष्य थे, और इन्होंने अमरचन्द को सिद्ध सारस्वत मत्र दिया था।[१२] अरिसिह आजन्म गृहस्थ रहे जबकि अमरचन्द मुनि। अरिसिह वस्तुपाल के प्रिय कवि थे। इनकी एक अन्य कृति सुकृत-संकीर्तन है, जिसमें ११ सर्ग हैं। इसका रचनाकाल १२२२ ई० है। अतः अरिसिह को १३वी शती के पूर्वार्ध में मानना चाहिए। अमरचद्र अरिसिंह के शिष्य थे और अणदिल पत्तन के समीप वायर के निवासी थे। प्रबन्ध-कोष मे उन्हें 'प्रज्ञालचूड़ामणि' कहा गया है।[१३] इनकी अन्य उपाधि 'वेणीकृपाणामए थी' इनका समय भी १३वी शती है। अमरचंद्र की अन्य कृतियाँ हैं—(१) चतुर्विंशति जिनेन्द्र संक्षिप्त चरितानि (२) स्यादि शब्द समुच्चय (३) काव्यकल्पलता परिमल (उक्त ग्रथ की टीका) (४) काव्यकाव्यलतामंजरी (५) काव्यकल्पाप (६) छन्दो-

रत्नावली (इसकी प्रति उपाध्याय मंगलविजय के पास विजयलक्ष्मी ज्ञानमन्दिर, आगरा में है) (स० का० केवि० में जै०क० का पो०–शास्त्री २५३) (७) अलंकार प्रबोध और (८) सूक्ति रत्नावली ।

काव्य कल्पलता का अपरनाम कविशिक्षा या कविता रहस्य भी है । ग्रन्थ चार प्रतानों में विभक्त है और प्रत्येक प्रतान में अनेक अध्याय हैं । प्रथम प्रतान में छन्दसिद्धि की विवेचना, द्वितीय में शब्दसिद्धि, तृतीय में श्लेषसिद्धि और चतुर्थ में अर्थसिद्धि का विवेचन है । डा० डे इसे कविशिक्षाविषयक ग्रंथ मानते हैं ।[१४]

देवेश्वर :

देवेश्वर या देवेन्द्रकृत 'कविकल्पलता' काव्यकल्पलता को ही आधार बनाकर लिखी गई है । देवेश्वर के पिता का नाम वाग्भट था, जो मालव नरेश के महामात्य थे ।[१५] देवेन्द्र स्वयं स्वीकार करते है कि उन्होंने 'काव्यकल्पलता' को आधार बनाया अतः उनका समय १४वी शती असमीचीन यही होगा । डा० एस० के० डे० ने ठीक ही लिखा है—'कविकल्पलता सीधे काव्यकल्पलता के आधार पर लिखी गई है, जिसमे वडे-बड़े उद्धरणो की चोरी की गई है ।[१६] अतः इसके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं । इस पर देवेश्वर, बेचाराम सार्वभौम, रामगोपाल कविरत्न, सूर्यकवि और एक विवेक नामक टीकायें उपलब्ध हैं ।[१७]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र :

उक्त लेखकद्वय विरचित नाट्यदर्पण भारतीय नाट्य परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । इनके जन्म स्थानादि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नही होती पर डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने डा० लालचद्र गांधी के मतानुसार उनका जन्म १०८८ ई०, ११०४ मे सूरिपद ११७१ में हेमचद्र का पट्ट और ११७३ ई० में उनकी मृत्यु बताई है ।[१८] डा० रामजी उपाध्याय भी इनका यही समय मानते है ।[१९] अचुम्बित काव्यतंत्र, विशीर्ण काव्यनिर्माणतन्त्र और प्रबन्धशतकर्म उनकी उपाधिया थी । रामचन्द्र नाटककारों में भी अग्रगण्य है उनके—सत्य हरिश्चन्द्र, नलविलास, रघुविलास, निर्भय भीमव्यायोग, मल्लिकामकरन्द, कौमुदी मित्रानन्द नाटक प्राप्त हैं, तथा रोहिणीमृगाङ्क, राघवअभ्युदय, यादवाभ्युदय, वनमाला आदि के नामोल्लेख मिलते हैं ।[२०]

नाट्यदर्पण मे रामचन्द्र ने गुणचन्द्र को सहभागी बनाया । गुणचन्द्र रामचन्द्र के महाध्यायी और गुरुभाई थे । इनके अतिरिक्त उनका परिचय या कृतियां प्राप्त नहीं होती । प्रबन्धकोष में रामचन्द्र गुणचंद्र को साथी बताया गया है यही यह भी बताया गया है कि हेमचद्र ने जब बालचंद्र को अपना पट्ट न देकर रामचद्र को दिया तो बालचंद्र अजयपाल से मिला अजयपाल ने विष देकर कुमारपाल को मार डाला और राजा बन गया तब उसने रामचंद्र आदि को तप्त लौहासन पर बिठाकर मार डाला, विहारी को गिरा दिया ।[२१]

नाट्यदर्पण नामानुरूप नाट्यतत्वों का निदर्शक है । लेखक ने स्वयं विवरण नाम की टीका इस पर लिखी है आरम्भ मे जिनको नमस्कार किया गया है । ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है, जिन्हें विवेक नाम दिया गया है । प्रथम विवेक में रूपको की सख्या १२ बताई गई है और उनमे से नाटक का विवेचन किया गया है । नाटक के १२ भेद धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित है । द्वादशांग वाणी के आधार पर ही १२ भेद माने गए है ।[२२] उसका विवेक का नाम 'नाटक निर्णय विवेक' है ।

द्वितीय विवेक 'प्रकरणाद्येकादशरूपनिर्णय' में नामानुरूप ११ रूपकों का वर्णन है । नाट्यदर्पण में नाटिका एव प्रकरणी की रचना रूपक माना गया है । तृतीय विवेक का नाम 'वृत्तिभावाभिनय विचार' देते हुए इसमें वृत्तियों का नाम 'सर्वरूपकसाधारणलक्षणनिर्णय' देते हुए सभी रूपकों के लिए उपयोगी नाट्य तत्वो का विवेचन है ।

अजितसेन :

आचार्य अजितसेन की 'अलंकार चिन्तामणि' और 'शृंगारमंजरी' ये दो कृतियां प्राप्त होती है । अलकार चिन्तामणि मे अर्हद्दास कृत मुनिसुव्रत काव्य के १/३४, २/३१, २/३२, २/३३ श्लोक उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए गए है, अतः यह स्पष्ट है कि वे अर्हद्दास के पश्चाद्वर्ती हैं । अर्हद्दास ने आशाधर के नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है । यह विवादास्पद है कि अर्हद्दास

आशाधर के साक्षात् शिष्य थे या परम्परया पर वे आशाधर के पश्चात्वर्ती हैं, यह निश्चय है। आशाधर ने अपनी अन्तिम कृति 'अनगार-धर्मामृत-टीका' वि०सं० १३०० (१२४३ ई०) में पूर्ण की थी।[13] इस प्रकार आशाधर का समय तेरहवी का पूर्वार्ध और अर्हद्दास का १३वी का उत्तरार्ध तथा इसी आधार पर अजितसेन का समय अर्हद्दास के बाद चौदहवी शती का प्रथम चरण मानना चाहिए।

जैन परम्परा में अजितसेन नाम के अनेक आचार्य हुए हैं, पर अ०चि० के कर्ता दिगम्बराचार्य थे, उनकी गुरु परम्परा आदि के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नही मिलता, तथापि आधुनिक शोध मर्मज्ञों के कथन ध्यातव्य है। डा. ज्योतिप्रसाद जैन ने लिखा है कि—'अजितसेन यतीश्वर दक्षिण देशान्तर्गत तुलुव प्रदेश के निवासी सेनगण पोगरिगच्छ के मुनि सम्भवतया पार्श्वसेन (ज्ञाततिथि १२७१ ई०) के गुरु, महासेन के सधर्मा या गुरु थे।'[14] डा. नेमिचन्द शास्त्री ने भी उनके सेन सघ के आचार्य होने की पुष्टि की है।[15] उनका इस मान्यता का हेतु 'श्रृंगारमञ्जरी' का अन्तिम भाग है।[16] डा. शास्त्री अ.च. का रचना काल १२५०-१२६० ई० मानते हैं, जो उचित प्रतीत नहीं होता। डा. ज्योति प्रसाद जैन १२४०-१२७० ई० मानते है जो मान्य प्रतीत नही होता। दोनों विद्वानों ने अपने तर्क की पुष्टि मे अर्हद्दास को आशाधर का साक्षात् शिष्य मानकर मुनिसुव्रत काव्य का काल १२४०, १२५० ई० माना है और अर्हद्दास के प्रशस्ति-पद्यों को उद्धृत किया है। पर इनसे अर्हद्दास के आशाधर के समकालीन होने की सिद्धि नहीं होती। उन्हें उनके परवर्ती ही मानना चाहिए। डा. हरनाथ द्विवेदी का भी यही मत है। हमारी विनम्र सम्मति में अर्हद्दास का समय १२५०-१२६० ई० मानकर अ. चि. का काल कम से कम १३०० ई० के आसपास मानना चाहिए।

अजितसेन की अ चि. और श्रृ म. दो रचनायें प्राप्त हैं। श्रृ.म में तीन परिच्छेद हैं। कुछ भण्डारो की सूचियों में यह रायभूप की कृति के रूप मे उल्लिखित है। किन्तु ग्रन्थ प्रशस्ति से यह स्पष्ट है कि इसके रचयिता आचार्य अजितसेन है। उन्होंने शीलविभूषणा रानी विट्ठलदेवी के पुत्र और रामनाम से विख्यात सोमवंशी जैन नरेश नाभिराय के पढ़ने के लिए की थी।

अ.चि. में पांच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद के १०६ श्लोकों में कविशिक्षा पर प्रकाश डाला गया है द्वितीय मे शब्दालंकार के चित्र, वक्रोक्ति अनुप्रास और यमक के चार भेद बताकर चित्रालकार का विस्तार से विवेचन है। तृतीय में पुनः वक्रोक्ति आदि का सभेद निरूपण, चतुर्थ मे ७० अर्थालंकारों, पचम मे नव रसों रीतियों, शब्द-स्वरूप-भेद और शक्तियों के गुण-दोषो और अन्त मे नायक-नायिका भेदों का बड़े विस्तार से निरूपित किया गया है। अनेक मौलिकताओं के कारण यह ग्रन्थ अलकार विषयक ग्रन्थो मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

विजयवर्णी :

विजयवर्णी की 'श्रृंगारार्णव चद्रिका' काव्यशास्त्र विषयक महत्त्वपूर्ण रचना है। इनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध मे कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। प्रशस्ति से पता चलता है कि ये मुनीन्द्र विजयकीर्ति के शिष्य थे। उन्होंने राजा कामराय की प्रशसा की है तथा कर्णाटक के गुणवर्मन आदि कवियों का उल्लेख किया है। जिससे पता चलता है कि सम्भवतः ये कर्णाटकवासी रहे होगे।

डा० शास्त्री ने लिखा है—११५७ ई० में बंगवाडी पर वीरनरसिंह शासन करता था उसका एक भाई पाठ्यराज था। नरसिंह का पुत्र चन्द्रशेखर १२०८ ई० में पाठ्यराज १२२४ ई० में और उनकी बहन विट्ठलाम्बा या विट्ठल देवी १२३९ मे राज्यासीन हुई। विट्ठलादेवी का पुत्र कामराय था, जो १२६४ ई० में राज्यासीन हुआ। विजयवर्णी के कामराय का समकालीन होने से इनका समय १३वीं शती का अन्तिम चरण मानना चाहिए।

उक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त उनकी अन्य कोई रचना प्राप्त नही होती। यह परम्परा प्राप्त विषयों का विवेचन करती है। जगह-जगह यति भंग है। इसमे दस परिच्छेद है। विषय-वस्तु निम्नवत् है। वर्णगणफलनिर्णय, काव्यगत शब्दार्थनिश्चय, रसभावनिश्चय, नायकभेदनिश्चय, दशगुणनिश्चय, रीतिनिश्चय, वृत्तिनिश्चय, शय्यापाक-

निश्चय, अलंकार निर्णय एवं दोष-गुण निर्णय। इसका अपरनाम 'अलंकार संग्रह' भी है।

विनयचन्द्रसूरि :

इनका 'काव्यशिक्षा' ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथचरित, मल्लिनाथचरित, मुनिसुव्रतस्वामी चरित, कल्पनिरुक्त, कलिकाचार्यकथा तथा दीपावलीकल्प रचनाएं उपलब्ध होती हैं। रचनाओं के आधार पर इनका साहित्यिककाल १२२९-८८ ई० स्वीकार किया गया है। काव्यशिक्षा मे कविशिक्षाओं का वर्णन है।

नरेन्द्रप्रभसूरि :

नरेन्द्रप्रभसूरि वस्तुपाल के समय के विद्वान् थे। गुरु का नाम नरचन्द्र सूरि था, जिनकी आज्ञा से इन्होने अलंकार महोदधि की टीका और वृत्ति की रचना १२२५ ई० मे की थी। इनकी अन्य रचनायें 'काकुत्स्थ कलिनाटक' तथा 'वस्तुपाल प्रशस्ति' हैं। वस्तुपाल के साथ ये शत्रुञ्जय यात्रा पर गये थे और ३७० पद्यो की प्रशस्ति यात्रा के प्रारम्भ तथा अवसान पर लिखी थी।

माणिक्यचन्द्र :

माणिक्यचन्द्र मम्मट के काव्यप्रकाश के टीकाकार इनकी 'पार्श्वनाथचरित' और 'शान्तिनाथचरित' ये दो कृतियां और प्राप्त है। ये राजगच्छीय थे। इस गच्छ मे भरतेश्वर सूरि—वीरस्वामी—नेमिचन्द्रसूरि—सागरचद्र—माणिक्यचद्र सूरि हुए। ये महामात्य वस्तुपाल के समकालीन थे। इनका समय १२१० ई० के आसपास है। मुनि जिनविजय ने यही समय माना है।

सकेत टीका कदाचित काव्यप्रकाश की प्रथम व्याख्या है। प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ है, पर श्री रसिकलाल डॉ० परीख ने राजस्थान प्राच्यविद्या मन्दिर से प्रकाशित काव्यप्रकाश के द्वितीय भाग में सम्भवत: प्रथम बार आलोचनात्मक और तुलनात्मक विवेचन किया है।

महाकविमण्डन :

'अलंकारमण्डन' और 'कविकल्पद्रुम' मण्डन की इन दो रचनाओ के अतिरिक्त कादम्बरीमंडन, चम्पूमडन, चद्रविजयप्रबन्ध, काव्यमंडन, शृंगारमंडन, संगीतमडन, उपसर्गमडन, सारस्वत मंडन ये रचनायें और उपलब्ध होती हैं। काव्यमंडन के अन्त में दी गई प्रशस्ति के अनुसार यह श्रीमाल वंश के झाझण सघवी के द्वितीय पुत्र बाहण के छोटे पुत्र थे तथा माण्डवगढ़ के राजा होशगशाह के मंत्री थे। राजा भी साहित्य प्रेमी था। उनका समय काणे महोदय ने १५वीं शती स्वीकार किया है। उक्त ग्रन्थों में काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का सुन्दर विवेचन है।

पद्मसुन्दर :

पद्मसुन्दर 'अकबरसाहिबशृंगार दर्पण' की रचना मुगल सम्राट अकबर को सम्बोधित करते हुए की है। इसमें चार उल्लास है और रुद्रकृत शृगारतिलक का अनुसरण किया गया है। अकबर के साथ ही इनका समय १५५६-१६०५ के मध्य मानना चाहिए। पद्मसुन्दर की अन्य रचनाएं है, भविष्यदत्त चरित्र, रायमल्लाभ्युदय, पार्श्वनाथकाव्य, प्रमाणसुन्दर, सुन्दरप्रकाश, शब्दार्णव, शृगारदर्पण, जम्बूचरित, हायनसुन्दर आदि।

राजमल्ल :

राजमल्ल कृत 'पिङ्गलशास्त्र' छन्दसम्बन्धी रचना है। राजमल्ल की अन्य कृतियां लाटीसंहिता, जम्बूस्वामीचरित, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, पंचाध्यायी हैं। इनका रचनाकाल १६०० ई० के आसपास है. अतः जम्बूस्वामी चरित में उल्लेख हैं कि इस ग्रन्थ की रचना आगरा में श्री टोडर के आग्रह पर हुई ये टोडर सभवतः अकबर के राजस्वमत्री थे। लाटीसहिता की समाप्ति १५८४ ई० में हुई थी—

> 'श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणतेसीत।
> सहैकचत्वांरिशक्दरब्दानां शतषोडश॥
>
> —लाटीसंहिता २

पिगलशास्त्र की रचना भूपाल भारमल्ल के निमित्त से नागौर मे हुई। डा. शास्त्री का अनुमान है कि राजमल्ल आगरा से नागौर चले गए थे, मत-भूपाल भारमल्ल वही के रहने वाले थे। इसमे छन्दों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए है।

इनके अतिरिक्त अन्य कवि हैं—

समयसुन्दरमणि (१५८९-९० ई०) अष्टलक्षार्थी या अर्थरत्नावली।

नरसिंहसूरि—रसनिरूपण।

धर्मसूरि—(१६वीं ई०) साहित्यरत्नाकर, १० तरगो मे दो टीकायें इस पर प्राप्त है जिनके लेखक क्रमशः मल्लादिलक्ष्मणसूरि और वेंकटसूरि हैं।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि सख्या की दृष्टि से अल्प ही काव्यशास्त्रीय कृतियों का प्रणयन हुआ, पर गुणवत्ता की दृष्टि से वे पीछे नहीं है। इनके अतिरिक्त १५-१६वीं शती में अधिकांश अनेक विद्वानों ने लोकप्रिय ग्रन्थों की टीकायें लिखीं जिनमें काव्यप्रकाश, काव्यालंकार आदि पर टीकाये बहुतायत से मिलती हैं। इनके लेखको ने इनमे जैनत्व का कोई दृष्टिकोण नही अपनाया जो इनकी महानता, धर्मनिरपेक्षता और विद्वता का परिचायक है। आवश्यकता है सभी ग्रन्थो पर आलोचनात्मक और शोधपरक दृष्टि से अध्ययन की। शोधार्थी और विद्वद्वृन्द इस दिशा में अग्रेसर होगे, ऐसी आशा है।

सन्दर्भ सूची

१. आचार्य हेमचन्द्र : डा० वि. भा. मुसलगांवकर म. प. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल १९७१, पृ. ६।

२. हेमचन्द्राचार्य जीवतचरित : वाठिया. चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी १९६७।

३. कुमारपाल चरित्र सग्रह : सपा० जिनविजयमुनि सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई १९५६।

४. हेमचन्द, पृ० २०२

५. वही पृ० ४३

६. वही, पृ० १०४

७. सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : अनु० इलबचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृष्ठ २५९।

८-९. वही पादटिप्पण, पृष्ठ २५९

१०. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : अनु० मायाराम शर्मा, बिहार, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९७३, भाग-दो, पृष्ठ-२२१।

११. आचार्य हेमचन्द्र, पृष्ठ-११७।

१२. प्रबन्धकोष : सम्पा० जिन विजय सिंघी, जैन विद्या पीठ १९३५, पृष्ठ-६१।

१३. वही, पृष्ठ ६१।

१४. सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : पटना, पृ० २६३ भाग-२।

१५. वही, पृ० २६५ (भाग-२)।

१६. सं० का० का इति० : काणे, पृ० ४९८.

१७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास : भाग छः, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध संस्थान, वाराणसी, पृ० ५७४।

१८. मध्यकालीन सस्कृत नाटक : डा० रामजी उपाध्याय, पृ० १५७।

१९. उनके विस्तृत परिचय के लिए देखें मेरा—'सस्कृत जैन नाटक और नाटककार' शीर्षक लेख, परिषद् पत्रिका २२/२।

२०. प्रबन्धकोष, पृष्ठ ९८।

२१. नाट्यदर्पण : प्रका० साहित्य भंडार मेरठ, भूमिका पृ० ११।

२२. जैन सन्देश-शोधांक, मथुरा, १८ दि० १९५८ ई०।

२३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, सागर, भाग ४, पृ० ३१।

२४. "श्री सेन गणाग्रगण्य तपोलक्ष्मीविराजित सेनदेव यतीश्वर विरचितः" वही पृ०-३०।

महेबा का जैन मन्दिर

□ नरेश कुमार पाठक

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिला की नौगांव तहसील में छतरपुर नौगांव मार्ग पर १६वें कि०मी० पर मऊ सहानियाँ गाँव है। यहा से ५ कि० मी० पर महेबा गाँव है। इस गाँव को बुन्देलखण्ड केशरी महाराजा छत्रशाल ने १७वी, १८वी शताब्दी में बसाया था। गांव के अन्दर इसी कालखण्ड का जैन मदिर स्थित है।

मदिर बुन्देला स्थापत्य कला का बना हुआ है। मदिर के गर्भगृह के अन्दर संगमरमर की निर्मित दो चावरधारी प्रतिमा एक १८ × १६ × ६ सें०मी० आकार की पीतल की अभिलिखित प्रतिमा रखी है। इसमे अभिलेखित पाषाण की पार्श्वनाथ एव चन्द्रप्रभ की प्रतिमा रखी हुई है। प्रदक्षिणापथ में तीर्थंकर आदिनाथ, अजितनाथ, सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ एवं लांछन विहीन तीर्थंकर की प्रतिमा रखी है। यहाँ की कुछ प्रतिमाओ पर ग्राम महेबा, रियासत चरखारी का उल्लेख भी मिलता है। यहाँ पर दो मेरू शिखर मीनारनुमा निर्मित किए गए हैं। जिसके प्रथम स्तर मे चारों तरफ हाथी के मुख बनाकर होदा को बनाया गया है। हाथी की गर्दन के पास जैन तीर्थंकर पद्मासन में बैठे हुए हैं। इसके ऊपर स्तम्भ के चार भाग किए है। प्रत्येक दिशा में एक-एक तीर्थंकर है। इस प्रकार कुल १६+४=२० तीर्थंकरों का अंकन है। शिखर पर उल्टा कमल, कलश, पुष्प आदि का निर्माण किया गया है। मदिर से प्राप्त जैन प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है :—

आदिनाथ—मंदिर के प्रदक्षिणा पथ मे प्रथम तीर्थंकर जिन्हें ऋषभनाथ भी कहते है। कायोत्सर्ग मुद्रा में शिला पट्टिका पर खड़े है, तीर्थंकर के परिकर में दो कायोत्सर्ग एवं ६ पद्मासन में जिन प्रतिमा अंकित है। मूर्ति का आकार १६ × ११ × ५ सें०मी० है।

अजितनाथ—मंदिर के प्रदक्षिणापथ में द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित है। दोनों पार्श्व में त्रिभग मुद्रा में एक-एक चावरधारी एवं नीचे एक-एक भक्त बैठा हुआ है। पादपीठ पर अजितनाथ का ध्वज लांछन गज (हाथी) अंकित है। कृष्ण पाषाण पर निर्मित प्रतिमा का आकार २४ × ७ × ५ सें०मी० है।

सुपार्श्वनाथ—मंदिर के प्रदक्षिणा पथ में रखी सातवें सुपार्श्वनाथ पांच सर्प फण नाग मौलि धारण किये हैं। इस प्रतिमा पर संवत् ११४१ (ईस्वी सन् १०८४) अंकित है। प्रतिमा का आकार २६ × ७ × ७ सें०मी० है।

चन्द्रप्रभ—मदिर के गर्भगृह मे रखी आठवे तीर्थंकर चन्द्रप्रभ पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे बैठे हुए हैं। पादपीठ पर उनका ध्वज लाछन चंद्र का अंकन है एवं संवत् १८८३ (ईस्वी सन् १८२६) अभिलेखित है। प्रतिमा का आकार ५० × ४० × १८ से०मी० है।

पार्श्वनाथ—इस मदिर से तेइसवें तीर्थंकर की दो प्रतिमा रखी है। प्रथम मंदिर के प्रदक्षिणा पथ में रखी पार्श्वनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे अंकित है। सिर के ऊपर सप्तफणों से युक्त नाग मौलि का अकन है। परिकर मे भक्त परिचारक, दो कायोत्सर्ग एवं दो पद्मासन में जिन प्रतिमा अंकित है। मूर्ति का आकार १६ × ७ × ३ से०मी० है।

दूसरी मदिर गर्भगृह से पार्श्वनाथ की प्रतिमा के सिर के ऊपर सप्तफण नाग मौलि है। प्रतिमा पर सवत् १८४२ (ईस्वी सन् १७८५) उत्कीर्ण है। सगमरमर पत्थर पर निर्मित प्रतिमा का आकार ५० × ३० × १६ सें०मी० है।

लांछन विहीन तीर्थंकर—मदिर के प्रदक्षिणा पथ से दो प्रतिमा प्राप्त हुई है। प्रथम कायोत्सर्ग मुद्रा मे अंकित लांछन विहीन तीर्थंकर के दोनों ओर चावरधारी, वितान मे दुन्दभिक, अभिषेक करते हुए गजराज का अकन है। परिकर में दोनो ओर दो-दो कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन प्रतिमा अंकित है। प्रतिमा का आकार २२ × १२ × ६ सें०मी० है।

दूसरी कृष्ण पाषाण पर निर्मित लांछन विहीन तीर्थंकर पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे निर्मित है। इस प्रतिमा पर संभवतः सवत् १०२५ (ईस्वी सन् ९६८) तिथि अंकित है। प्रतिमा का आकार १८ × १० × ५ से.मी. है।

उद्देशिक आहार

□ श्री बाबूलाल जैन

अभी तक समाज में यही मान्यता है कि मुनि के अथवा पात्र के उद्देस से अगर आहार बनाया जावेगा तो जो पात्र आहार लेगा वह उद्दिष्ट आहार ग्रहण के दोष का भागी होगा अतः गृहस्थ अपने लिए आहार बनावे और उसी मे से पात्र को आहार दान देवे। दूसरी तरफ गृहस्थ कहता है कि जब हम गर्म पानी नहीं पीते, बिना नमक का भोजन नही करते और शुद्ध भोजन नही करते तब जो कुछ भी बनाया जाता है वह मुनि अथवा पात्र के लिए ही बनाया जाता है उस हालत मे उद्दिष्ट भोजन का ग्रहण साधु के होगा ही। बहुत बार इस बारे मे चर्चा भी हुई परन्तु समाधान नही निकला। इस लेख को इसी विषय पर विचार करने के लिए लिखा जा रहा है।

यह भी आचार्यों ने लिखा है कि गृहस्थ अपने लिए आहार नही बनाता वह तो पात्र दान के लिए ये ही आहार पात्रदान के लायक बनाता है और पात्र को देने के बाद जो बच जाता है उसमे वह और उसके आश्रित लोग खाकर सतुष्ट हो जाते है। क्योकि गृहस्थ पात्र के लिए आहार बनाता है इसलिए उसके पुण्य का बध ही होता है अगर वह अपने लिए भोजन बनावे तो पाप का बध हो। और क्योकि मुनि ने बनाया नही बनवाया नही और अनुमोदना नही करी, मन से, काय से अतः मुनि कोई दोष का भागी नही है। अगर गृहस्थ के उद्देसिक परिणामो का दोष मुनि को लगने लगे तो मुनि को कभी मोक्ष की प्राप्ति न हो। दूसरे के परिणामों का फल दूसरे कैसे भोगेगा। इससे यही साबित होता है कि उद्दिष्ट का अर्थ यही होना चाहिए कि मुनि बनाये नही, बनवावे नही, और बनाने की अनुमोदना भी करे नही, मन से बचन से काय से तब मुनि उस बनाने के आरम्भ के बंध को प्राप्त नही होता। इसलिए श्रावक पात्र के लिए पात्र के योग्य भोजन बनावे तो कोइ दोष नहीं है।

इस बारे मे आगम प्रमाण इस प्रकार योगसार प्राकृत अमितगति आचार्य कृत अध्याय ४ गाथा २०।

आहारादिभिरन्येन कारितैर्मोदितैः कृतैः
तदर्थं बध्यते योगी निरोगी न कदाचन।

रागरहित योगी उसके लिए दूसरे के द्वारा किए, कराये तथा अनुमोदित हुए आहारादिको से कदाचित् बध को प्राप्त नही होता।

णवकोटि कम्म सुद्धो पच्छा पुव्वो य सपदिय काले।
पर सुह दुःख निमित्त वज्झदि जदि णत्थि णिव्वाण।

तीन काल मे नव कोटि शुद्ध भोजन को जो मुनि लेता है सो पीछे, पहले व वर्तमान मे नव कोटि शुद्ध है और यदि वह दूसरों के सुख व दुख का निमित्त हो और इस निमित्त होने के कारण वह शुद्ध भोजी कर्म बध को प्राप्त करे तो उसको निर्वाण का लाभ नही हो सकता।

समयसार का गाथा २९८-२९९ की जयसेनाचार्य की टीका का भावार्थ—

"कोई दातार पात्र को दान देने के लिए ऐसी कल्पना करे कि मै पात्र के लिए अमुक-अमुक भोजन बनाऊ तो उस भोजन को औद्देशिक आधा कर्म कहते हैं। इस आधा कर्म के होते हुए भी मुनि शांत भाव से उस भोजन को कर ले तो मुनि के उस भोजन कृत बध का अभाव है। जबकि अपनी कल्पना के कारण दातार अवश्य उस दोष का भागी है। यहा यह अभिप्राय है कि भोजन के पीछे पहले या भोजन करते समय मुनि के लिए आहार आदि के विषय मन, वचन, काय से कृतकारित अनुमोदनारूप नो विकल्पो से रहित शुद्ध आहार होता है अर्थात् मुनि अमुक आहार होने के विषय मन, वचन, काय से स्वय करना, कराना व उसकी अनुमोदना कुछ भी विकल्प नही करते, इसीसे उन मुनियों के दूसरे गृहस्थी के द्वारा लिए हुए आहार आदि के सम्बन्ध मे कर्मों का बध नही होता क्योकि बध परिणामों के आधीन है।"

अगर मुनि करने, कराने और अनुमोदना के भाव मन, वचन, काय से करे तो कर्मों से जरूर बंधेगा।

जैसा ऊपर में लिखा है श्रावक तो तो आरम्भ करना ही है अपने लिए भोजन बनायेगा ही। परन्तु वह पात्र के उद्देश्य से बनावे तो पुण्य का ही बध हो पाप का नही हो। इसलिए श्रावक भी लाभ मे रहा और मुनि महाराज के बध हुआ नही। विद्वान लोग इस बारे मे विचार करे।

केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में संरक्षित छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ की प्रतिमाएं

□ नरेश कुमार पाठक

पद्मप्रभ वर्तमान अवसर्पिणी के छठे जिन है। कौशांबी के शासक धर (या धरण) इनके पिता और सुसीमा इनकी माता थी। जैन परम्परा मे उल्लेख है कि गर्भकाल मे माता को पद्म की शैय्या पर सोने की इच्छा हुई थी तथा नवजात बालक के शरीर की प्रभा भी पद्म के समान थी इसी कारण बालक का नाम पद्मप्रभ रखा गया[1]। राजपद के उपभोग के बाद पद्मप्रभ ने दीक्षा ली और छः माह की तपस्या के बाद कौशाम्बी के सहस्त्राम्र वन मे प्रियगु (या वट) वृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त हुआ।[2]

पद्मप्रभ का लांछन पद्म है और यक्ष-यक्षी कुसुम और अच्युता (या श्यामा—या मानसी) है। दिगम्बर परम्परा मे यक्षी का नाम मनोवेगा है। मूर्त अङ्कनों मे पद्मप्रभ की पारपरिक यक्ष-यक्षी कभी निरूपित नही हुए।[3] केन्द्रीय सग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर मे पद्मप्रभ की दो प्रतिमायें सग्रहीत है, जिसका विवरण इस प्रकार है :—

बेसनगर (विदिशा) से प्राप्त (स० क्र० ३३) कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित इस प्रतिमा की मुखाकृति लुप्त सी हो गई है। फिर भी योग मुद्रा की शान्ति चेहरे पर स्पष्ट जाहिर होती है एव केश राशि पर अलग से सामान्य रूप से प्रचलित हल्का सा उष्णीष है। हाथ सीधे नीचे लटके हुए है जो कलाई से टूटे हुए है। मूर्ति का प्रभामंडल गोलाकार पंक्तियो से अलकृत है जो सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा के प्रभामण्डल से समानता रखता है।[4] जिसमे दो विद्याधर हार फूल लिए एक समान है। केवल पीछे लगे वृक्ष से अन्तर स्पष्ट होता है।

इस प्रतिमा का पादपीठ साधारण है, परन्तु दो पूर्ण विकसित कमल दण्ड नीचे से खंडित अवस्था में है। दोनों तरफ चांवरधारिणी पूजक आराधना करते हुए अंकित है। कमलदण्ड से ऐसा प्रदर्शित होता है कि यह मूर्ति पद्मप्रभ की हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन जैन मूर्तियो के पादपीठ पर चिह्न या लांछन रहता था।[5] लगभग ५वी शती ई० की इस जैन प्रतिमा को एम. आर. ठाकुर ने जैन तीर्थंकर लिखा है।[6]

दूसरी प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त पद्मासन (सं० क्र० ११६) की ध्यानस्थ मुद्रा मे निर्मित है। प्रतिमा सिर विहीन एव दो खंडों मे है। दो सिंहों पर आरित पादपीठ के मध्य पद्मप्रभ का लाछन पद्म तथा उनकी पूजा करते हुए स्त्री-पुरुष स्थित है। सिंहों के दोनो ओर दायें यक्ष पुष्प बाये यक्षी मनोवेगा का अङ्कन है। पादपीठ के नीचे दो पद्मासन मे जिन प्रतिमाओ का आलेखन है। चोकी पर विक्रम संवत् १५५२ (ईस्वी सन् १४९२) का आलेख उत्कीर्ण है जिसे एस०के० दीक्षित ने महाराजा मानसिंह तोमर के राज्यकाल की माना है। एस० आर० ठाकुर ने इसे जैन तीर्थंकर लिखा है।[7]

सन्दर्भ-सूची

१. त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र (हेम चंद्र कृत) अनु० हेलेन एम० जानसन, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज उड़ीसा ३, ४, ३८, ५१।

२. जैन कला एव स्थापत्य (खण्ड ३, अमलानद घोष, सम्पादित भारतीय ज्ञानपीठ) १९७५ पृष्ठ ६०४।

३. तिवारी मारुति नन्दन प्रसाद "जैन प्रतिमा विज्ञान" वाराणसी, १९८१ पृष्ठ १००।

४. कुमार स्वामी ए० के० हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट १९६५ पृष्ठ XLII.

५. गुप्तकाल में जैन मूर्तियों के विकास मे प्रतिमा लांछनो मे केवल श्री वत्स लाछन ही नही मिलते बल्कि छोटे-छोटे यक्ष-यक्षों के रूप मे शासन देवताओ का अङ्कन मिलता है, शुक्ला डी० ए० जैन एण्ड बुधिष्ट आइक्नोग्राफी आर्किटेक्चर II पृष्ठ ११.

६ ठाकुर एस० आर० कंटलाग आफ स्कल्पचर्स आर्कोलाजीकल म्यूजियम ग्वालियर एम० बी० पृष्ठ-४ क्रमांक १२।

७. ठाकुर एस० आर० पूर्वोक्त पृष्ठ २० क्रमांक ४।

जैन की पहिचान : अपरिग्रह

□ पद्मचन्द्र शास्त्री 'सम्पादक'

'परम्परव्यतिकरे सति येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्--' परस्पर में मिले हुए अनेको मे जो हेतु किसी एक की स्वतन्त्ररूपता को लक्षित कराता है वह उस जुदे पदार्थ का लक्षण होता है। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता अग्नि को पानी से जुदा बताने में हेतु है। ससार मे जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, मुस्लिम, सिख आदि अनेको मत-मतान्तर प्रचलित है उन सबकी पृथक्-पृथक् पहिचान कराने के उनके अपने-अपने लक्षण निश्चित है, जिनमे उनकी पृथक् पहिचान होती है। यह बात निर्विरोध है कि जैनों की पहिचान कराने मे 'अपरिग्रह' मुख्य हेतु है। यह हेतु जैनों का अन्यों से व्यवच्छेद कराता है—जैनो की पृथक् पहिचान कराता है। साधारणतया अपरिग्रह के सिवाय अन्य शेष धर्मों—अहिंसादि मे वह शक्ति नही जो वे जैनो का अन्य मतान्तरो से सर्वथा व्यवच्छेद कराने में सर्वथा समर्थ हो सकें। यतः अपरिग्रह के सिवाय अन्य अहिंसादि शेष धर्म अन्य सभी साधारण मत मतान्तरों मे हीनाधिक रूपों में पाये जाते हैं। अतः जैनों मे उनका अस्तित्व तात्त्विक पहिचान के रूप मे विशेष महत्व नही रखता और ना ही उनमे से कोई धर्म औरों से जैनों की अलग पहिचान कराने मे समर्थ ही है। तथा जैनों की हर क्रिया मे पूर्ण अपरिग्रहत्व की भावना निहित है। यहा तक कि जैन का अस्तित्व भी अपरिग्रह पर आधारित है। यतः—

'जैन' शब्द के निष्पन्न होने मे 'जिन' की मुख्यता है। जो 'जिन' का है वह 'जैन' है। यहां जीतने से तात्पर्य मोह, राग-द्वेषादि पर-वैभाविक भाव अर्थात् कर्मों के जीतने से है। क्योंकि ये मोहादि पर-भाव स्वय भी परिग्रह हैं और परिग्रह के मूल भी हैं।

हमने श्रावक व मुनियो की दैनिकचर्या को पढा है और उनके प्रारम्भिक कृत्यों को देखा है। नित्य-नियम सामायिक आदि के लक्षणो मे भी अपरिग्रह-भावना की कारणता विद्यमान है अर्थात् जब तक रागादि-परिग्रह के प्रति उदासीन भाव नहीं होगा तब तक सामायिक न हो सकेगी। जहा पर—परिग्रह से निवृत्ति और स्व यानी अपरिग्रहत्वरूप निर्विकार स्व-परिणाम मे ठहराव है वहीं सामायिक है और वह ही आत्मा की शुद्धि मे कारण है। जब तक जीव की पर-प्रवृत्ति बनी रहेगी, चाहे वह प्रवृत्ति अहिंसादि में ही क्यों न हो? वह बन्ध का ही कारण होगी। क्योंकि अहिंसादि धर्म पर-अपेक्षाकृत है, पर के आसरे से हैं। स्व-परिणाम 'अपरिग्रह' रूप होने से बन्ध का कारण नही। अहिंसादिक सामाजिक धर्म हैं और अपरिग्रह आत्मिक धर्म है जिसका 'जिन' और जैन से तादात्म्य सम्बन्ध है।

युग के आदि प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर भ० महावीर तक चौबीस तीर्थंकर और अरहन्त अवस्था व मुक्ति को प्राप्त असंख्य सिद्ध अपरिग्रही होने से ही पूर्णता को पा सके। एक भी दृष्टान्त ऐसा नही है जिससे परिग्रही का मुक्त होना सिद्ध हो सके।

जैनों मे जो दिगम्बर, श्वेताम्बर जैसे दो भेद पड़े हैं वे परिग्रह और अपरिग्रह के कारण ही पड़े है। ऐसा मालूम होता है कि जिन्होंने अपरिग्रह पर समन्ततः और सूक्ष्म दृष्टि रखी वे दिगम्बर और जिन्होने अपरिग्रह पर स्थूल, एकांगी बाह्य-दृष्टि रखी वे श्वेताम्बर हो गए। स्मरण रहे जहां दिगम्बर अन्तरंग-बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह त्याग पर सूक्ष्म रूप मे जोर देते है, वहां श्वेताम्बर बाह्य-परिग्रह को गौण कर केवल अन्तरग परिग्रह को मुख्यता देते है और इसीलिए उनमें स्त्री और सवस्त्र मुक्ति को मान्यता दी गई है। यदि इन भेदों के होने मे अहिंसादि को लेकर मत-भेद की बात होती तो उसका कहीं तो कैसे भी उल्लेख होता—जैसा कि नही है। दोनों में ही अहिंसादि चार धर्मों के लक्षणों और उनके रूपों की मान्यता

में एकरूपता है। यदि भेद है तो परिग्रह और अपरिग्रह के लक्षणों को लेकर ही है।

दोनों सम्प्रदायों मे दो श्लोक बड़े प्रसिद्ध हैं। उनमें दिगम्बर-सम्प्रदाय में शास्त्र वाचन के प्रारम्भ में पढ़ा जाने वाला मंगलश्लोक पूर्ण अपरिग्रही होने के रूप में नग्न दिगम्बराचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य को नमस्कार करता है जब कि श्वेताम्बरों में इस श्लोक का रूप सवस्त्र (दिगम्बरों की दृष्टि में परिग्रही) आचार्य स्थूलभद्र को नमस्कार रूप में है। तथाहि—

दिगम्बरों मे—

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमोगणी।
मंगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मगलम्॥

श्वेताम्बरों मे—

मगलं भगवान वीरो मगलं गौतमोप्रभु।
मंगलं स्थूलभद्रार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

उक्त श्लोकों से यह भी ध्वनित होता है कि महावीर और गौतमगणधर के पर्याप्त समय बाद तक अभेद रहा और बाद में अपरिग्रह, परिग्रह के आधार पर नग्न और सवस्त्र साधु के भिन्न-भिन्न नामो से श्लोक प्रचलित किया गया, जो कुन्दकुन्द और स्थूलभद्र के रूप में हमारे सामने है। श्लोकों मे महावीर और गौतम के नाम यथावत एक रूप है। इसी के आधार पर दिगम्बर कभी सवस्त्र को निर्ग्रन्थ-गुरु के रूप में नमस्कार नही करते। और वैसा मंगलाचरण भी नही करते जैसा अब कोई-कोई करने लगे हैं; जो ठीक नही है।

अपरिग्रह धर्म अध्यात्मरूप भी है जो आत्मा के परभिन्न—नग्न—शुद्धस्वरूप को दर्शाता है। इसी अपरिग्रही रूप की प्राप्ति के लिए जिन शासन मे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और सामायिक के विधान है। प्रतिक्रमण का अर्थ होता है—आत्मा के प्रति आना। प्रत्याख्यान का अर्थ होता है—पुनः 'पर' मे न जाना और सामायिक का अर्थ होता है—अपने में स्थिर होना। यह जो कहा जा रहा है कि अशुभ से हटकर शुभ मे आना आदि, सो सब व्यवहार ही है।

(१) **प्रतिक्रमण :** परिग्रह से आवृत प्राणी पुनः-पुनः परिग्रह—राग-द्वेषादिक रूप पर-भावों में दौड़ता है अर्थात् वह स्व से बेखबर हो जाता है और पुण्य-पापरूप या ससारवर्द्धक पर पदार्थों में वृत्ति को ले जाता है। ऐसे जीव को उन परिग्रह – कर्मबन्धकारक क्रियाओं से सर्वथा हटकर पुनः अपने शुद्ध अपरिग्रही आत्मा मे आने के लिए प्रतिक्रमण का विधान किया गया है। इसमें पर प्रवृत्ति का सर्वथा निषेध और स्व-प्रवृत्ति (जो शुद्ध यानी अपरिग्रह रूप है) मे आने का विधान है।

(२) **प्रत्याख्यान :** जो जीव पर से स्व मे आ गया, वह पुनः पर मे न जाने को कटिबद्ध हो, *यानी* पुनः परिग्रहरूप—कर्मबन्धकारक क्रियाओ मे न जाने में सावधान हो? इससे उसका आगामी ससार—परिग्रह यानी कर्मबन्धरूप ससार रुकेगा।

(३) **सामायिक :** प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में सन्नद्धजीव सम—समता भाव मे स्थिर होने मे समर्थ हो सकेगा। क्योंकि समता का शुद्ध-आत्मा से अटूट सम्बन्ध है। समता का भाव है—किसी अन्य के प्रति शुभ या अशुभरूप पर भावों का सर्वथा त्याग। क्योंकि शुभ और अशुभ भाव चाहे वे विभिन्न जीवो मे एक जैसे ही क्यो न हो बन्ध कारक होगे, जब कि सच्ची सामायिक मे आस्रव व बन्ध दोनो का सर्वथा अभाव यानी आत्मा के अपरिग्रही होने का पूर्ण उद्देश्य है। इसी सामायिक से ध्यान और कर्मक्षय को बल मिलता है। इस प्रकार जैन की सभी प्रवृत्तिया अपरिग्रहत्व की ओर मुड़ी हुई हैं जब कि अहिंसादि अन्य धर्मों मे पर का अवलम्ब अपेक्षित है। ध्यान के विषय मे भी कुछ लिखना है। ध्यान की प्रक्रिया आज जोरों से प्रचारित है और उसमे पर-प्रवृत्ति ही विशेष लक्ष्य बनी हुई है।

अपरिग्रहत्व से तात्पर्य है—मात्र 'स्व' और ऐसे 'स्व' से जिसमे—परिग्रह का विकल्प ही न हो। अरहन्त—तीर्थङ्कर अपरिग्रही—पूर्ण दिगम्बर हैं 'स्व' मे विराजमान और 'स्व' रूप मे स्थित भी। ज्ञान रूप आत्मा के सिवाय उनका स्व-तत्त्व अन्य कुछ नही—वे ज्ञाता दृष्टा कहलाते हैं सो भी परकीय दृष्टि से ही। क्योंकि उनमे पर की

कल्पना को अवकाश ही नही होता। जो पदार्थ उनके ज्ञान मे प्रतिबिम्बित होते हैं वे भी अपनी, पदार्थ की सत्ता मात्र मे ही प्रतिबिम्बित होते है; केवली के ज्ञान से उन पदार्थों की सत्ता का तादात्म्य नही; मात्र ज्ञेय-ज्ञायक भाव है और वह भी व्यवहारी है! क्योंकि स्व वस्तु किसी विकल्प या कथन की चीज नही, मात्र अनुभव की चीज है—सर्वथा अनुभव की। आश्चर्य है कि उक्त वस्तु-स्थिति मे भी हम स्वत्व—दिगम्बरत्व-अपरिग्रहत्व के अर्थ से अजान है और दिगम्बरत्व या अपरिग्रहत्व को मात्र बाह्य-शरीरादि के आधार पर पहिचानने मे लगे हुए है; मात्र निर्वस्त्र को दिगम्बर मान रहे है और उसे अपरिग्रही कह रहे हैं। खैर, कोई हर्ज नही; हम निर्वस्त्र को अपरिग्रही या दिगम्बर मानते रहे पर, वस्त्र का भाव अवश्य हृदयंगम करें : वस्त्र (वेष्टन) आवरण का द्योतक है जो असलियत को आच्छादित करता है; उसे प्रकट नही होने देता। उक्त भाव मे स्व-रूप मे भिन्न सभी दशाये वस्त्र से आच्छादित जैसी हैं; सवस्त्र रूप ही है। इसी आच्छादन करने वाले सत्त्व को जैन-दर्शन में परिग्रह नाम से सम्बोधित किया गया है और इससे मुक्त रहने का पाठ दिया गया है। इस दर्शन में अपरिग्रही को पूज्य माना गया है क्योंकि वह ही निर्दोष है और वह ही स्व-स्वभावी सर्वज्ञ दशा मे स्थित होने मे समर्थ है। कहा भी है—'यस्तु न निर्दोषः स न सर्वज्ञः। आवरण रागादयोदोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम्।'·· जो निर्दोष नही है वह सर्वज्ञ नही है और रागादि अन्तरग व धनादि बहिरंग आवरणों—परिग्रहो से रहित होना ही निर्दोषपना है। और जैनाचार्य ने शुद्धात्मा को ही निर्दोष कहा है—'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति शास्त्राविरोधि वाक्।' इसी निर्दोषता को लक्ष्य कर १८ दोषो को भी स्थूल रूप मे दर्शाया गया है—

'छुहतण्हभीररोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दा जणु व्वेगो॥
—नियमसार ६।

जम्बूदीवपण्णत्ति और द्रव्यसग्रह टीका आदि मे भी इन दोषो का खुलासा है और ये सभी दोष स्व-स्वभाव न होने से पर—परिग्रह है—जिनसे आत्मा की अनन्त शक्ति आच्छादित होती है।

हम यहां जैन मान्य उस परिग्रह की बात कर रहे हैं जिसमे जैनत्व व्याप्त होकर निवास करता है और जिससे जीवित रहता है। परिग्रह की बढ़वारी करते जैनी बने रहने का प्रयत्न करना मुर्दे में हवा देकर उसे जीवित मानने जैसा है। मृत-शरीर वायु से फूल सकता है, हिल भी सकता है। पर वह हिलना उसका जीवित होना नहीं होता; मात्र पौद्गलिक क्रिया होती है। ऐसे ही परिग्रह की बढ़वारी के प्रति जागृत जीव की बाह्य—पर क्रियाएँ भी जैनत्व की साधिका नहीं। क्योंकि सारा का सारा जैनत्व परिग्रह की हीनता मे समाहित है, फिर चाहे वह परिग्रह हीनता अहिंसा में आती हो, सत्य या अचौर्य आदि मे आती हो। यदि अहिंसादि के मूल मे अपरिग्रह की भावना नही तो सब व्यर्थ है। और यहा अपरिग्रहत्व से तात्पर्य राग-द्वेषादि कषायो के कृश करने से और बाह्य-संग्रह की मर्यादा और त्याग आदि से है। स्मरण रखना चाहिए कि सब व्रत-क्रियायें आदि भी तभी सार्थक हैं जब वे अपरिग्रह की भावना और अपरिग्रही-क्रियाओ से अपरिग्रह की पुष्टि के लिए हो।

हमारी भूल रही है कि हम अन्य व्रत आदि की क्रियाओं को (वह भी दिखावा रूप में) जैनत्व का रूप देने मे आसक्त रहे है और अपरिग्रह की आसक्ति से नाता तोड़े हुए है। आज देश का जन-जन दुखी है वह भी परिग्रह की ज्यादती या लौकिक अनिवार्य पूर्तियो के अभाव मे दुखी है। हिंसादि सभी प्रवृत्तिया भी परिग्रह से तथा परिग्रह की बढ़वारी के लिए ही की जा रही है। आश्चर्य है कि सरकार ने भी परिग्रह की बढवारी को किन्हीं अपराधों की परिधियो मे नही बाधा। भारतीय दण्डसहिता मे हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील के लिए जैसे दण्ड निर्धारित है, वैसे परिग्रह की बढ़वारी की रोक के लिए सायद ही कोई धारा हो। यदि सरकार ने जैन मूल-सस्कृति अपरिग्रहत्व से नाता जोड़ा होता—ऐसी कोई धारा निर्धारित की होती जो परिग्रह परिमाण पर बल देती होती—अति-परिग्रहियो के लिए दन्ड विधान करती होती तो देश

को त्रास से काफी हद तक छुटकारा मिला होता। तब न हर कोई हर किसी के भाग पर कब्जा करता होता और न ही टैक्सों की चोरी आदि जैसी बाढ़ें ही आई होती। व्यक्ति की संचय सीमा निश्चित होती और परिवार भी तदनुसार निर्धारित-परिमाण में संग्रह कर पाते। इससे एक घर संपदा से अनाप-शनाप भरा और दूसरा सम्पदा से सर्वथा खाली न होता। जैसा कि वर्तमान मे चल रहा है और जो जनसाधारण को परेशानी का कारण बन रहा है। अस्तु।

यहां हम यह भी कहना उचित समझते है कि जिस ध्यान को तत्त्वार्थ सूत्र के नवम अध्याय के २७वे सूत्र द्वारा दर्शाया गया है वह ध्यान भी अपरिग्रह मूलक और संवरनिर्जरा का साधक ही है। दूसरे रूप में यह भी कह सकते हैं कि—अपरिग्रहत्व और वह ध्यान समकाल भावी और एक है। वैसा ध्यान तभी होगा जब अपरिग्रहत्व होगा—विना अपरिग्रहत्व के ध्यान कैसा? प्रसग गत ध्यान के लक्षण मे 'अपने मे रह जाना' ध्यान है और वही पूर्ण अपरिग्रहत्व है; जैसा कि ध्यान में होता है या होना चाहिए। क्योंकि ध्यान और अपरिग्रहत्व दोनो मे अन्यत्व-पने का अभाव होने से संवर-निर्जरा है। जबकि अन्य चिंताओं से हटकर मन का एक ओर लक्ष्य होने मे भी चिंतन रूप क्रिया विद्यमान होने से आस्रव है—'काय वांग्मन: कर्मयोग:' स आस्रव:।' भले ही मन एकाग्र हो जाय—वह चिन्तन क्रिया तो करेगा ही। और जहां चिंतन रूप क्रिया होगी वहां आस्रव होगा ही। मन की क्रिया (चिन्तन) का नाम ही तो चिंता है। जो निर्जरा-प्रसग-गत ध्यान के लक्षण से मेल नही खाता। प्रसंग मे तो उसी ध्यान से तात्पर्य है जो संवर निर्जरा मे हेतु हो। हम पुन. स्मरण करा दें कि मन का कार्य चिंतन है और चिंतन कर्म होने से आस्रव है। इस विषय में किसी समझोते को खोज कर अन्य निर्णय सर्वथा अशक्य है।

सभी जानते हैं कि पूज्य उमास्वामी जी ने तत्वार्थसूत्र के छठवें अध्याय से आठवें अध्याय तक आस्रव-बन्ध का और नवम अध्याय में सवर-निर्जरा का वर्णन किया है। इनमें पहिले उन्होंने मन-वचन-काय की क्रिया को आस्रव और फिर उसके निरोध को संवर कहा है। और इसी प्रसंग मे नवम अध्याय में ही तप को संवर और निर्जरा दोनों का कारण कहा है। और ध्यान की गणना तपों में कराई है। इसका भाव यही है कि प्रसग में ध्यान वही (निरोध) है जो संवर-निर्जरा मे कारण हो। ऐसे में ध्यान के शुभ-अशुभ या आर्त-रौद्र जैसे भेदो को इसमे स्थान ही कहां है जो उन्हे इस ध्यान मे शामिल किया जा सके या प्रसंगगत ध्यान (चितानिरोध) को शुभ-अशुभ के आस्रव मे कारण माना जा सके। वे दोनो और निचली दशा के मनोगत भाव—आर्त-रौद्र तो आस्रव ही हैं।

इसके सिवाय ध्यान के फल का जो वर्णन है और जो स्वामी वर्णन है उससे भी स्पष्ट पता चलता है कि प्रसंग मे ध्यान संवर-निर्जरा का ही कारण है और वह मिथ्या-दृष्टि के नही होता। इसीलिए धवला मे ध्यान के दो ही भेद कहे है—धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। मोह की सर्वोपशमना करने से धर्म ध्यान को और शेष घाति-अघाति का क्षय करने से शुक्ल ध्यान को ध्यान की श्रेणी में रखा गया। यहां इतना विशेष समझना चाहिए कि—दोनों ही ध्यानों मे 'आप मे रह जाना' ही सर्वथा इष्ट है—कायवाग्मन की क्रिया करने से तात्पर्य नहीं। 'अट्ठा-वीसभेयभिण्णमोहणी यस्ससव्वुवसमा-वट्ठाण फलं पुधत्तवि-दक्क वीचार सुक्कझाण।' कोहसव्वुवसमो पुण धम्मज्झाण-फलं। 'तिण्णघादिकम्माणं णिम्मूलविणासफलमेयत्तविदक्क अवाचीरज्झाणं ।।'

—धव. १३, ५, ४, २६ पृ. ८०-८१

'अघाइ कम्म चउक्कविणास (चउत्थसुक्कज्झाणफल) वही पृ० ८८। ण व णवपयत्थविसयरुइ-पच्चय सद्धाहि विणज्झाण सभवदि। वही पृ० ६५।

अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय की सर्वोपसमना होने पर उसमें स्थित रखना पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान का फल है।

चार अघातिया कर्मों का विनाश चतुर्थ शुक्ल ध्यान का फल है। नवपदार्थों की रुचि (श्रद्धा) के बिना ध्यान नही हो सकता अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही ध्यान का अधि-कारी है।

सूत्र मे ध्यान के स्वामी के निर्देश से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रसंग में आचार्य को ध्यान का वही लक्षण इष्ट था जिसके द्वारा संवर-निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त होता हो। यदि आचार्य को उक्त प्रसंग में आस्रवरूप मन की क्रिया (एकाग्रत्व रूप ही सही) अर्थ अभीष्ट होता तो वे सूत्र मे 'उत्तम सहननस्य' पद को भी स्थान न देते। क्योंकि चितवन रूपी ध्यान तो साधारण सभी संहनन वालों और मिथ्यादृष्टियो तक को भी सदा काल रहता है।

जब हम ध्यान के लक्षण-सूत्र पर विचार करते हैं तो सूत्र में एकाग्र चितानिरोध, ऐसा पद भी मिलता है। इसमे 'एकाग्र चिता' से विदित होता है कि एकाग्र—एक को मुख्य लक्ष्य कर उसका चितवन करना ध्यान है। जरा सोचिए, जब एक वस्तु मुख्य कर ली तब वहां अन्य वस्तु के प्रवेश को अवकाश ही कहां रहा? यदि अन्य को अवकाश (स्थान) है तो एकाग्रपना कैसे? एकाग्र होने का अर्थ ही यह है कि जिसमे अन्य का विकल्प हट गया हो। और जब अन्य स्वाभाविक हट गया तब 'निरोध शब्द ही व्यर्थ पड़ जाता है। ऐसे में यदि आचार्य ऐसा कहते कि 'एकाग्र चिता ध्यानम्' तब भी काम चल सकता था। इससे मन की क्रिया (एकाग्र प्रवृत्ति) को बल भी मिल सकता था। और चारों धर्मध्यान भी ध्यान की परिभाषा मे आ जाते। फिर यदि आचार्य को कहना ही था तो वे 'निरोध' के स्थान पर 'रोध' शब्द से भी काम चला सकते थे। क्योंकि सूत्र ग्रंथ में वैयाकरण लोग आधी मात्रा के कम होने पर भी 'पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा:'। ऐसा मालूम होता है कि यहां सवर-निर्जरा सम्बन्धी ध्यान के प्रसग में आचार्य श्री को एक का चितवन और अन्य चिंतवन का रोध' ऐसा अर्थ इष्ट नहीं था, इसलिए उन्होने रोध के स्थान पर 'निरोध' शब्द का प्रयोग किया और निरोध का अर्थ है—नि:शेषेण पूर्णरूपेण रोध। सभी प्रकार से सभी रीति की क्रियाओं का रोध।

'निरोध' को तुच्छाभाव मान उसके निराकरणार्थ किसी चिंतन को पुष्ट करने में लगे लोगों को राजवार्तिककार ने स्पष्ट रूप में सकेत दिया है कि निरोध तुच्छाभाव नही अपितु भावान्तर रूप है। 'अभावो निरोध इति चेत्; न,······विवक्षार्थविषयावगमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवेति।'—उत्कृष्ट ध्यान की अवस्था में आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता (मन की क्रिया) का निरोध किया जाता है और वहां आत्मा का लक्ष्य आत्मा ही होता है—अन्य नही। यह भी ध्यान रहे कि इस उत्कृष्ट ध्यान के प्रसंग में 'अग्र' शब्द भी आत्मावाची है। आचार्य यह भी कहते हैं कि ध्यान स्व-वृत्ति (आत्म-वृत्ति) होता है—इसमें बाह्य चिताओ से निवृत्ति होती है—अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थः। द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्। ततः स्व-वृत्तित्वात् बाह्यध्येय प्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति।' —इससे यह भी फलित होता है कि जहां अग्रशब्द अर्थवाची है अर्थात् जहां द्रव्य-परमाणु या भाव-परमाणु या अन्य किसी अर्थ मे चित्तवृत्ति को केन्द्रित करने को 'ध्यान' नाम से कहा गया है; वहा 'ध्यान' शब्द का लक्ष्य शुक्ल ध्यान के दो पायों तक सीमित है।

एक बात और ध्यान एक तप है और तप शब्द से आत्म-लक्ष्य के सिवाय अन्य का परिहार इष्ट है। इसी भाव में इच्छा निरोध को तप नाम दिया गया है—

'तिण्णं रयणाणमाविब्भावट्ठमिच्छा निरोहो।'

—ध० १३, ५, ४, २२, ५४

'समस्तभावेच्छात्यागेन स्व-स्वरूपे प्रतपनं, विजयनं तप:।'

— प्रव० सा० ता० वृ० ७६।१०००।१२

उक्त इच्छानिरोध मे स्व और पर के भेद का सकेत भी नही है जिससे कि स्व की इच्छा को भी ग्राह्य माना जा सके। यहां तो ऐसा ही मानना पड़ेगा कि ध्यान में सभी प्रकार की इच्छाओ (मन की क्रियाओं) का अभाव ही आचार्य को इष्ट है और वे आत्मा में आत्मा के होने को ही उत्कृष्ट ध्यान मानते हैं जो अपरिग्रहरूप है।

किन्ही मनीषियों ने हमे 'एक पदार्थ को मुख्य बना कर उसके चिन्तन मे (मन का) रोध करना—मन को ठहरा लेना ध्यान है' ऐसा अर्थ भी बतलाया है यानी उनके मत में निरोध का अर्थ मन का स्थापित करना है। ऐसे

मनीषियों को धवला मे आये 'निरोध' शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए। और यह भी सोचना चाहिए कि मन को लगाने की क्रिया से आस्रव होगा या सवर-निर्जरा? एक स्थान पर धवला मे निरोध के अर्थ को इस भांति स्पष्ट किया गया है—'को जोग णिरोहो ? जोग विणासो।' उवयारेण जोगो चिन्ता, तिस्से एयग्गेण णिरोहो विणासो जम्मि तं ज्झाणमिदि।' —वही पृ० ८५-८६

योग का निरोध क्या है ? योग का विनाश। उपचार से चिन्ता का नाम योग है ? उस चिन्ता का एकाग्ररूप से जिसमें विनाश हो जाता है वह ध्यान है। किसी (एक की भी) चिन्ता में लगे रहना, प्रसग गत ध्यान नही और ना ही उस चिन्ता मे लगे रहने मे, उससे सवर और निर्जरा ही है। यदि संवर निर्जरा है भी तो वह अन्य प्रवृत्ति से निवृत्ति मात्र के कारण और उसी अनुपात मे है; ध्यान (क्रिया) से नही; वहां ध्यान नाम तो मात्र उपचार है। ऊपर के पूरे विवेचन से स्पष्ट होता है कि धवला निर्दिष्ट दो ध्यानों के प्रकाश में ध्यान वही है जो संवर-निर्जरा का हेतु हो ? सि० च० नेमीचन्द्राचार्य जी ने जो 'दुविह पि मोक्खहेउं' रूप में दो ध्यानो को प्ररूपित किया है उनमें 'पणतीस सोलछप्पणचदुदुगमेग' तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ जैसे परावलम्बी ध्यानो को मोक्षमार्ग मे परम्परित कारण होने से व्यवहार-ध्यानरूप और 'बहिरब्भन्तरकिरियारोहो' और रूपातीत जैसे स्वावलम्बी ध्यान को निश्चय ध्यान रूप कहा है। यदि हम विचारें तो धवलाकार के शब्दों से यह बात सर्वथा मेज खाती जैसी दिखती है—

अन्तोमुहुत्तमेत्तं चिन्तावत्थाणमेगवत्थुम्हि।
छदुमत्थाणं झाण 'जोगणिरोहो' जिणाणं तु॥' (उद्धृत)

एक वस्तु मे अन्तर्मुहूर्तकाल चिन्ता अवस्थानरूप ध्यान छद्मस्थों का ध्यान है और योगनिरोध रूप निश्चय ध्यान अर्हन्त भगवान का ध्यान है आदि।

ऊपर के प्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि जिन्हें आर्त और रौद्र ध्यान के नामों से सम्बोधित किया जा रहा है वे सम्यग्दृष्टी के लिए न तो व्यवहार ध्यान है और ना ही वे निश्चय की परिभाषा में आते हैं। अपितु यह कहा जाय कि वे सर्वथा अव्यवहार्य और जीव की दशा की अनिश्चिति में कारण हैं, तो अधिक उपयुक्त होगा—यत: वे मिथ्याभाव हैं।

साधारणत: 'ध्यान' शब्द ऐसा है जो जन साधारण में चिंता या चिंतन के अर्थ में प्रसिद्ध है—'ध्यै चिंतायाम्'। इसलिए लोग इस शब्द को विचार करने जैसे अर्थ में लगा बैठते हैं। लोगो को समझना चाहिए कि यदि सर्वथा विचार—चिन्तन ही ध्यान होता तो आचार्य शुक्ल ध्यान की ऊपरी श्रेणियो मे विचार का बहिष्कार न करते जैसा कि उन्होंने किया है। वे कहते हैं—'अवीचारं द्वितीयं।' 'दूसरा एकत्ववितर्क नामा शुक्ल ध्यान विचार रहित है (तीसरा और चौथा शुक्ल ध्यान भी विचार रहित है)। विज्ञपुरुष इस बात को भली भांति जानते है कि—'विचारोऽर्थ व्यजनयो सक्रान्ति:। अर्थ और व्यजन में विचारों की पलटनी दशा सक्रान्ति कहलाती है और वीचार व विचार दोनो शब्द एकार्थक हैं यानी जब यह जीव अर्थ का विचार करते-करते कभी पर्याय पर चला जाता है और कभी अर्थ पर चला जाता है तब उस पलटने की दशा को संक्रान्ति कहा जाता है। और वह ऊपरी अवस्थाओ में नही है। अब सोचिए! कि जब मन का अर्थ चिन्तन है और चिन्तन मे पलटना अवश्यम्भावी है। यदि पलटना नही तो चिन्तन कैसा ? वह तो कूटस्थपना ही है और यदि मन कूटस्थ है तो वह मन कैसा ? फिर यदि मन सक्रान्ति नही करता तो वहां कौन सी क्रिया करता है वह क्रिया 'आस्रव' क्यो नही ? जब कि आचार्य ने मन, वचन या काय की क्रिया को आस्रव कहा है ?

उक्त सभी परिस्थितियो से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि—उक्त ध्यान मे मन लगाना नहीं पड़ता, अपितु मन को हटाना पड़ता है और इस मन को हटाना ही—पर से निवृत्ति करना ही अपरिग्रह है और जैन दर्शन को यही निवृत्ति इष्ट है। फलत:—इस मायने मे उत्कृष्ट ध्यान और अपरिग्रह दोनो एक ही श्रेणी मे ठहरते हैं और ऐसा किए बिना 'तपसा निर्जरा च' सूत्र की सार्थकता भी नही बनती और जिन-दशा तथा मुक्ति भी नहीं बनती। □□

'तीर्थंकर' में प्रकाशित आरोपों का खण्डन

डा० नेमिचन्द जी जैन,
संपादक "तीर्थंकर"
६५, पत्रकार कालोनी, इन्दौर

(तीर्थंकर दिसम्बर ९० अङ्क में प्रकाशित श्री ललवानीजी के आरोपों का वीर सेवा मन्दिर द्वारा खण्डन)

आपने श्री गणेश ललवानी और डा० भागचन्द जैन भास्कर द्वारा वीर सेवा मन्दिर जैसी प्रतिष्ठित संस्था के प्रति मिथ्या आरोपो वाले पत्र अगस्त ९० व अक्तूबर ९० के अकों मे प्रकाशित किये और वीर सेवा मन्दिर से वस्तु-स्थिति भी जानने की कोशिश नही की ! उन दोनों पत्रों के उत्तर मे वीर सेवा मन्दिर द्वारा दिये गये उत्तर को विलम्ब से प्रकाशित करने का कारण हमें आपने यह लिखा कि श्री ललवानी जी के उतर के साथ ही प्रकाशित करेंगे, किन्तु श्री ललवानी जी का तथ्य विहीन एव आपत्तिजनक उत्तर हमसे वस्तुस्थिति जाने बिना ही आपने प्रकाशित कर दिया। यह सौतेला बर्ताव तीर्थंकर के सम्मानित सम्पादक की स्वस्थ पत्रकारिता तो क्या पत्रकारिता के साधारण मानदण्डो से भी नीचे है।

पता नहीं श्री ललवानी जी एक पेशेवर उजरत प्राप्त वकील की तरह डा० बनर्जी के पक्ष मे आधारविहीन तर्कों से सत्य को झुठलाने का असफल प्रयत्न क्यों कर रहे हैं ? उनके पूर्व पत्र मे वीर सेवा मन्दिर पर दिगम्बर जैन संस्था होने और डा० बनर्जी के बगाली होने से उनके नाम को हटाने का ऐसा घिनौना आरोप है जो ललवानी जी की संकीर्ण व विकृत मानसिकता एवं पूर्वाग्रह ग्रस्त भावना का द्योतक है। यह भी सम्भव है कि श्री ललवानी जी श्वेताबर आम्नाय के होने के नाते एक प्रतिष्ठित दिगम्बर जैन संस्थान को बदनाम करने की कुभावना उनके हृदय के किसी कोने में रही हो। जैसा कि मैंने पहले उत्तर में लिखा था, पुनः स्पष्ट करना अपना दायित्व मानता हू विद्वान की जाति या धर्म उसकी विद्वता है और ऐसे सभी विद्वानों का वीर सेवा मन्दिर सदैव आदर-सम्मान करता है और करता रहेगा। विद्वान की जाति या धर्म उसकी विद्वता में आड़े नही आती, अन्यथा डा० बनर्जी का नाम सम्पादक के स्थान पर इस बिब्लियोग्राफी के प्रारम्भ में सहज रूप में मुद्रित नहीं हो जाता।

"तीर्थंकर" के अगस्त ९० के अंक मे प्रकाशित ललवानी जी के मिथ्या आरोपो में एक आरोप यह भी था कि डा० भागचन्द जैन को मात्र २५-३० पृष्ठों के इन्डैक्स का पांच हजार रुपया दिया गया, वीर सेवा मन्दिर द्वारा उक्त आरोप का खण्डन करने तथा डा० जैन का पत्र पढ़ने के बाद अब वह दिसम्बर के अंक मे प्रकाशित अपने पत्र में अपने उक्त आरोप को असत्य मानते हुए लिखते हैं कि—"मुझे हार्दिक खेद है कि सत्य कुछ और निकला। मैंने यह जानकारी डा० बनर्जी से प्राप्त की और उन्होंने नन्दलाल जी से।" इस प्रकार ललवानी जी का यह दावा स्वतः झूठा साबित होता है कि उन्होंने जो भी लिखा, पूर्ण जानकारी के साथ लिखा। हमे खेद है कि ललवानी जी उन्हीं डा० बनर्जी, जिनकी सूचना उन्होने स्वय असत्य बतायी है, के आधार पर एक प्रतिष्ठित संस्था को बदनाम करने के लिए मिथ्या आरोपों को अखबार में प्रकाशित करा रहे हैं। यह उनकी दूषित मानसिकता को दर्शाता है।

श्री ललवानी जी ने संस्था के प्रकाशित उत्तर में श्रद्धेय छोटेलाल जी के भ्राता श्री नन्दलाल जी द्वारा उपलब्ध कराई गयी उनकी जीवनी के २०वें अनुच्छेद के अंग्रेजी भाषा में उद्धृत शब्दश. अंशों की जानबूझ कर अनदेखी की है, क्योंकि यही अंश उनके सभी आरोपों को एकदम असत्य सिद्ध करने मे सक्षम हैं। मैं उसी अंश का हिन्दी अनुवाद उनकी जानकारी के लिए यहां दे रहा हू :

"उनकी जैन बिब्लियोग्राफी का प्रथम खण्ड १९४५ मे प्रकाशित हुआ। अब उनके द्वारा अधूरा रह जाने से दूसरा खण्ड मैसूर विश्वविद्यालय के डा० ए. एन. उपाध्ये, एम.ए.डी. लिट् के निर्देशन में पूरा हो रहा है।"

श्री नन्दलाल जो द्वारा दी गयी उक्त सूचना से स्पष्ट है कि ग्रन्थ का सम्पादन डा० उपाध्ये ने किया है। यदि डा० बनर्जी ग्रन्थ का सम्पादन करते तो श्री नन्दलाल जी उनके नाम का उल्लेख अवश्य करते। श्री नन्दलाल जी के चले जाने से उनकी लिखित सामग्री तो नही मर जाती। श्री ललवानी जी का यह कहना कि डा० उपाध्ये के पास केवल टाइप कराने के लिए मैटर भेजा गया था, कितने आश्चर्य की बात है कि श्री नन्दलाल जी कलकत्ता महानगरी मे थे और वीर सेवा मन्दिर राजधानी दिल्ली मे है। दोनों नगरों मे मुद्रण यन्त्र और टकन कर्त्ता एक से एक बढ़िया उपलब्ध थे, तब नन्दलाल जी ने कोल्हापुर केवल टाइप के लिए ही सामग्री को भेजा, क्या डा० उपाध्ये का टंकन कालेज था ? इस प्रकार को खोखली दलीलें देना वकील का ही काम है और कुछ नहीं।

श्री ललवानी जी स्वयं लिख रहे हैं—"ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर छपवा रहा है, डा० बनर्जी नहीं।" स्पष्ट है कि जिस प्रकार का पत्र-व्यवहार वीर सेवा मन्दिर और डा० बनर्जी के बीच मे इन्डैक्स के सम्बन्ध म हुआ है, यदि डा० बनर्जी को ग्रन्थ सम्पादन का कार्य सौंपा होता तो इस प्रकार पत्रों का आदान-प्रदान अवश्य हुआ होता। ललवानी जी डा० बनर्जी को लिखा ऐसा एक पत्र तो दिखाए जिससे यह साबित होता हो कि वीर सेवा मन्दिर ने ग्रथ सम्पादन का कार्य डा० बनर्जी को दिया हो।

डा० बनर्जी ने अपना सम्पादकत्व साबित करने हेतु अपने ३०-११-८२ के पत्र के साथ डा० उपाध्ये के पत्र दिनांक २७-८-६८ की फोटो प्रति सस्था को भेजी थी, जिसमें डा० उपाध्ये ने डा० बनर्जी से सम्पादन कार्य आरम्भ करने के पूर्व कुछ शकाओं के उत्तर की अपेक्षा की थी। उस पत्र का हिन्दी अनुवाद यहां दे रहा हूं :

"जब मैं कलकत्ता में था, मैंने छोटेलाल जी द्वारा छोडी गयी बिब्लियोग्राफी की सामग्री का निरीक्षण किया। मैं सोचता हूं कि आप इस कार्य मे जब-तब उससे सम्बद्ध रहे है। अब यह तय है कि यह शीघ्र ही प्रकाशित हो। नीचे लिखे बिन्दुओं पर आपकी क्या राय है ? १. जैसा कि आपने देखा है सामग्री की क्या स्थिति है ? २. क्या यह सामग्री आवश्यक काट-छांट एवं मामूली संशोधन के साथ प्रेस मे दी जा सकती है ? ३. आप भारत निश्चित रूप से कब वापस आ रहे हैं ? ४. इस कार्य के प्रकाशन मे आप किस प्रकार मदद कर सकते है ? ५. क्या भारत वापस आकर आप इस कार्य हेतु आवश्यक समय दे सकेंगे ? मैं आपके तफसील से उत्तर के लिए आभारी हूगा, धन्यवाद।" डा० बनर्जी ने उक्त पत्र के उत्तर मे ऐसा कोई प्रतिवाद नही किया कि यह सब कुछ पूछ कर क्या करेंगे ? सम्पादन तो उन्होने स्वय कर ही रखा है, ना ही इस विषय मे कोई जानकारी डा० बनर्जी ने वीर सेवा मन्दिर को दी। सम्पादन के पूर्व एक निष्ठावान विद्वान होने के नाते ग्रन्थ के सम्बन्ध मे डा० बनर्जी से सूचना प्राप्त करना डा० उपाध्ये की सदाशयता का प्रमाण है क्योंकि डा० उपाध्ये जानते थे कि डा० बनर्जी श्री छोटेलाल जी से सबद्ध रहे है।

श्री ललवानी जी का यह कथन कितना हास्यास्पद लगता है कि डा० उपाध्ये के सभी पत्रों से सम्पादन करना साबित नहीं होता, जबकि उन पत्रो मे उन्होने सारी सामग्री को व्यवस्थित करके, टंकण करा कर क्रम से रखकर संशोधन भी किये हैं। उनके हाथो सम्पादित वह पाण्डुलिपि आज भी संस्था के रिकार्ड मे देखी जा सकती है।

ललवानी जी का यह आरोप भी निरर्थक है कि डा० बनर्जी ठगे गये हैं। ठगा तो वीर सेवा मन्दिर गया है, जैसा कि मैं पहले लिख चुका हू मेरी अजानकारी, डा० उपाध्ये व नन्दलाल जी और सस्था के तत्कालीन महासचिव महेन्द्रसेन जैनी के निधन का लाभ उठाकर सम्पादन का श्रेय स्वय डा० बनर्जी ने ओढ़ लिया। विस्मय की बात तो यह है कि श्री ललवानी जी इस ठगी मे पीत पत्रकारिता के माध्यम से दलाली का काम करने की चेष्टा कर रहे है। उन्होने दिसम्बर, ६० अङ्क मे सुझाव दिया है, "अच्छा तो यही रहेगा १०,००० रु० देकर वीर सेवा मन्दिर इसे (आधे अधूरे इडैक्स को) खरीद ले।" जबकि यह इन्डैक्स वीर सेवा मन्दिर की सम्पत्ति है। पता नही उजरत प्राप्त वकील

के तौर पर यह सुझाव उनका है अथवा डा० बनर्जी ने यह रकम सुझाने के लिए उन्हें अधिकृत किया है? डा० बनर्जी ने तो स्वय २४-८-७८ के पत्र में लिखा है कि बिब्लियोग्राफी के इन्डैक्स बनाने तथा आरम्भिक परिचय लिखने के लिए जो धन ६०० रु० की राशि नन्दलाल जी से ली है वह कार्ड और लिपिक का खर्च है। कुल खर्च २००० रु० का अनुमान है। उन्होने आगे इसी पत्र में यह भी लिखा है कि मैंने अपनी कोई फीस (उजरत) नही ली है और ना ही कभी लूंगा, क्योंकि यह कार्य श्री छोटेलाल जी के प्रति प्यार का श्रम है। इस प्रकार डा० बनर्जी तथा उनके वकील के रूप में पैरवी कर रहे श्री ललवानी जी के वक्तव्यों मे विरोधाभास परिलक्षित होता है।

डा० बनर्जी ने अपने लंदन प्रवास से २४-७-७७ के पत्र में स्पष्ट लिखा है, "मैंने अब ग्रन्थ के इन्डैक्स और दो शब्द लिखने का उत्तरदायित्व ले लिया है।" डा० बनर्जी ने अपने पत्र २०-११-७८ में वीर सेवा मन्दिर द्वारा भेजे गये १००० रु० के चैक की पावती देते हुए लिखा था—"मैं इंडैक्स का कार्य इस वर्ष के अन्त तक पूरा करने का पूर्ण रूप से प्रयत्न कर रहा हूं।" वह किसी न किसी बहाने से समय बढ़ाते गये। संस्था द्वारा बहुत आग्रह करने पर डा० बनर्जी ने अपने २५-३-७६ के पत्र में सुझाव दिया—आप बिना इन्डैक्स के ग्रन्थ प्रकाशित कर दे, साथ ही घोषणा कर दें कि इन्डैक्स शीघ्र ही प्रकाशित होगा। "इसके बाद डा० बनर्जी ने सूचना दी कि इन्डैक्स के सभी कार्ड तैयार हो गये हैं, थोड़ा पुर्ननिरीक्षण का कार्य शेष है। आप कार्ड दिल्ली मंगाकर इन्डैक्स प्रकाशित कर दे। कार्ड संस्था में लाये गये, किन्तु कार्य अपूर्ण होने के कारण पुनः डा० बनर्जी को कार्य पूरा करने हेतु भेज दिये गये। इसके बाद डा० बनर्जी ने संस्था के सभी तार, टेलेक्स व पत्रों का हवाला देकर अपने पत्र ३-४-८१ में वर्ष के अन्त तक कार्य पूरा करने का आश्वासन दिया तथा काम शीघ्र हो सके, इसके लिए एक सहायक की मांग की। संस्था के तत्कालीन अध्यक्ष साहू अशोककुमार जैन से हुई वार्ता के अनुसार सहायक के खर्चे हेतु संस्था से २७०० रुपया बैंक ड्राफ्ट से भेजा गया, किन्तु इंडैक्स पूरा करके उन्होंने नहीं लौटाया जबकि इसके पूर्व भी जो खर्चा उन्होने मागा, उन्हें दिया जाता रहा है।

डा० बनर्जी यह अच्छी तरह जानते थे, जैसाकि ललवानी जी ने भी "तीर्थंकर" के अगस्त अक मे लिखा है, "दो हजार पृष्ठो के इस विशाल ग्रन्थ से बिना इन्डैक्स के कुछ निकाल पाना असम्भव सा है, अतः विद्वत्जन इससे लाभान्वित नही हो पा रहे हैं।" यद्यपि ललवानी जी के इस कथन का आशय वीर सेवा मन्दिर का अपयश करना है, किन्तु सच तो यह है कि आठ वर्ष बीत जाने पर भी इन्डैक्स के प्रकाशित न होने की हानि वीर सेवा मन्दिर ही भोग रहा है, डा० बनर्जी नही। इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे संस्था की एक विशाल धनराशि व्यय हो चुकी है। ग्रंथ के समुचित उपयोग न होने से संस्था द्वारा व्यय की गयी पूर्ण राशि का उत्तरदायित्व डा० बनर्जी का है। इन्डैक्स को पूरा न करना डा० बनर्जी का यह व्यवहार श्रद्धेय छोटेलाल जी के प्रति अन्याय है, अर्थात इसे अमर्यादित व्यवहार की संज्ञा दी जायेगी।

हमें आशा है कि ललवानी जी धोखाधड़ी का खेल छोड़कर डा० बनर्जी से उनका दायित्व पूरा करायेंगे। इससे डा० बनर्जी के सम्मान की रक्षा तो होगी ही, अपितु संस्था का आर्थिक हानि तथा अकारण बदनामी से बचाया जा सकेगा और विद्वत्जन श्रद्धेय छोटेलाल जी के श्रम का लाभ उठा सकेंगे।

यह सूचना देना भी मेरा कर्तव्य है कि सम्बन्धित विषय पर कार्यकारिणी में गहन विचार-विमर्श हुआ है कि डा० बनर्जी इन्डैक्स का कार्य पूरा कर दे तो इन्डैक्स खण्ड मे सम्पादक के रूप मे उन्हीं का नाम जायेगा और जो उचित उजरत वह चाहेंगे, कमेटी उस पर विचार करेगी और वह उजरत उचित सम्मान के साथ उन्हें दी जायेगी।

—सुभाष जैन
महासचिव : वीर सेवा मन्दिर
२१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्त्रियों द्वारा जिनाभिषेक होना निषिद्ध है

□ श्री तेजकुमार गंगवाल

कुछ समय पूर्व दिगम्बर आम्नाय मे भट्टारको का एक छत्र राज्य था। इनमे कुछ उदासीन प्रवृत्ति के धारी थे तो कुछ ऐश्वर्य के लोभी भी रहे। जो ऐश्वर्य के लोभी रहे उन्होने भगवान महावीर से चले आ रहे शुद्ध आम्नाय मे राग की मिलावट कर दी। तथा धर्म के नाम पर स्वच्छद प्रवृत्तियो का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हो गया जैसे पचामृत-अभिषेक, स्त्री पूजन आदि। दक्षिण में ऐश्वर्य के लोभी भट्टारको द्वारा जो धर्म के स्वरूप को विकृत किया तो उनका अन्त भी हो गया किन्तु पचामृत अभिषेक, स्त्री प्रक्षाल, स्त्री पूजन सरीखी विकृतिया आज भी चल रही है जो शुद्धाम्नाय के विपरीत है।

जहा तक उत्तर भारत का प्रश्न है यहा पर इस प्रकार की प्रवृत्तिया नही रही हैं कि स्त्रियो से प्रक्षाल करवाई जावे वे मूर्तियो को स्पर्श करे तथा पंचामृत अभिषेक करे आदि। किन्तु कुछ वर्षों से इस प्रथा को प्रचलित करने तथा बढावा देने मे कतिपय, आचार्य तथा त्यागियो के प्रयत्न प्रधान कारण रहे है। आज भी अगर हम देखे तो जगह-जगह शुद्ध आम्नाय के ही मन्दिर अधिकतर मिलते हे। बुन्देलखण्ड को तो शुद्ध आम्नाय का तीर्थ क्षेत्र कहा जा सकता है।

स्त्रियो मे एक विशेषता पाई जाती है जो भी रूढ़िया अथवा गलत मान्यताएं अंधश्रद्धा से उनके हृदय मे घर कर लेती है फिर उनका भविष्य चाहे जो हो वे उससे हटती नही है परिणाम यह है कि आज हमारे घरों मे कुदेवी देवताओं की पूजन, आराधना करी व करवाई जाती है। (माता पूजना, ठंडा खाना, पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि)।

जब महिलाओ मे यह प्रचारित किया जाने लगा कि मूर्ति का अभिषेक करना धर्म है ऐसा करते रहने से स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होती रहती है तो अन्य गलत परम्पराओ मे एक यह प्रथा भी जुड़ गई और त्यागी वर्ग एव अन्यो द्वारा इसे प्रोत्साहन दिया जाने लगा। आज घर-घरमे मंदिरजी बन गये है प्रतिमाएँ विराजित हो गई है साथमे तो चलती रहती है

जरा विचार तो करो कि १००८ श्री जिनेद्र देव के प्रतिबिम्ब की शोभा, जो वीतरागता को प्रगटता समवशरण समान मन्दिर जी मे होती है क्या अन्य किसी जगह हो सकती है कदापि नही। मन्दिरजी मे. वेदी पर, सिंहासन पर जो शोभा श्री जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा की होती है उसमे विनय होता है, वीतराग छबी दर्शनीय होती है। जीवो को मोक्षमार्ग मे कारण होती है। क्या यही शोभा, विनय, वीतरागता साथ मे रखने से, अलमारी मे बद रखने से काष्ठ चौकी आदि पर जब चाहे विराजित कर दिया चाहे उठा लिया ऐसा होने से होगी? नही, कदापि नही होगी अविनय तो होता ही है साथ मे जिनेन्द्रदेव के अवर्णवाद स, मिथ्यात्व से अनत ससार का बध भी होता है। अरे भाई मूर्ति अरहंत भगवान का साक्षात प्रतिबिम्ब हे। गधोदक को आदर से मात्र अपने मस्तक पर लगाने के बजाय छीटा जाता है, शरीर पर मला जाता है पैरों में आकर गधोदक गिरता है क्या इसी का नाम विनय है। विचार तो करिए स्त्रियो को मुनिराज के स्पर्श करने का स्पष्टतया निषेध है तो प्रतिमा स्पर्श की बात एव अभिषेक करना स्वत: निषिद्ध हो जाता है साथ ही पर पुरुष स्पर्श का प्रसग आता है इससे शील मे दोष लगता है। (क्रमश)

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हे। यह आवश्यक नही कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्राय: नहीं लिए जाते।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैन ग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : सपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयो पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन**, सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

—प्रिन्टेड—

—पत्रिका बुक-पैकिट—